अकालपुरुष गांधी

लेखक

•

जैनेन्द्रकुमार

•

सम्पादक

•

धर्मवीर

प्रकाशक

पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली

आमुख

गांधी जी के उपलक्ष्य में लिखे गए इन कतिपय लेखों के संकलन के समय संपादक मुझसे भी कुछ शब्द चाहते हैं। लेख फैले समय पर बने हैं। उनमें आपस में वर्षों तक का अंतर है। उपलक्ष्य से अधिक गांधी जी इन लेखों में लक्ष्य नहीं बन पाए हैं। उनका इतिवृत्त मुझे अभीष्ट न था। उनका जीवन घटनाओं से भरपूर रहा है और उनका वैविध्य स्तब्ध कर देता है। लेकिन देश-काल की स्थिति की चौहद्दी में रख कर देखने से यद्यपि उनके जीवन का चरित्र अधिक प्रत्यक्ष और सहज हृदयंगम हो पाता है, तो भी वह उन्हें व्यक्ति बना छोड़ता है। अधिकांश संभव यह है कि उस प्रकार विवरण और विगत ही उनकी वस्तुता और आत्मता को ढंक ले और वन वृक्षों में लुप्त हो जाए। मुझे निज को उस कुंजी की खोज रही है जो उनके अनंत वैचित्र्य और रहस्य को मानो आकाश की भांति खुला कर दे।

गांधी जी हमारे स्मरण में अभी सदेह और साकार-युक्त हैं। विस्मरण की कई पर्तों की गर्द उनपर चढ़ जाएगी तब संभव होगा कि धरती के भीतर से हमारी भावना का सिंचन पाकर वह नव-अविस्मरणीय तत्व के रूप में वह अंकुरित हो। इतिहास के गर्भ में पहुंचने पर फिर जो उन

का आविष्करण होगा वह व्यक्तिमत्व से उत्तीर्ण मानो
निमित्त के रूप में होगा। क्योंकि नहीं तब वह सर्वथा
एक जीवन-दर्शन के चिह्न और प्रतीक होंगे। मैं मानना
चाहता हूं कि गांधी का यह निर्वैयक्तिक रूप मानव-
इतिहास के एक नए युगारंभ का बिंदु होगा। चाहिए
कि वहां से एक समग्र और नूतन धर्म का प्रवर्तन होगा।
वहां अध्यात्म और विज्ञान आपस में पृथक तटस्थ न रहेंगे
बल्कि मूल चैतन्य के अधिष्ठान से अभिन्न हो रहेंगे।
इन पृष्ठों में जो प्रयास उसी धर्म की सामासिकता और
द्वैत-मुक्तता को पाने का रहा है। यदि सुधी एवं चिंतक
वर्ग की रुचि के तनिक भी योग्य यह पुस्तक सिद्ध
हो सकी तो मैं अपने को कृतार्थ मानूंगा।

गणतंत्र दिवस
२६ जनवरी, '६८

जैनेन्द्र कुमार

प्रस्तावना

कई वर्ष हुए गांधीजी पर अंग्रेजी में लिखे किसी उपन्यास की समीक्षा में पढ़ा था कि गांधीजी पर सफल उपन्यास लिखने के लिए भारत में टालस्टाय को जन्म लेना होगा, क्योंकि विदेशी के लिए गांधीजी पर सफल उपन्यास लिखना लगभग असंभव है। याद है उसी प्रसंग में मैंने जैनेन्द्र जी से गांधीजी पर उपन्यास लिखने को कहा था। यह भी याद है उनका उत्तर आशानुरूप नहीं था। तभी से मेरे मन में यह इच्छा बनी रही है कि जैनेन्द्रजी गांधीजी सम्बन्धी विचारों का एक सम्पूर्ण संकलन किया जाये।

गांधीजी सत्य के पुजारी थे और सही अर्थ में कर्मयोगी थे। उन्होंने अपने विचारों के लिए कभी मौलिकता का दावा नहीं किया। वे हमेशा यही दोहराते रहे कि उनके विचारों में कोई विशेषता नहीं है। सभी धर्मग्रन्थों में वे विचार पहले रखे हुए हैं। जो उन्होंने किया वह यह कि उन विचारों को जांच-परख कर श्रद्धा और साहसपूर्वक किसी दूसरे की प्रतीक्षा किये बिना अपने जीवन में उतारा है और समाज के प्रश्नों पर उन्हें लागू किया है। एक बार अमरीकी लेखक श्री लुई फिशर सेवाग्राम में गाँधीजी के साथ एक सप्ताह ठहरे थे। उस समय गांधीजी के राष्ट्रव्यापी प्रभाव को देखकर वे चकित हुए बिना न रह सके। उनके लिए यह समझना कठिन था कि जिस व्यक्ति के पास न धन है, न राज्य की सत्ता उनका इतना प्रभाव कैसे हो सकता है। उनके इस अनुपम प्रभाव और नैतिक शक्ति की कुंजी पाने का अनेक लोगों ने प्रयत्न किया है। कारण के बारे में एकमत होना संभव नहीं पर उनके व्यापक प्रभाव को सभी ने स्वीकार किया है।

इसलिए भारत में तो उस समय शायद ही कोई व्यक्ति रहा हो जिसने यथा शक्ति गांधी को समझने का प्रयास न किया हो। गांधीजी पर जो लिखा गया है उसकी तुलना में कम व्यक्तियों पर लिखा गया है। साहित्यकारों ने भी उनके ऊपर लिखा है। पर ऐसे साहित्यकार कम होंगे जिन्होंने गांधीजी के जीवन और विचार को गम्भीरता से लिया हो। परन्तु जैनेन्द्रजी उन चिन्तक साहित्यकारों में हैं जिन्होंने अपनी निजता खोये बिना गांधी विचार को जांचा-परखा है और उसमें पारस्परिक हिंसा-स्पर्धा के कुपरिणामों से संत्रस्त मानवता के लिए समाधान खोजा और पाया है। उन्होंने गांधी विचार को सब पहलुओं से बारीकी

से परखकर अपनी वाणी और लेखनी से जो और जितना दिया है उसकी मिसाल कठिनता से मिलेगी। यहां तक कि वे गांधीवादियों की गिनती में आ गये हैं। पर वादी होना दूर वे अपने को गांधी के अनुयायी कहते भी संकोच करते हैं। उनके विचार की विशेषता यह है कि वे उनके लम्बे मनन-चिन्तन का फल अधिक है और विशाल गांधी-साहित्य के अध्ययन का कम। इस दीर्घ चिन्तन-मनन का फल यह हुआ है कि गांधी विचार में उनकी निष्ठा को यदि धार्मिक स्तर की कहा जाय तो अनुचित न होगा।

गांधीजी के सम्बन्ध में यह कहना असामान्य माना जायगा कि वे सामान्य मानव थे। पर सचाई यही है। उनके विद्यार्थी जीवन को देखें या बौद्धिक क्षमताओं को परखें, उनके विद्या-बल को देखें, वे किसी भी दृष्टि से असामान्य मालूम नहीं होते। जगत में ऐसे महात्माओं की कमी नहीं रही है जो अपने में दैवी या इलहामी शक्ति का दावा करते आये हैं। उनके विश्वासी इसी कारण उनको आलौकिक दर्जा देते रहे हैं। पर गांधीजी ने कभी किसी ऐसी दैवी या ईश्वरी शक्ति का दावा नहीं किया जो उन्हीं में विशेष हो। वे मानते थे जो शक्ति उनमें है वह प्रत्येक मनुष्य में है। हर आदमी उन्हीं के समान, जो काम चाहे, कर सकता है। शर्त एक ही है वह अपनी उस शक्ति को पहचाने और अपने अन्तःकरण की आवाज के अनुसार जीने का दृढ़ निश्चय करे। किसी ने ठीक ही कहा है कि गांधीजी के जीवन का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वे राष्ट्रीय संग्राम के महान नेता थे बल्कि इस बात में है कि वे निरन्तर सत्य की ओर बढ़ते रहे। यह सही है कि ऐहिक जीवन में भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई के वे महान् नेता थे, पर यह भी उतना ही सही है कि उन्होंने हिंसा के मार्ग से राष्ट्रीय आजादी को पाने से साफ इन्कार कर दिया था। स्पष्ट है राष्ट्रवादी से अधिक वे सत्य के पुजारी थे। उनका जीवन सत्य के लिए समर्पित था। जीवन "यज्ञ है और मृत्यु को भी यज्ञ के रूप में माना है। तमाम जीवन ही बलि है। अर्घ्य की भांति वह पवित्र हो और कृतार्थ भाव से उसे होम दिया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति।" जैनेन्द्रजी के इन शब्दों में गांधीजी के जीवन की कुंजी मुझे मालूम होती है।

जगत को गांधीजी की विशेष देन मानी जाती है, सत्याग्रह का हथियार। सभ्यता के आदि काल से मनुष्य अपनी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं के हल के लिए हिंसा-बल का सहारा लेता रहा है। सब कालों और देशों में महान् पुरुषों ने मनुष्य सम्बन्धों में प्रेम के महत्त्व पर बल दिया है। पशुबल से भिन्न आत्मबल की महिमा धर्म ग्रन्थों में गाई गई है। पर गांधी

जी वे पहले सामान्य मानव थे जिन्होंने व्यक्तिगत सम्बन्धों से परे सामाजिक-राजनीतिक प्रश्नों के हल करने में आत्म-बल का प्रयोग किया और यह सिद्ध कर दिया कि आत्म-बल द्वारा सामाजिक-राजनीतिक समस्याएं न केवल सफलता-पूर्वक सुलझाई जा सकती हैं बल्कि इस तरीके से कुल मिलाकर समाज को भी धन-जन की कम हानि उठानी पड़ती है। यहीं नहीं, इस तरीके को अपनाने में संघर्ष काल में भी मानव को पशुस्तर पर उतरने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उल्टे शुद्ध होकर वह मानवता की सीढ़ी पर ऊपर की ओर बढ़ता है।

आज ऐसा लगता है कि भारत गांधी जी की इस देन को भूलता जा रहा है। गांधी जी की अहिंसा का नाम मौके-बेमौके जरूर ले लिया जाता है, परन्तु उस अहिंसा में से वह बल उत्पन्न होता नहीं दीखता जो गांधी की अहिंसा संचार करती थी। गांधी जी की अहिंसा ने राष्ट्र में नई जान डाल दी थी। राष्ट्र को सीधा खड़ा होकर चलना सिखाया था। गांधीजी की अहिंसा अनुपम वीरता का ही दूसरा नाम था। उसने सारे राष्ट्र को निर्भय बना दिया था। पर आज स्थिति बदल गई है। गांधीजी के नाम पर इतनी संस्थाएं चल रही हैं, इतने आन्दोलन चल रहे हैं, पर उसका प्रभाव सामाजिक और राजनितिक न- जैसा मालूम होता है। गांधीजी की अहिंसा एक नई जीवन-पद्धति की द्योतक थी। उसने पारतंत्र्य काल में भी नये मानों का सर्जन किया। प्रत्येक व्यक्ति को उस काल की हवा में नई जिन्दगी मालूम होती थी। आज वह नहीं है। कहीं पर कुछ खराबी, कुछ कमी अवश्य रह गई दीखती है। नहीं तो क्या बात है अहिंसक संस्थाओं और अहिंसक आन्दोलनों के फलस्वरुप व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन शुद्ध से शुद्धतर न होता जाय। जैनेन्द्र जी के विचार में इस में जो चूक हो रही है वह है अहिंसा का सत्य से अलग पड़ जाना। अहिंसा में बल आता है सत्य से। जो अहिंसा व्यक्ति और समाज को उपर उठा कर मुक्त करती है वह है सत्य पर आधारित अहिंसा। गांधीजी के रास्ते, समाज के नव-निर्माण में लगे व्यक्तियों के लिए जैनेन्द्र जी की यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

विज्ञान की प्रगति के फलस्वरूप अणु-शस्त्रों के आविष्कार ने मानव-सभ्यता को विनाश के जिस कगार पर ला खड़ा किया है, वहां यह आवश्यक हो गया है कि मानव-हिंसा और अहिंसा के रूप में सोचे। परन्तु प्रश्न हिंसा और अहिंसा का ही नहीं है। प्रश्न मूलतः मानों का, मूल्यों का है। आज का मानव जीवन, पूर्व हो या पश्चिम, पूंजीवादी ढांचा हो या साम्यवादी, समान रूप से भौतिक मूल्यों पर आधारित है। अर्थ और राजनीतिक सत्ता सारे जीवन को संभाले और

संचालित करते मालूम होते हैं। निष्काम सेवा नाम का कोई मूल्य समाज में नहीं रह गया है। सारा जीवन स्पर्धा पर चल रहा है । ऐसी समाज-व्यवस्था में हो सकता हैं, थोड़े समय के लिए सत्यग्राह के द्वारा विस्फोट रुक जाय, पर यह स्थायी इलाज नहीं है। इसलिए सभ्यता का मूल संकट है मूल्यों का। जब तक आज के भौतिक मूल्यों के स्थान पर मानवी मूल्यों की स्थापना नहीं होती तब तक मानव जाति संकट से पार नहीं हो सकती। जैनेन्द्र जी की दृष्टि में गांधीजी उन्हीं मानवीय मानों के प्रतीक थे। समाज के हर क्षेत्र में जब तक मानवी मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो जाती, आर्थिक ढांचा स्पर्धा और अर्थ के आधार को छोड़ कर मानव-नीति पर प्रतिष्ठित नहीं किया जाता, राजनीति में भी मानव मूल्यों को नहीं अपनाया जाता, तब तक अहिंसा के हक़ में प्रस्ताव पास करने से कोई असर होने वाला नहीं है। आज के संकट का समाधान है मानवीय-मूल्यों की स्थापना।

पर इन मानवी-मूल्यों की स्थापना होगी कैसे ? राजनीतिक क्रांति की राह देखी जाय या गांधी जैसे महापुरुष के अवतरण की बाट जोहें ? अगर ऐसा हुआ तो वह गांधी को समझकर भी न समझना होगा। गांधी की देन की विशेषता ही यह है कि उसे प्रत्येक मनुष्य जहां भी वह है, बिना दूसरे की प्रतीक्षा किये अपने जीवन में उतार सकता है और अपने छोटे आरम्भ द्वारा उस भावी सामाजिक क्रान्ति के बीज बो सकता है जो मानव के इतिहास में अवश्यंभावी है यदि मानव को जीना हैं और अपने जीवन को सफल करना है। जैनेन्द्र जी के इन लेखों को संकलित करने का मेरा मुख्य उद्देश्य यही रहा है। इनसे गांधी जी के महान् सन्देश को समझने और जीवन में उतारने में किसी को कुछ भी प्रेरणा और बल मिला तो मैं अपने तुच्छ प्रयास को सफल समझूंगा।

—धर्मवीर

नई दिल्ली,
२६ जनवरी '६८

अनुक्रम

महात्मा गांधी

●

सन् १९३० में नमक-सत्याग्रह हुआ और उसमें मैं जेल पहुँचा। वहाँ सहसा देखा कि मुझे आस्तिक बनना पड़ रहा है। यानी मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी; पर एकाएक ऐसा घिर आया कि ईश्वर से बचने की राह ही कहीं न रह गई। यह अप्रत्याशित था, पर अनिवार्य भी बन आया। किन्तु ईश्वर-विश्वास पाने के साथ ही सहसा प्रतीत हुआ कि पुनर्जन्म का विश्वास मुझे खो देना होगा। या तो ईश्वर मानो या पुनर्जन्म ही मानो। दोनों साथ नहीं चल सकते। यह देखकर मैं बड़ी उलझन में पड़ा। पुनर्जन्म का विचार भारत की जलवायु में घुला-मिला है। यह तो मेरे बस का न हो सका कि ईश्वर से छुट्टी पा सकूँ, पर पुनर्जन्म को हाथ से जाते देखते भी बड़ा असमञ्जस होता था। जैसे आधार लुटा जाता हो।

जेल में रहते तो और चारा न था। बाहर आने पर मैथिलीशरण जी से परिचय हुआ। वह डा० भगवानदास के पास ले गए। फिर कहा कि गांधी जी को लिखो। यह बात मेरे मन में भी उठती थी, पर मैं फ़ौरन दाब देता था। कह दिया कि नहीं, गांधी जी को नहीं लिखूंगा, कभी नहीं लिखूंगा। यह उन पर जुल्म होगा।

और लोगों से भी बात आई। सभी ने सलाह दी कि गांधी जी को लिखना चाहिए। वह तो मुझसे हो न सकता था, लेकिन पुनर्जन्म को लेकर इन-उन के पास काफी भटक लिया।

इसी समय की बात है कि गांधी जी दिल्ली आये हुए थे। मुझे उस नाम से डर लगता था। जितनी ही उत्कण्ठा होती थी उतनी ही आशंका। संभव न था कि गांधी जी के पास तक जा सकूँ। किसी सभा में उन्हें दूर से देखता तो भी जी होता कि अपना मुँह छिपा कर दूर हो जाऊँ। उन्हीं दिनों शायद गांधीजी से मिलने के लिए दया आयी हुई थी। वह कई बरस साबरमती और वर्धा रह चुकी थी और गांधी जी के निकट थीं। उसी समय अभयदेव जी भी आए। याद नहीं कि वह तब देवशर्मा ही थे कि अभयदेव बन चुके थे।

कांगड़ी-गुरुकुल के आचार्य अवश्य थे ।

वे लोग गांधी जी के पास जाने के लिए उद्यत हुए । मन में मेरे भी था पर मैं मुंह न खोल सकता था । दया ने कहा, "जीजा जी, चलिए न, आप भी चलिए !"

"मैं ?"

"हाँ, हाँ, चलिए ।"

मैं गहरे असमञ्जस में पड़ा । साहस जवाब दे रहा था, पर उत्सुकता तीखी थी । अभयदेव जी ने भी कहा, "हाँ, आओ, चलो ।" अभय पाकर मैं साथ हो लिया ।

बिरला हाउस में पीछे की तरफ बरामदे में गांधी जी बैठे थे । उन्होंने कहा, "महादेव, यह दया है । इसे वह खत ला के दे दो जो भेजने वाले थे ।"

महादेव भाई ने बबूल के एक काँटे से टके तीन-चार कागज़ लाकर दया के हाथ में दे दिये और दया उनको पढ़ गई । गांधी जी ने पूछा, "पढ़ लिया ? सब बातों का जवाब आ गया न ?"

"जी हाँ ।"

"सबका ?"

"जी—"

गांधी जी ने दृष्टि हटाई । पर सहसा दया ने कहा, "एक बात रह गई, बापू ।—पुनर्जन्म ?"

चेहरे की खिलावट लुप्त हो गई । गम्भीरता आ गई । दृष्टि में जैसे स्नेह नहीं, ताड़ना हो । बोले, "पुनर्जन्म यह प्रश्न नहीं, धृष्टता है !"

दया घबरा आई । मैं पीछे की तरफ एक ओर नगण्य बना बैठा था, लेकिन मुझे काटो तो खून नहीं ।

" तुम कन्या हो । मैं पुरुष हूँ । और हम दोनों में कोई व्याघ्र नहीं है, सो क्यों ? इसलिए पुनर्जन्म है ।"

पर जैसे ये शब्द दया ने पूरी तरह भीतर नहीं लिए । आर्त्त बनी-सी बोली, "मैं नहीं, बापू ये जीजा जी—।"

गांधी जी की आँखें मेरी ओर उठीं । मैंने उस क्षण गड़ रहना चाहा ।

सिटपिटाया-सा बोला, "मैं मुझे नहीं मालूम था । मैंने नहीं कहा । इसने—दया ने यों ही लिख दिया । मैं कभी लिखने वाला नहीं था । लेकिन अब बैठे ठाले की उत्सुकता यह नहीं है, बापू । लगता है मैं रुक गया हूँ, सब अटक गया है । दिमाग काम ही नहीं करता । यह उलझन जैसे मेरे साथ

मूल की बन गई है। यह कटे तब कुछ आगे बने। लेकिन दया बड़ी ख़राब है। इसने आपको नाहक लिख दिया...."

गांधी जी बोले, "अच्छा, जो मैंने कहा कैसा लगता है ?"

मैंने कहा, "उससे सन्तोष तो नहीं होता।"

बोले, "जो कहूँगा उसका क्या करोगे ?"

सँभलकर कहा, "श्रद्धा से लूँगा, फिर यत्न करूँगा बुद्धि-विवेक से भी अपना सकूँ।"

"ओह," मानो कुछ चैन मानते हुए बोले, "तब तो खुलासा पत्र में लिखना।"

"इस धृष्टता को आप क्षमा कर सकेंगे ?"

"हाँ, सो क्षमा तो मुझे माँग लेनी चाहिए। क्योंकि हो सकता है कि जवाब आने में कुछ देर भी हो जाय।"

यह गांधी जी से पहली मुलाकात थी। उसकी छाप धोए धुलती नहीं। वह स्निग्ध लगे, पर कठिन। उनकी जिरह झेलना कितना दुर्वह था।

घर आकर दया को आड़े हाथों लिया। कहा कि तू बड़ी वैसी है री।

बोली कि लो, अब खत लिखा दो।

मैंने कहा कि हट ! इस बेकार-सी बात के लिए मैं गांधी जी को खत लिखने बैठूँगा।

बोली कि लिखाओ भी। बात इतनी आगे बढ़ गई है तो क्या अब वापस मुड़ोगे ?

मेरा लिखना हमेशा करीब ऐसी हालतों में हुआ है। खत लिख गया और चला गया। फिर एक अरसा गुज़र गया और जवाब उसका नहीं आया। चलो, छुट्टी हुई।

: २ :

उसके बाद तब की बात है जब गांधी जी ने समग्र ग्राम-सेवा का विचार दिया। रचनात्मक काम कई तरह के थे और उनमें आपस में फ़ासला भी समझ लिया जाता था। संगठन तो उनके अलग-अलग थे ही, पर जैसे वे काम भी इतने अलग थे कि कोई एक भावना और एक प्रयोजन उन्हें थामे न रखता हो। तब समग्र-सेवा पर उन्होंने बल दिया और संगठनों को विकेन्द्रित करना चाहा।

वह विचार मुझे पसन्द आया। इच्छा हुई कि क्यों न मैं उसमें अपने को झोंक दूँ। पर तब कुछ शंकाएँ थीं और मैंने गांधी जी को पत्र लिखा। यह पत्र सीधा-सादा कामकाजी था। पुनर्जन्म की या पहली मुलाकात की हवा

भी उसे न छू गई थी । उत्तर आया कि अमुक तारीख को पहुँच रहा हूँ। हरिजन-बस्ती में मिलना ।

गांधी जी आये तो कब उन्हें भीड़ से छुट्टी थी । सब तरह के खास-खास लोग उन्हें घेरे थे और व्यूह तोड़ा न जा सकता था । फिर मेरे-जैसा पस्त-हिम्मत आदमी । मैंने एक-दो गण्यमान्य की सहायता चाही । पर उद्धार कोई क्या कर सकता था ? आत्म से ही आत्म का उद्धार होना लिखा है । करीब घण्टा-भर किनारे भटकते हो गया तो हताश गांधी जी के पास सीधे पहुँच कर कहा, "बापू मैं भी हूँ यहाँ, जैनेन्द्र ।"

बहुतों के बीच में घिरे बैठे बापू ने निगाह ऊपर की । नीली-सी वे आँखें। हँस कर बोले, "अरे, तो यों कहो कि दया के जीजा जी । पर आज क्या है, सोम । बात परसों बुद्ध को होगी, दो बजे । होगा न सुभीता ?"

मैंने कहा, "जी ।"

"और सब राजी ?"

"जी ।"

देखा, उनकी निगाह, निवृत्ति पाकर, फिर नीचे यथावत् हो गई और वह प्रस्तुत दूसरी व्यस्तताओं में दत्तचित हो गए । मुश्किल से डेढ़ मिनट लगा होगा, पर इससे गांधी जी के काम में विघ्न नहीं आया, व्यवधान नहीं पड़ा, जबकि मेरा प्राप्य मुझे पूरा मिल गया । लौटा तो चित में प्रसन्नता थी । इस एक मिनट की स्वीकृति में मैंने पाया कि मैं समूचा स्वीकृत हो चुका हूँ ।

कहा है, कर्म का कौशल योग है । विना योग के ऐसा कर्म-कौशल सध नहीं सकता । इन्द्रियाँ पूरी जगी चाहियें, पर उतनी ही वशीभूत । व्यक्ति को हर-क्षण ऐसा होना चाहिये कि वह एक में हो, तो और सब में भी हो । एकाग्र पर सर्वोन्मुख !

गांधी जी को मन में साथ लिये-लिये घर आया । विलक्षण अनुभव था । पहला साक्षात्कार अत्यन्त साधारण था, और अत्यन्त अल्प, फिर उस पर से बरस के बरस बह गये थे । पर देखा कि गांधी जी के साथ कुछ बुझता नहीं है, बुसता नहीं है, प्रस्तुत और ताजा बना रहता है । यों क्षण अमिट बनता है । क्या यही साधना है जिससे पुरुष काल-पुरुष बन आता, व्यक्ति विराट होता और एक अखिल हो जाता है ?

जान पड़ा जैसे वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक के बीच सीमा का लोप हो गया है । निश्चय है कि मुझ से निगाह हटते ही मैं उनके लिये न रह गया था, पर निगाह में जब तक था तब तक मानो मैं ही सब कुछ था और उनके

निजता मुझसे अलग न थी ।

बुधवार को दो बजे पहुँचा और बातचीत हुई । बातचीत में मैंने अपने मन की शंका रखी । कहा कि सेवा तो ठीक, पर किस बल पर वह सेवा हो ? रहता यहाँ हूँ, जीविका मेरी चली आए एक पाँच सौ मील दूर से आने वाले मनीआर्डर के रूप में, तो क्या यह सहज होगा कि जहाँ हूँ वहाँ लोगों से मेरा हितैक्य और आत्मैक्य बन जाय ? गाँव का सेवक उद्धारक हो तो कैसे चलेगा ? उसे क्या जीविका के लिए भी वहीं निर्भर नहीं करना चाहिये ?

गांधी सुनते रहे, सुनते रहे, बोले, "क्या चाहते हो ?"

कहा, "गाँव में बैठूँ तो यह चाहता हूँ कि उनके दुःख-सुख का भागी बनूँ, उस कक्षा का होकर । कोई बाहर से आई अर्थवृत्ति मेरा पोषण न करे ।"

प्रसन्न दीखे, बोले, "यह उत्तम है ।"

दूसरी शंका यह थी कि राजकारण को जीवन से अलग रखने का वचन कैसे दिया जा सकता है ? उस समय समग्र-सेवकों से गांधी जी यही चाहते थे। मैंने कहा कि राजनीति ओढ़ी हुई हो तो उतार भी दी जा सकती है. पर विश्वासों और विचारों की अभिव्यक्ति वह हो तो उसे अलग रखना कैसे बनेगा ?

गांधी जी ने जैसे कुतूहल से देखा और कहा, "ठीक है ।"

बात पाँच-सात मिनट में खत्म हो गई । देखा कि बोलता मैं ही रहा हूँ, उनकी ओर से एक-आध वाक्य ही आया है । मुझे यह न जाने कैसा लगा । सोचता था कि मुझे खींचा जायगा । स्पष्ट था कि वह ग्राम-सेवकों की एक बड़ी संख्या चाहते थे, उनकी भर्ती भी हो रही थी । मैं एक खासा उम्मीदवार समझा जा सकता था, पर मुझे भर्ती में लेने की तनिक आतुरता उधर से नहीं आई, प्रतीत हुआ कि मेरा अपना ही समर्थन आया है । इस प्रकार कुछ ही देर में मैंने अपने को वहाँ समाप्त और अनावश्यक अनुभव किया । लेकिन भीतर से अपने को समर्थित और प्रसन्न पाया ।

मैं इस भेंट से वापस आते हुए सोचता रह गया कि यह क्या हुआ, क्या परिणाम आया । काम-काज की भाषा में फल निष्फल था । पर भीतर देखा कि बात ऐसी नहीं थी । मैं प्रभावित था और प्रसन्न, जैसे भीतर कुछ फैल रहा हो, मैं प्रशस्त हो आ रहा हूँ ।

चलते वक्त गांधी जी ने दया की बात की थी और दया की वहिन की. और भी इसी तरह की निष्प्रयोजन कुछ बात हो गई थी । उसने मुझको मानो हल्का और भरपूर बना दिया था ।

यह भेंट प्राप्ति के अर्थ में शून्य रही । आशा थी कि मैं सेवकों की

श्रेणी में आ जाऊँगा, वह कुछ न हुआ। गांधी जी ने अपनी ओर से उसकी कोई चेष्टा नहीं की। गांधी जी की यह विशेषता गांधी जी की अपनी ही थी। वह अनुयायी नहीं चाहते थे, न दल चाहते थे। सबको स्वयं रहने देने में मदद देना चाहते थे कि बस भीतर से हरेक को बढ़ावा पहुँच जाय। शायद व्यक्तित्व के निर्माण की यही कला है और यह उन्हें सिद्ध थी। पर यह आसान नहीं है। इसमें अपने को अपने से छोड़कर रहना होता है। अपने को होम सके, वह ही इसे साध सकता है।

उनके प्रभाव का तब जैसे मूल हाथ आया। जैसे वह किसी को शर्त के साथ नहीं लेते, बे-शर्त ज्यों-का-त्यों लेने को तत्पर हैं। जो हो उसी रूप में तुम्हारा वहाँ सत्कार और स्वागत है। यह नितान्त, निस्पृह, निस्स्व, अपरिग्रह अ-सम्प्रदाय वृत्ति उनकी शक्ति थी।

मैंने पूछा था कि मेरा मन और मत देखते क्या उनकी सलाह है कि मैं बाक़ायदा सेवकों की श्रेणी में आऊँ ?

उनकी सलाह नहीं थी, पर चाहते थे कि मैं अपने साथ समय लूँ और स्वयं निर्णय पर पहुँचूँ। इससे तीसरी भेंट भी हुई। सोच-समझकर मैंने कह दिया कि मैं बेकार हूँ।

हँसकर बापू ने कहा कि तुम इसमें अनेकों के साथ हो।

इसी भेंट में मैंने याद दिलाई कि बापू, पुनर्जन्म के संबंध की शंका वाले मेरे पत्र का उत्तर मुझे नहीं मिला।

"नहीं मिला ?"

"नहीं।"

"कितना बड़ा पत्र था ?"

"आठ-दस पृष्ठ रहे होंगे।"

"ओह, तब तो हो सकता है। हो सकता है रोक लिया हो। मेरे पास दयालु लोग हैं न ?" कहकर हँसे।

मैं किंचित् निरुत्साह मानूँ कि बोले, "कापी है ?"

मैंने कहा, "है।"

"तो ऐसा करना कि फिर लिख कर भेज देना। अब उत्तर मिलेगा।"

"वक्त आप पा सकेंगे ?"

"वही तो सवाल है। पर पाना होगा, भई" कहकर फिर ठठाकर हँसे।

यहीं गांधी अविजेय हैं। काटते हैं, पर भर भी देते हैं। समझ नहीं

आता कि ऐसे आदमी के साथ क्या किया जाये। मालूम होता है उसकी राह रुक नहीं सकती। मानो वह हम सब में से अपनी राह बना ले सकता है। सब उसके अपने हैं। अवरोध भी जैसे उसके लिए सहायता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने कापी से नकल करके पत्र उन्हें भेजा और अगस्थे समय लगा पर उसका उत्तर आया। फिर लिखा, फिर और भी लिखा और तीसरा भी उत्तर आया। उसके बाद लिखने को शंका शेष न रही, आवश्यकता ही जैसे नि:शेष हो गई।

यह अनुभव भी अजब है। आज भी नहीं कह सकता हूँ कि सन् १९३० की मन की स्थिति भीतर से लुप्त हो गई है। जन्मान्तर के सम्बन्ध में मन की लगभग वही स्थिति है, सिर्फ इतना हुआ है कि वह अब कुतरती नहीं है। गांधी जी के उत्तरों की यही खूबी है। मानो वे शान्ति देते हैं, खण्डन नहीं करते, प्रतिपादन नहीं करते, श्रद्धा में हठात् हो पड़े छिद्र को बस मूँद भर देते हैं। संकल्प ही आदमी का बल है, वह बल संशय या शंका की राह से बूँद-बूँद आदमी में से रिसता रहता है। ऐसे व्यक्ति असमर्थ रह जाता है और किसी ओर गति नहीं कर पाता। प्रश्न में तो जिज्ञासा है, अभीप्सा है। उससे आदमी बढ़ता और ऊपर को उठता है। किन्तु वही जब संशय बन जाय तो वह खाने लगता है। गांधी जी के साथ का मुझे यही अनुभव है कि उनकी बात जब कि प्रश्न को मन्द नहीं करती थी तब शंका को अवश्य बन्द कर देती थी। इस प्रकार व्यक्ति उनके उत्तर को लेकर अपने में अधिक संयुक्त और संकल्प में दृढ़ ही बनता था। मतवादी के पास यह गुण नहीं हो पाता, न विचारवान् के पास। यह विशेषता चित् पुरुष के पास ही हो सकती है, जो मत और विचार की ओर से अपरिग्रही है; बस, अनुभूतिशील चैतन्य उसमें प्रवाहित है। ऐसे लोग भारी नहीं होते, दुरूह और दुर्गम भी नहीं लगते। वे उद्यत, प्रस्तुत, प्रसन्न और सदा ताज़ा दीखते हैं।

: ३ :

मैंने कहा, "बापू, एक अनुमति चाहता हूँ।"

बापू ने ऊपर आँख उठाई और मुझे देखा।

"यह चाहता हूँ कि आपके इस कमरे में दो रोज़ मेरे लिए रोक-टोक न हो। कुछ मुझे बात करना नहीं है। सिर्फ रहना और देखना चाहता हूँ। आपका कुछ हरज होता देखूंगा—कोई प्राइवेट बातचीत—"

"प्राइवेट मेरे पास नहीं है। सब खुला है"—कहकर वह हँसे। "यह प्राइवेट मानो कि बाथरूम जाता हूँ। हाँ, लोग कुछ अपने साथ बातचीत को

प्राइवेट मानना चाहते हों तो बात दूसरी, और वह तुम समझ ही लोगे।"

इस तरह दो रोज़ बेखटके मैं उनके कमरे में रहा किया और आया-जाया किया। देखा कि उनका हर क्षण एक अनुभव था, ज्वलंत और जाग्रत! मानो सोते भी सोते न हों, भीतर जगे ही रहते हों। ऐसा नहीं लगता था, जैसे कुछ कर्तव्य-निष्ठों के साथ होता है, कि वे अतिरिक्त कसे हों, दमित और मानो चौकसी पर। तपस्वी का रूप मुझे उनमें नहीं दीखा। या होगा तो भोगी से मिला होगा। अर्थात् हर-क्षण मैंने उन्हें हार्दिक पाया। काम और आराम—ऐसे दो खाने नहीं दीखे। कर्तव्य कर्म मानो उन्हें सहज कर्म भी हो। यह स्थिति अत्यन्त विरल है। पर गांधी जी का शरीर-यन्त्र जैसे इतना सधा था कि क्या संगीत होगा। चारों ओर की परिस्थिति चाहने के साथ मानो उन्हें शून्य हो जाती थी। चाहने पर कोई उपस्थिति, यहाँ तक कि भीड़ भी, उन्हें उनकी एकाग्रता से च्युत नहीं कर सकती थी। जैसे वे लिखते हों, और अयाचित कितने भी आदमी पास आ बैठें तो वे लोग अनुभव किये बिना न रहेंगे कि वहाँ वे नहीं हैं।

आईं एक महिला। भारत के लिए नई मालूम होती थीं। मालूम हुआ—प्रतीक्षा करती रही हैं। आईं तो जैसे प्रीति, प्रसन्नता और भीति से काँप रही थीं। गांधीजी ने कहा, "आओ, आओ! इतनी गुलाबी क्यों हुई जा रही हो! सब ठीक? खत मिला था?"

महिला से सहज उत्तर न बन रहा था। वह इतनी विह्वल और आवेग में थीं। जैसे-तैसे जताया कि पत्र तो नहीं मिला।

जैसे दुर्घट घटा हो। गांधीजी बोले, "लेकिन वह तो प्रेम-पत्र था! यह न समझना, मैं बुड्ढा हूँ!"

महिला का बदन आरक्त हो रहा। उन्होंने कुछ शब्द कहे। शब्द वे क्या थे शुद्ध आह्लाद का संकोच था।

"सच वह मेरे प्रेम की पत्री थी। लम्बी कई सफे की ·· लो अब हिन्दुस्तान में हो। तो यहाँ सेवा करोगी—"

"मैं यहाँ की भाषा तो नहीं जानती।"

"यह तो अच्छा है। मुँह आप ही बन्द रहेगा। जैसे सफाई में लगी हो। किसी ने तुमसे बात की। तुमने ऐसे दो उँगली मुंह के आगे रख लीं और हाथ हिला दिया। वह समझेगा गूंगी है और तुम्हें इससे लाभ होगा। तुम झाड़ू दिये जाओगी।"

कहने के साथ गांधीजी ने मुँह पर अपनी उँगलियाँ रख ली थीं और हाथ

हिला दिए थे और बात का अन्त आने तक खिलखिला कर हँस पड़े थे ।

देख सका कि महिला को यह स्वागत बड़ा ही अनोखा लगा, पर उतना ही रुचिकर भी । वह इतनी गद्गद थीं कि जैसे वह भाव सारे गात पर छलका आता हो ।

सहसा गम्भीर होकर बोले, "हम अन्तिम होंगे··· वहाँ पहले पिछले हो जायँगे और पिछले पहले·· तुम्हारी इंजील ही है न ! यह न समझ लेना, मैं उसका पंडित हूँ । बस, सरमन आफ दि माउण्ट तक ही जानता हूँ · तो अब भारत रहोगी और वह तुम्हारा देश होगा । हम दरिद्र हैं, पर दरिद्र में नारायण बसते हैं ।"

बीच-बीच में महिला ने कुछ-कुछ कहा । शब्द वाक्य में सही संयुक्त न हो पाते थे । वह इतनी विभोर थीं ।

"तो मेरा प्रेम व्यर्थ नहीं जायगा । हम दोनों मसीह ईसा की राह पर चलेंगे···।"

महिला अपनी नीली-भूरी आँखों से गांधीजी को देखा कीं ।

"तो हुआ ·· अब वह कोना है । बैठो तो एकदम चुप बैठी रहना, बाकी कल ।"

गांधीजी ने कहने के साथ उँगली उठाकर कोना बता दिया और एकसाथ फिर अपने कागजों में डूब रहे ।

क्षण में महिला स्तब्ध हो रहीं । जैसे अनहुई हो आईं । उठीं और बताए कोने में चुप-चुपानी जा बैठीं । बैठी रह-रहकर देखती रहीं इस गांधी को जो प्रेमी बनता है और उसी से शासन करता है ।

इन दो दिनों के अनेक सम्पर्कों में देख सका कि स्नेह उनमें लबालब है पर छलकता नहीं, बहता नहीं । वह स्निग्ध हैं निस्सन्देह, पर कठोर भी कम नहीं । वह अतिशय दारुण, अतिशय निर्मम भी हैं ।

आई साग-भाजी की डलिया । उसी सवेरे की ताजा साग-भाजी अमुक फार्म से आई थी । मीरा बहन ने पास लाकर रखी और गांधीजी के माथे पर तेवर आए । मीरा सकपकाईं ।

"यह क्या है ?"

"देखकर बता दीजिए । और— क्या बनेगा ?"

"सब मुझसे पूछा जायगा ?" गांधी जी ने ऐसे कहा जैसे सर्वथा अन्तिम हो, "सीखा न जायगा ? वक्त फालतू है मेरे पास ?"

कहकर टोकरी को पास खींचा । पालक का पत्ता बीच से मोड़ा, जो

हल्की-सी चटख देकर टूट आया । दूसरा दूसरे किनारे से लिया और उसी तरह मोड़कर देखा । कहा, "ऐसे जो टूट जायँ, ठीक हैं । मुड़ जायँ, वे रहने देना । इतना तुम्हें जानना चाहिए । सब्जी के साथ यही पहिचान है और यों ही मेरे पास न आ धमका करो ।"

मीरा बहन को ज़रा अवसर न मिला । वह पसीने-पसीने हो गईं । सफ़ाई दी नहीं जा सकती थी क्योंकि ली नहीं जा सकती थी ।

यह निर्मम व्यवहार हाकिमाना न था, पर उससे भी ऊँची हकूमत उसमें थी । यह उन दो व्यक्तियों के बीच न था जिनमें अन्तर सामाजिक अथवा इतर श्रेणियों के कारण है । कोई निर्वैयक्तिक विवशता उसमें न थी और मानो दोनों ओर से वह व्यवहार पूरी व्यक्तिगत स्वेच्छा से था, सम्पूर्णतः प्रेम का था । इसी से सर्वथा अनुल्लंघनीय था और हर प्रकार के बन्धन से मुक्त ।

: ४ :

कहा गया कि डॉक्टर तैयार है । जब आपको सुविधा हो । गाँधी जी तकिए से सीधे हुए । बोले, "सुविधा—अभी है ।"

डॉक्टर के यहाँ आते ही गांधी जी कुर्सी पर बैठ गए और डाक्टर तैयारी में लगा । तभी मुझसे एक बन्धु ने आकर कान में कहा, "ऐसा न हो, जैनेन्द्र, दाँत डाक्टर के पास ही रह जाय ।"

मुझे दिलचस्पी हुई । कहा, "डाक्टर उसे रखना तो चाह सकते हैं ।"

मित्र फुसाफुसाकर बोले, "यही तो, लेकिन दाँत उनके पास जाना नहीं चाहिए ।"

बात में मेरा रस बढ़ा । मैंने उन्हें निश्चिन्त किया और स्वयं सावधान रहा ।

बुढ़ापे के दाँत । क्या विशेष समय लगना या कष्ट होना था । दाँत खिंचकर आया कि मैं बढ़ा । कहा, "लाइए, धो दूँ ।"

सहज भाव से गांधी जी का वह दाँत मेरे हाथ आ गया । मैंने उसे धोया-पोंछा, रूई में लपेटा और छोटे लिफ़ाफे में एतिहात से डाल जेब में रख लिया ।

चौबीस घंटे तक तो धड़कते दिल के ऊपर वाली कुर्ते की जेब में वह पड़ा रहा । अनन्तर प्रातःकाल आए एक माननीय बन्धु, पूछने लगे, "वह—दाँत क्या आप के पास है ?"

कहा, "जी, सर्वथा सुरक्षित है । भय की बात नहीं है ।" उनके आशय को मैंने समझकर भी नहीं समझा । उन्हें भी ज्यादे उघाड़कर कहने का शायद

उपायँ न सूझा।

वह दाँत फिर तो मालूम हुआ अच्छों-अच्छों की महत्त्वाकांक्षा का विषय बन गया। यह भी ज्ञात हुआ कि नैपथ्य में प्रस्ताव हुआ है कि जैनेन्द्र अनधिकारी है और दाँत ऐतिहासिक है। उस वस्तु की ऐतिहासिकता और अपनी अनधिकारिता से मैं अवगत था। इससे अन्दर निर्बल और अविश्वस्त था, फिर भी सोया बना रहा। मानो बहरा हूँ, कहीं कुछ सुन नहीं पाता।

फिर बन्धु मिले और अदल-बदल कर मिले और हर बार मैंने आश्वासन दिया कि वस्तु अतीव सुरक्षित है। बन्धु निरुपाय लौट जाते और मैं अबोध बना रहता।

पर बात छोटी भी गहन हो सकती है। वही हो रहा था। ऊँचे-से-ऊँचे क्षेत्र विचलित हो गए थे। इन्द्रासन तक डोल गया।

एक रोज़ बातों-बातों में अकस्मात गांधी जी पूछ बैठे, "जैनेन्द्र, वह दाँत तुम्हारे पास है?"

बचाव-सा करते हुए मैंने कहा, "जी है तो।"

"अभी है?"

"जी—आप क्या कीजिएगा?"

"क्या करूँगा? वापस मुँह में तो लगा नहीं पाऊँगा।"

साहस बाँधकर कहा, "तो फिर रहने ही न दीजिए। जैसा कहीं और वैसा मेरे पास।"

बोले, "आखिर, भई, है तो वह मेरा न? हो तो अभी दे दो!"

देखा, सामने का व्यक्ति कोरा महात्मा नहीं है, गहरा वकील है। तिस पर और भी जाने क्या नहीं है। एकदम अनुल्लंघनीय ही है। चुपचाप पुड़िया को जेब से बाहर किया और गांधी जी के आगे कर दिया।

गांधी ऐतिहासिक थे। दाँत ऐतिहासिक होता। साँची-स्तूप में बुद्ध का दाँत ही है न। उसी की हज़ारों वर्षों बाद ऐसे महामहिम समारोह से प्रतिष्ठा हुई कि जग उसमें शामिल हुआ। पर गांधी को शायद इतिहास से लेना-देना न था। या इतिहास को वह मुक्त चाहते थे, कोई टेकन उसे न देना चाहते थे कि उसका सहारा लेकर वह लंगड़ा बना रहे।

उन्होंने अपने एक अत्यन्त विश्वस्त को दाँत दिया। कहा, "देखो किसी गहरे कुएँ में इसे डाल आओ।"

उस व्यक्ति ने कर्तव्य पूरा किया होगा और वह निश्चित हुआ होगा

लेकिन मानो गांधी जी कई दिन तक निश्चिन्त न थे। तीन-चार रोज़ के बाद उस व्यक्ति से पूछ बैठे, "दाँत वह कुएँ में फेंक दिया था न ?"

"हाँ।"

"गहरे कुएँ में ?"

"हाँ।"

"ठीक याद है ? फेंक दिया था ?"

व्यक्ति ने 'हाँ' कहा और गाँधी जी ने गहरी साँस ली। मानो उन्हें जगत् की ओर से ढारस न हो। मानो वह अपनी ओर से सब हल्की सम्भावनाओं को समाप्त कर देना चाहते हों। दुनिया की मोह और आसक्ति की पकड़ के लिए वह कुछ छूटने न देना चाहते हों पर जगत् की नाना आसक्तियों की विवशता भी देखते हों और हठात् अनुकम्पा से भीग आते हों।

उनकी दृष्टि जितनी सूक्ष्म थी उतनी ही निर्मम। मैल का कहीं छींटा भी वह नहीं सह सकते थे। मैल था उन्हें सिर्फ असत्य, अन्यथा घोर-से-घोर अपराध के प्रति वह सदय और सहृदय थे। इस सहृदयता और निर्ममता का योग कैसे सध सकता है ? यह जानना मानो गांधी जी को जानने से सम्भव हो सकता है।

इन्हीं दिनों की बात है। मैं फिर हरिजन-बस्ती नहीं गया। दिन बीतते गये और अखबारों से मालूम हुआ कि अगले दिन गांधी जी जाने वाले हैं। उसी दोपहर एक पत्र मिला, जिसको पाकर मैं चकित रह गया। गांधी जी का मुझे यह पहला पत्र था और किसी उत्तर में न था। पढ़कर मैं सन्न रह गया। कोई पुस्तक मैंने उन्हें न दी थी। उतनी सूझ-बूझ ही मुझ में न थी और न साहस था। ज़ोर डालकर याद किया कि किसी कार्यकर्त्ता ने 'बा हिन्दी सीखना चाहती और उसके लिए किताब चाहती हैं' कहकर तभी छपी एक पुस्तक की प्रति ली थी। बा के हाथ में देखकर शायद बापू ने उसे कुछ उलट-पलट कर देख लिया होगा कि झट यह खत लिख डाला। मैं आज भी सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। यह इतना लम्बा-चौड़ा देश भारतवर्ष कैसे उस व्यक्ति पर रीझा रहा; उसके इशारे में यातनाओं पर यातनाएँ उठाता गया फिर भी उत्सर्ग की हौंस से भरा रहा मानो इसका भेद उसमें छिपा था। यह दुनिया, जिसे घृणा करने से शायद ही कोई बच पाता है, मानो उनके निकट वल्लभा ही थी। और वे ऐसे प्रेमी थे जो उस तिरस्कृता और तिरस्करणीया का प्रेम जीतने के लिए जी-जान की बाजी लगाए बैठे थे। मानो उसका वरण उनका लक्ष्य हो, वह उनकी परीक्षा हो। उनकी अनासक्ति मानो

उन्हें दुनिया को रिझाने की नई-नई कलाओं की सूझ देती रहती थी। दिन के आठों पहर जगे रहने वाले वह प्रेमी थे। एक क्षण भी प्रेम-योग में उनकी आँख न झपकती। क्या इसी का प्रतिफल न था कि उन विरक्त जैसा लोक-संग्राहक नेता इतिहास में दूसरा नहीं मिल सकता। डोरे डालना कहते हैं न—मानो सारे संसार पर वह अपने डोरे डालते रहते थे। और कौन भलामानस बचा जो उस डोर में विवश खिचा न चला आया। पुस्तक तो साधारण थी पर स्नेह और आशीर्वाद उनमें किनारों से भी ऊपर तक भरा था और सब ओर बिना बरसे न रह सकता था। उनके उत्साह और असीस के दान से ही न उभर कर भारत ने असम्भव को सम्भव कर दिखाया? क्या यह उनकी अमित प्रीति और अमित श्रद्धा का ही फल न था?

फिर गांधी चले गये और अरसा हो गया। मुझे अपने पर शरम थी। कारण, उन्हें आशा दिलायी थी कि मैं गाँव में बैठूंगा और सेवा अपनाऊँगा। पर वैसा कुछ हो न सका था। और जानता था कि गांधी जी का सामना अब कभी मुझसे न होगा।

: ५ :

लेकिन प्रेमचन्द जी का देहान्त हुआ और श्रद्धा विभोर कुछ बन्धुओं की अर्घ्याञ्जलि-रूप कुछ धन-राशि चली आई। अतः आवश्यक हुआ कि प्रेमचन्द-स्मारक की बात सोची जाय। उस सम्बन्ध से काशी में फिर उन्हें अपना मुँह दिखाना हुआ। उसके बाद फैजपुर-कांग्रेस में उनकी घोर व्यस्तताओं के बीच योजना-संकट उनके समक्ष रखा। तय हुआ, अमुक तिथि को वर्धा में सविस्तार बातें हों। वर्धा पहुँचने पर मिले जमनालाल जी। बोले—"बम्बई का तुम्हारा पता ही न मालूम था। गांधी जी बड़े चिन्तित थे। कल ही उन्हें पूना जाना पड़ा है। कह गए हैं कि तुम जरूरी समझो तो पूना आ जाओ। देखते ही हो, मजबूरी में उन्हें जाना पड़ा है।"

मैं पूना चल पड़ा। स्टेशन आ रहा था और मैं सोच रहा था कि कहाँ कैसे जाना होगा। स्टेशन आ ही गया और मैं प्लेटफार्म पर उतरा। सिकण्ड-भर न हुआ होगा कि एक भाई ने आकर नमस्कार किया। कहा, 'आप जैनेन्द्र जी हैं न? आइए!'

मैंने असमन्जस में कहा, "आप मुझे जानते हैं?"

"मैं कनु हूँ। बापू ने सब बता दिया था।"

मुझे कुतूहल हुआ। पूछ कर मालूम किया कि गांधी जी ने पहनावा और हुलिया का पूरा बखान देकर कनु भाई को भेजा था। अब भी सोचता

हूँ, क्या उन्हें इतनी फुरसत थी ? क्यों वह इतने हृदयहीन थे कि इन-जैसी बातों के लिए भी फुरसत निकाल लेते थे ? उनकी सहृदयता मुझ-जैसे तुच्छ जनों पर कितनी भारी होकर पड़ती होगी, क्या इसका उन्हें अनुमान हो सकता था ? पर अनुमान हो सकता था, होता था। तभी वह उस अपनी निर्मम अहिंसा को अपनाए हुए थे, जिससे भारी कोई हिंसा भी नहीं हो सकती। फिर उससे सख्त-से-सख्त आदमी गले बिना कैसे रह पाता।

उस समय फिर मेरे मन में अंग्रेजी साप्ताहिक निकालने की वासना जगी थी। वासना ही कहता हूँ, क्योंकि भावना होती तो सहज न बुझती, न उससे विरत हो सका जाता। एक बार इससे पहले भी ऐसा सोच चुका था और गांधीजी के सामने उस विचार को रखने की भूल कर चुका था। उन्होंने निरुत्साहित किया था। इस बार भी गांधीजी ने कहा

"अंग्रेजी क्यों, हिन्दी क्यों नहीं ?"

मैंने कहा, "अंग्रेजी में बात उन तक पहुँचती है जहाँ उसे पहुँचना चाहिए।"

"इसीलिए तो कहता हूँ, अंग्रेजी में नहीं, जरूरी समझो तो हिन्दी में निकालो। जिन तक पहुंचनी चाहिए वह तो हिन्दी में ही पहुँचेगी। अंग्रेजी वालों को जरूरत होगी तो वे देखेंगे।"

"तो आपकी अनुमति नहीं ?"

"मेरी तो राय है, अनुमति अपने अन्दर से लो। मैंने तो अपनी कह दी, निर्णय के लिए तुम स्वयं हो।"

यह उनका अत्यन्त व्यस्त समय था। एक-एक मिनट का मूल्य था। पर उन्होंने अपनी ओर से पूछा, "दया क्या वहीं है—पिता के पास ? सब ठीक है न ?"

जो जानता था मैंने बताया। उन्होंने गहरी साँस ली। फिर पूछा— "अभी आज ही चले जाओगे ?"

"जी, और क्या ?"

हँसकर बोले, "ठीक है। कहीं ठहरना क्या ?"

दूसरी बात जो उस समय हुई, प्रेमचन्द-स्मारक के सम्बन्ध में थी। असल में उसी उद्देश्य से यह यात्रा हुई थी। पर वह अलग कहानी है और दुखकर। गांधीजी खिन्न थे, पर क्या कर सकते थे। हिन्दी और उर्दू प्रेमचन्द को लेकर अगर बीच की खाई न पाट सकें और अपनी अनबन न भर सकें तो क्या किया जा सकता था ? मेरी कोशिश यही थी, पर होनहार का अपना

तर्क होता है । कोशिश में दिशा ही सही हो सकती है, उससे आगे आदमी का क्या बस ?

ऐसे धीरे-धीरे शरम धुल गई और अवसर की मजबूरी से फिर मैं बापू के सामने हो पड़ा । या हो सकता है, यह इससे पहले की बात हो । वर्धा से सेवाग्राम का रास्ता तब पगडण्डी का था और वह भी साफ़ नहीं । चले तब ऐसा अँधेरा तो न हुआ था, और विज्ञ-जन साथ थे । फिर भी हम राह भटक गए और आवश्यक से दुगनी दूरी पार कर रात-अँधेरे बापू की कुटिया पर जाकर लगे । तब सेवाग्राम बसा न था, कुटिया एक ही थी । मुझे तब प्यास लग आई थी । बा ने पानी दिया और फिर मैं डरता डरता कुटिया पार कर आगे बढ़ा ।

देखा, बापू बाहर खुले मैदान में बैठे थे । पास आते-आते सोच रहा था. हाथ जोड़कर प्रणाम करूँ, कि मण्डली से घिरे बापू आँख उठाकर बोले, "तभी तो ! मैंने कहा कि कोई आया है । लालटेन दीखी थी न—तो तुम हो ? बैठो । लेकिन बात अभी नहीं । और अब जाओगे वापस क्या, रात यहीं रहना है, है न ?"

देखा कि क्षण में सब हो गया है । स्वास्थ्य का लाभ हो गया है और अनिश्चय कटकर निश्चय प्राप्त हो गया है ।

इसी अवसर पर याद है, मैंने पूछा था, "बापू, आप से इतना डर क्यों लगता है ?"

पलट कर बोले, "लगता है डर ?"

मैंने कहा, "हाँ, बहुत लगता है ।"

बोले, "तभी तो मैं बचा भी हुआ हूँ !"

धक-से मुझ सारे को बिजली छू गई । कभी ऐसे उत्तर की अपेक्षा न थी । आज भी लगता है कि दुनिया में कोई नहीं है, एक गांधी के सिवा जो ऐसा उत्तर दे सकता है । इतनी क्रूरता क्रूर में सम्भव नहीं हो सकती । सत्य के अहिंसक साधक में ही इतनी अनासक्त यथार्थवादिता हो सकती है । ऐसी पैनी कि छुरी की धार क्या होगी !

: ६ :

एक जमाना था कि भाषा का झगड़ा गर्म था । झगड़ा यों अब भी हो, पर जैसे तब वह तपकर लाल सुर्ख हो आया था । झगड़े का मूल मन में होता है, उतरता ही जिस-तिस नाम पर है । और नहीं तो भाषा ही सही । है यह अचरज की बात, क्योंकि भाषा मेल की जरूरत में से बनी है । आदमी

हिलमिल कर ही जी सकता है। वह इस तरह स्वतन्त्र नहीं जैसे जानवर। इसलिए उसका तन्त्र 'स्व' से नहीं 'परस्पर' में से बनता है। अलग से हम पास आ रहे हैं और भाषाएँ अपनी सीमाएँ खोती हुई एक-दूसरे में मानो समाई जा रही हैं। यह प्रक्रिया रोकी नहीं जा सकती। कारण, विकास नहीं रोका जा सकता। भाषा पर अपना स्वत्व लाद कर बैठेंगे तो गति के साथ हम ही नहीं चल पाएँगे, पीछे रहकर इधर ही छूट रहेंगे। फिर भी वर्तमान से कभी हम इतने चिपटते हैं कि भविष्य को अपने हाथों ही रोक देते हैं। जो अधुनातन नूतन से डर आता है वह उसी क्षण पुरातन होकर सनातनता पर जड़ शव की भाँति बोझ बन उठता है। सनातन को तो सतत सद्य रहना है, इसलिए पुरातन को शव बनने से पूर्व ही नूतन में रूपान्तरित होते जाना है। वर्तमान पर आसन लगाकर बैठने वाले लोग यदि इसको नहीं समझते तो वे भवित-व्यता के हाथों अन्त में समाधिस्थ होते हैं।

जो हो, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा था और हिन्दुस्तानी शब्द दोनों को चुभता था। मैं यों लेखक हिन्दी का समझा जाता था, पर वह हिन्दी जानता भला मैं क्या था? बोलता था करीब वैसे ही लिख जाता था। भाषा का कोई ज्ञान पाया नहीं था। इस अज्ञान में से देखा कि मुझे 'हिन्दुस्तानी' अप-नाने में कोई बाधा नहीं है, बल्कि कुछ सुभीता ही है। उस शब्द का उपयोग गांधी जी द्वारा होने में अभी बड़ी देर थी कि तभी, शायद सन् ३३-३४ में, प्रेमचन्द आदि हम लोगों ने एक-आध हिन्दुस्तानी सभा बना डाली थी।

इसी कारण शायद होगा कि वर्धा में हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा बनी तो काका साहेब (काका कालेलकर) की तरफ़ से पत्र आया और फार्म आया कि मेम्बर बन जाओ।

मैंने लिख दिया कि 'हिन्दुस्तानी' में मेरी श्रद्धा है, मेम्बरी में नहीं है। भाषा के विषय में मुझे अपने लिए कुछ करने को है भी नहीं, इसलिए माफ़ करें।

काका ने लौटकर लिखा कि गांधी जी की इच्छा है. फार्म भर भेजो।

फार्म भर दिया और फीस भेज दी। लेकिन खबर आने पर उसकी बैठक में जाकर शामिल होने का बहुत उत्साह नहीं हुआ। तिसपर बैठक सेवाग्राम में होनी थी। सोचा—बाबा रे! बापू का सामना कैसे होगा? याद नहीं कि वैसा लिखा कि नहीं, पर मन में स्पष्ट अनुमान किया कि अगर किसी बैठक में जाऊँगा ही तो तब जब गांधी जी से वह स्वतन्त्र हो और सेवाग्राम से अन्यत्र। पर यह हठ टिका नहीं। दूसरी या तीसरी बैठक की सूचना पर

सेवाग्राम बापू की कुटिया में उपस्थित हो गया।

तब पास महादेव देसाई ही थे। बापू ने आँख उठाकर मुस्कराहट से पूछा, "कहो, कैसे आए हो ?"

"वह—हिन्दुस्तानी की बैठक है ना !"

"उसके ही लिए आ गए हो !"

"हाँ, क्यों ?"

"—तब तो हिन्दुस्तानी में भी जरूर कुछ है। योगी जो आ गया है।"

सुनकर मैं सन्न रह गया। जैसे शब्द भीतर तक मुझे काट गया। उसमें व्यंग तो था ही, पर गांधी जी की ओर से जैसे सत्यता भी उसमें पड़ गई हो। यही तो उनकी मोहनी थी। इसी मंत्र से सामान्य मनुष्य में से वह अमित सम्भावनाओं को प्रत्यक्ष कर निकालते थे। उनकी अगम-निष्ठा में से असम्भव सम्भव हो उठता था। मैं विगलित होता चला गया। झेंप की हद न थी, गांधी जी की आँखें हँस रहीं थीं, मानो मेरा मैल अन्दर गल रहा हो। सम्भावनाएँ जो तल में दबी थीं मानो उझक उठना चाहती हों। तब समझ में आया कि पारस क्या होता होगा। क्या होता होगा कि जिसके परस-भर से लोहा सोना हो जाय। सामान्य मनुजों के इस भारत देश ने जो चमत्कार कर दिखाया वह गांधी के किस जादू से सम्भव हुआ होगा—यह समझ में आ गया।

सन्' ४२ के वे दिन थे। जुलाई का अन्त आ रहा था। कल इसी कुटी में काग्रेस की कार्यसमिति बैठी थी। सप्ताह बाद बम्बई में भारत छोड़ो की रण-भेरी बज जाने वाली थी। 'करो या मरो' का आवाहन देश में गूंज जाने वाला था। गांधी उस समय भीतर में दावानल ही पिये बैठे होंगे, पर बाहर शान्त मुस्कराहट थी। बोले, "ठहर रहे हो न ? या –"

"शाम ही चले जाने की सोचता था।"

"कल रह सकते हो तो मिलो। मिलोगे तीसरे पहर ?"

"जो आज्ञा।"

पहले कहीं डोरे डालना लिखा है, वही शुरू हुआ। ऐसे बारीक डोरे कि क्या मकड़ी बना सकती है। कह सकता हूँ कि वे तार निरे अनासक्त प्यार के बने थे। वे बन्धन नहीं बनते, केवल सुरक्षा पहुँचाते है। मानों उनमें आश्वासन और वात्सल्य की सहस्र-सहस्र किरणें थीं। आज इसे मैं अपने जीवन का बड़ा दुर्भाग्य मानता हूँ, तब अपनी विजय माना था, कि मैं उन डोरों से

खिचकर गांधी जी के मन के और निकट न पहुँच सका। उस समय अपने में अभिमान जगाकर जैसे मैं सावचेत हो आया था। उनकी कल्पना में था कि दिल्ली में यह और वह हो सकता है, और उस सबको मैं अपने कन्धों सम्भाल लूँगा।

उन्होंने पूछा कि मेरा अपना क्या विचार है।

में तब और तरह की ख़ाम-ख़यालियों में था, बताया कि मैं अपने बारे में तो ऐसा सोच रहा हूँ।

सुनकर क्षण के सूक्ष्म भाग तक भी उन्होंने देर नहीं लगाई। डोरे अपने सब समेट लिए। मेरी स्वतन्त्रता मुझ में मानो और परिपूर्ण हो आई। तनिक भी आरोप उनका मुझ पर दबाव न देता रहे, इस आतुरता में उन्होंने कहा, "हाँ, यह तो और भी अच्छा है। तब तो, देखो अमुक से मिलो। वह ठीक कर देंगे।"

मैंने इस प्रोत्साहन पर गांधी जी को देखा। उनकी आँखों में निर्मल स्नेह छलकता दीखा। देख सका, आत्मत्याग में उन्हें कष्ट नहीं होता, बल्कि उसी में मानो आत्मलाभ की-सी प्रसन्नता होती है। गांधी जी बेहद व्यवहारी थे, पर मानो उनके व्यवहार-कौशल का भेद ही यह था कि वह सबको स्वयं रहने देते थे, बाहर से अपना तनिक स्वत्वारोपण उस पर न जाने देते थे। और इस प्रकार व्यक्ति उनकी उपस्थिति में उनका योग पाकर मानो अपने को स्वयं अपने से बढ़ा हुआ और उत्कृष्ट अनुभव कर आता था। इसे अहिंसा की कीमिया नहीं तो और क्या कहें!

शामका समय आ गया। कुटिया से गान्धीजी बाहर हुए, बाँसों की बाड़ तक बढ़कर आए और खड़े हो गए। हाथ में लाठी, बदन का उपरना हलकी हवा से लहराता हुआ। चेहरा उनका कुटिया की तरफ मुड़ा— सौम्य और शान्त और गम्भीर। चारों तरफ सुनसान। न जाने मुझे क्या हुआ। मैंने उस निपट आदमी को देखा। जी जैसे उमड़ा आता हो। मानो आँसू भरे आ रहे हों। ऐसा लगा कि यह आदमी कितना एकाकी है। कोई, कहीं, कुछ उसका नहीं है। यहाँ का ही वह नहीं है। मन में हुआ कि इतना अकेला, इतना अकेला!···जी विह्वल हो आया। लाठी के सहारे सामने खड़े, उघड़े से बदन, उस चिरप्रवासी एकाकी व्यक्ति के लिए मन में बेहद करुणा उमड़ी। वह महापुरुष हैं, जबकि मैं बालक हूँ, इसकी कहीं सुध न रही। मानो वह शिशु हों और हम संसारियों में शिशुवत् उसके लिए करुणा ही हो सकती हो! जी हुआ कि चलकर उसे पुचकारें, थपकें और तरस में उसके साथ थोड़ा-सा रो लें!

वह इतना निरीह, अकिंचन, असहाय और प्रवासी जान पड़ता था। मानो उसका सहारा बस एक भगवान् हो, जो अव्यक्त है और जिसे चाहे तो हमीं अपने भीतर से व्यक्त कर सकते हैं।

वह क्षण मुझे भूलता नहीं है। उस भाव के लिए किसी ओर से मैं संगति नहीं पाता हूँ। वह अतर्क्य था, लेकिन फिर भी वह सच था, सच है, और सच रहने वाला है।

: ७ :

दिल्ली की बात है।

मैंने कहा, "बापू, सत्य का आग्रह तो जीवन के साथ है। किसी क्षण वह रुकता नहीं, अनावश्यक नहीं होता। सत्य के उसी अनुगमन में आप के लिए असहयोग आ गया, संघर्ष आ गया। सत्य की वह चुनौती तो मौजूद ही है, विदेशी हुकूमत सिर पर बैठी है। फिर यह क्या बात है कि एक साल के लिए आपने संघर्ष को और राज-करण को अपने लिए निषिद्ध बना लिया है? होगा तो वह भी सत्याग्रह का रूप, लेकिन

आँख उठी। बोले, "मानते हो कि वह भी सत्याग्रह का रूप होगा?"

"मानना तो होगा ही, क्योंकि उसके बिना आप के लिए श्वास कहाँ! लेकिन यह आप कैसे 'डिटरमिन' करते हैं कि वह आग्रह अब तो प्रवृत्त संघर्ष के रूप में होगा और तब उसका स्वरूप निवृत्त और नितांत सेवामय होगा?"

यह तब की बात है जब गांधी जी के उपवास के कारण उन्हें हुकूमत ने जेल से रिहा कर दिया था और गांधी जी ने स्वेच्छा से सजा की अवधि के लिए हरिजन-सेवा के काम के सिवा दूसरे सब राजनीतिक समझे जाने वाले कामों से उपरत रहने का निश्चय किया था।

प्रश्न पर तत्क्षण गांधी जी बोले, "पर 'डिटरमिन' करता कहाँ हूँ, 'डिटरमिण्ड' पाता हूँ।"

उत्तर सुनकर सन्न रह जाना पड़ा। यह उत्तर एक गान्धी का ही हो सकता था। देख लिया कि उसकी थाह नहीं है, क्योंकि वह स्वयं में ही नहीं है। नाम-भर के लिए स्वयं है, बस इतना कि व्यवहार टिक सके। बिन्दु वही तो है जो जगह तक न ले। मानो गांधी ज्यामिति का आदर्श बिन्दु हो, तनिक भी अवकाश उसे अपने लिए घेरना न हो। सब उसका है जो सब में है। उसका आपा भी उस बड़े उसका है। यानी वह सब में है, सबका है। तभी तो कह दिया—'डिटरमिन' करता नहीं, 'डिटरमिण्ड' पाता हूँ और कह कर जैसे सदा के लिए 'मैं' को अपने से, और शेष में, निश्शेष कर दिया।

उस उत्तर को छूकर मैं सन्न, सहमा रह गया। कुछ देर कुछ भी न सूझ पड़ा। जैसे व्यक्ति में विराट् समक्ष हो और उसके आकस्मिक दर्शन ने सब सुध-बुध हर ली हो। फिर बोला नहीं गया, अवसन्न बैठा रहा, और कुछ अनन्तर बस चुप-चाप उठकर चला आया। वह अवसन्नता की अनुभूति—याद कर सकता हूँ—जल्दी मुझ से उतरी नहीं, बहुत देर तक साथ बनी रही।

: ८ :

उसी दिल्ली-प्रवास के समय। भोजन के अनन्तर विश्राम की बेला थी। मीराबहन थीं शायद, हल्के-हल्के पाँवों की मालिश कर रहीं थीं।

मैं कह रहा था, "बापू, आप के पास यथावश्यक से अधिक नहीं टिकता और वह आवश्यक कम-से-कम होता है। जैसे कि कपड़ा—ज़रूरत से उसे कम ही कहना होगा। जैसे आप का तन, जैसे आप के सिर के बाल, मूँछ, चोटी। जो है अनिवार्य कारण से है, और मानो बस होने भर के लिए है। ऐसा क्यों है?"

गांधी जी बोले, "क्यों है? है इसलिए है।"

'बस इतना ही?"

"और क्या—?'

"क्या हो सकता था कि आपके दाढ़ी होती?"

गान्धी जी जैसे कुछ सोचते रहे। बोले, "साउथ अफ्रीका में जेल में दाढ़ी हो गई थी पर आशय अपना साफ कहो।"

"बात यह कि जैसे रवीन्द्रनाथ हैं। बाल उनके बड़े हैं, अपने से उन्हें छोटा करने की उनको सूझी नहीं। दाढ़ी, तो खुली छाती तक आती हुई। कपड़े, तो इतने फैले कि आकार उसमें डूब जाय। यह सब क्या यों ही मान लिया जाय, कि है इसलिए है?"

गांधी जी की आँखों में मुस्कराहट थी। बोले, "मतलब कहो।"

"आप अपरिग्रह चाहते हैं। जरूरत से ज्यादे लेना या रखना चोरी हैं। आप सत्य चाहते हैं, अलग स्वत्व तक नहीं चाहते। सब में स्वत्व को खो देना चाहिए यह आप की निष्ठा है। कहीं ऐसा तो नहीं कि अनिवार्य है कि वही विचार आप के रहन-सहन में झलके। जैसे कि रवीन्द्रनाथ में निषेध नहीं है, सबका स्वीकार है प्रकृति का और प्रकृत का। सबका, और सबके प्रति, उनमें आवाहन है। इसमें यथावश्यक की जगह वहाँ यथानिशय हो तो यह सहज और स्वभाविक ही हो सकता है।"

गांधी जी लेटे हुए थे, पलकें झपकने के निकट थीं। हौले से पलक

उठाकर और सिर हिलाकर बोले, "हाँ, सो तो है। सो तो होगा।"

मैंने उन्हें देखकर कहा, "आपका विश्राम का समय है। नींद में मैं बाधक न बनूंगा—मैं गया।"

बोले, "नहीं, बाधक न बनोगे। अपनी कहते जा सकते हो। नींद अपने समय से आ जायेगी। आने पर तुम समझ ही जाओगे। तब चाहो तो उठ जाना।"

और मेरे देखते-देखते चन्द सिकण्डों में नींद चुपचाप चली आई। शिशुवत् वह सो गए और मैं अचम्भे में रह गया। नींद भी इस तरह किसी की चेरी हो सकती है, यह मैं सम्भव न मानता था। लगभग तभी मीराबहन के हाथ रुक गए। समझ गया नींद समय से आई है। समय होने पर उसे उसी तरह चले जाना भी होगा। गांधी जी की ओर से उस बेचारी का भी समय नियुक्त है। यह अधिकार, यह करूणा, गांधी जी कहाँ से कैसे पा सके थे!

: ६ :

जीवन के अन्तिम दिनों में गांधी जी को लम्बी अवधि यहाँ रहना पड़ा। हर शाम प्रार्थना-सभा में उनके महत्त्वपूर्ण वक्तव्य होते। स्थिति संकट की थी। स्वराज्य नया था और झिल नहीं रहा था। जाने कितनी नई समस्याएँ निपटारे के लिए उन तक आती थीं। वह मानो ध्रुव थे और भारत का जहाज उनसे छुटकर डगमगा रहा था। हिन्दुस्तान फटकर पाकिस्तान बना था। बंटवारा यह ऐसे न हुआ था जैसे दो भाइयों में होता है। मानो आरी से चीरकर दिल को दो में काटा गया था। उसमें से कितनी न आह निकल रही होगी और कितनी आग। गांधी उस तप और तपन के बीच थे। एक प्रार्थना में सांत्वना थी, यों जल रहे थे।

पत्रों में प्रार्थना वाले भाषण उनके पढ़ता, पर स्वयं प्रार्थना-सभा में जाने का साहस न जुटा पाता। हजारों लोग जाते थे, फिर वहाँ जाने में साहस की क्या बात थी। फिर भी मेरे लिए वह साहस की ही बात थी।

आखिर एक दिन साथी मिले, और बचाव न मिला तो प्रार्थना-सभा में मैं पहुँच सका। प्रार्थना हुई। गीता के श्लोक हुए, बौद्ध-स्तवन हुआ, कुरान की आयतें हुईं, भजन हुआ और गांधी जी का प्रवचन भी हुआ। सभा उठी। गांधी जी उठे। पीछे की ओर लोग बचकर दो पांतों में हो रहे कि गांधी जी सुविधा से बीच से जा सकें। निगाह नीची किए गांधी जी उस गली में से अपने डेरे की ओर चले। तभी पास खड़ी महिला की गोद में से बच्ची ने पुकारा—"बापू!"

बापू एक-आध डग आगे बढ़ गए थे, मानो गहनता में ऐसे लीन थे। सहसा डग उनका थमा। वह पीछे की ओर मुड़े। चेहरा खिल आया। दोनों हाथों को अपने चेहरे के दोनों ओर लाकर, मानो बन्दर हों. उस बच्ची की ओर मुंह बढ़ाकर बोले—"हऊ !"

बच्ची सहमी, फिर खुशी से खिल उठी, लेकिन बच्ची के बापू उसके साथ क्षण-भर के लिए बन्दर बनकर आगे जा चुके थे। उसी तरह गहन, लीन और अगाध !

: १० :

३० जनवरी सन् १९४८। किसी ने शाम को कहा—"सुना जैनेन्द्र, गांधी जी गए !" लेकिन मैंने नहीं सुना। उसने जिद से कहा—"न मानो, रेडियो पर सुन लो।"

जिद से ज्यादे कहने में रंज था। टालना और सम्भव न हो सकता था। तभी, उस कहने से निरपेक्ष, अन्दर लग आया कि हाँ, गांधी जी गए। पर क्या सच ? मन सच जानता था, फिर भी हठ से शंका करना चाहता था। रेडियो खोला, वह रो रहा था।

सुना और वहाँ से हट गया। दूर, जहाँ कुछ न सुनाई दे। पर कोने में अकेले मुंह डाल कर बैठ जाने से भी न हुआ। क्या करूँ ? अपना क्या करूँ ? और यह जो चारों तरफ है, समय और शून्य, उसका क्या करूँ ? उठकर निकल आया नगर से बाहर निर्जन में। पर मालूम हुआ कि यहाँ भी सब घुट गया है। कहीं खुला बाकी नहीं है। उस रात नींद तो आई, पर वह नींद-जैसी नहीं थी। वह जगी-सी थी और दुखती थी—मानो सपनों की लड़ी हो। सवेरे घड़ी में जब देखा चार बजे हैं, तो उठा। पर सोचा जल्दी है, अभी चलना ठीक न होगा। चार को किसी तरह साढ़े चार तक टाल सका, फिर पांव-पांव चल दिया। मानो सब राहें उधर ही जाती हों। मानो दुनिया का जीवन एक अतल रिक्त को पाकर उस पर केन्द्रित आवर्त बन आया हो। मानो समस्त चेतना एक शून्य पर आ टिकी हो, और सांस घुट गया हो।

भीड़ का ठिकाना न था। पर उस भीड़ में से भीड़पन गायब था। मानो सब अपने-अपने में हों और कोई दूसरे में चुभता न हो। सब संयत और शान्त और मानो समाप्त होने को तैयार हों। वे बेबस भाव से चले जा रहे थे। मानो कोई मृत्यु क्यों उन्हें जीता छोड़ गई, यही पूछने जाते हों।

एक भूले भाई ने प्रार्थना के समय गोली मारकर उन्हें शान्त कर

दिया था। नाम उसका गोडसे था, और उसे फाँसी लग गई। पर ये बेकार की बातें हैं। वैसे जीवन का और भिन्न अन्त न होने वाला था। मृत्यु जीवन के अनुकूल ही हो सकती है। वह गांधी जी की अर्जित मृत्यु थी, भगवान् की वरद मृत्यु थी। अकाल मृत्यु ! मुझसे उसे अकाल-मृत्यु कहते नहीं बनता। भला फिर सकाल और सार्थक मृत्यु क्या होती होगी ? जीवन सतत यज्ञ है। जिसका जीवन निरन्तर आहुति बनकर उजलता रहा हो, मृत्यु अन्त में उसे पूर्णाहुति के रूप में ही तो आ सकती है।

कमरे में शव रखा था, और लोग चारों ओर बैठे थे। रात-भर वह उसी भाँति रखा रहा था और लोग बैठे रहे थे। किन्तु अन्त में शव को उठना था और सबको भी उठ आना था। क्योंकि जो शव में था वह अनन्त में जा मिला था, और इस तरह अन्त में सबके अपने पास आ गया था। व्यक्ति तत्त्व हो गया था और वह सबके आत्म में पहुँच गया था। अब यही भवितव्य और कर्त्तव्य बचा था कि शव को फूंकें और अपने-अपने आत्म में उस तत्त्व को सँभालें और सँवारें, जो कभी व्यक्त होकर व्यक्ति में मूर्त्त था और अब अव्यक्त होकर सबके निभृत में पहुँच गया है। व्यक्ति होकर कुछ का ही हो सकता था, किन्हीं के लिए अपना किन्हीं दूसरों के लिए गैर। अब शरीर-सीमा की बाधा जो हट गई है, सो सब विश्व अपना सके, इसके लिए वह मुक्त हो सका है।

यह सब था और जानता था कि मर्त्य ही मरा है। और ऐसा होने से ही सुविधा हुई है कि जो अमर था वह सदा जीता रह सके। फिर भी मालूम हो रहा था कि सब खो गया है। अस्तित्व सत् जहाँ हुआ हो, हुआ हो, हमारे लिए मानो लुप्त बन गया था।

रह-रहकर कमरे में जाता और झांकता। क्षण-भर उधर देख पाता। देख पाता कि भर आता और फिर मकान की लम्बी गैलरी में डग भरने लगता। सभी तो आदमी थे, बड़े से बड़े और छोटे भी। ये मकान में थे और बाहर भी असंख्य थे। सबका कुछ लुट गया था।

शरीर को क्या रख न लिया जाय ? वह तो अभी पास है। विज्ञान से उसे जितना स्थायी किया जा सकता हो उतना क्यों न कर लें ? अभी तो दुनिया दर्शन को तरसेगी। उसके प्रति सदय होकर क्यों कुछ रोज के लिए इस काया को सुरक्षित न रखलें ? एक प्रेम यह चाहता था और वह विचारवान था।

पर विजय दूसरे प्रेम की हुई, जिसे जीते गांधी की याद थी और उसने कहा कि नहीं, जो जीता था वह मरे की पूजा न चाहता !

तब अर्थी उठी और सड़कों पर, मैदानों में, जितने समा सके आदमी साथ हुए और उसको भस्मीभूत कर आए जो आत्मीभूत हो गया था ! ●

निपट मानव गांधी

•

गांधी जी पर इतने लोगों ने इतना कुछ लिखा है कि नई बात कहने को रह नहीं जाती। उनकी हर घड़ी पर अखबारों की निगाह है। वह तो बस खुली किताब हैं। कुछ उनमें नहीं, उनके पास नहीं, जो सबकी सम्पत्ति न हो। उनके जीवन में दुराव नहीं है। भीतर उनके गहरे में से जो उठता है, कथनी और करनी में बाहर आकर वही सार्वजनिक इतिहास की थाती बन जाता है।

फिर भी कौन उन्हें जानने का दावा कर सकता है? धूप की तरह सब के आगे वह खुले और साफ हैं, पर अबूझ और अगम भी हैं। इसी से इतना जानकर भी गांधी जी के बारे में और जानने की प्यास दुनिया की कभी बुझ नहीं सकती। उनके नाम के साथ जुड़ी हर बात सिक्के की तरह हाथों-हाथ चलकर भी कभी बासी और जूठी नहीं होती। हर तरह उघड़े होने पर भी गांधी जी एक रहस्य हैं, जिसे दुनिया कभी चुका न पायेगी।

पहले कहानिया हुआ करती थीं जिनमें बड़े बड़े दैत्य-दानवों के प्राण किसी पक्षी या ऐसी ही किसी चीज़ में समाये रहते थे। यहाँ इसे तोड़ा कि वहाँ उनका अन्त हुआ। ऐसे बड़े-बड़े बली जीवों को बात की बात में हजारों कोसों दूर से खतम कर दिया जाता था। यह रूपक निरा व्यर्थ न मान लिया जाय। हर व्यक्तित्व की एक कुंजी है। आदमी जो यों पहेली-सा अनबूझ है उस कुञ्जी से हल किये सवाल की तरह खुल रहता है।

अब दुनिया के हम-तुम प्राणियों के बारे में इस कुञ्जी को खोजने और पाने में बहुत कठिनाई नहीं पड़ती। कोई हम में धन चाहता है, कोई मान, किन्हीं को कीर्ति ही काफी होती है। कुछ की कामना कामिनी में है। मतलब, हम संसारी लोगों की चाहें संसार के इस या उस तल पर कहीं गड़ी हुई पायी जा सकती हैं। जहाँ जिसकी चाह है, वहीं उसकी थाह है। इस तरह आपस में एक-दूसरे को जाँचने और उसका मान थिर करने में हमको दिक्कत नहीं होती।

सीधे तो संसार का ताना-बाना विचित्र लगता है। असंख्य आदमियों की जिन्दगी के तार आपस में मिल-जुलकर, कट-बँटकर, क्या नमूना बुन रहे

हैं, कुछ समझ नहीं आता। लगता है, उनकी गतियाँ भिन्न हैं और विरोधी भी। पर मनस्तत्त्व-विज्ञानी बताते हैं कि वे गतियाँ न भिन्न हैं न विरोधी हैं। सांसारिकों के बारे में आसानी से वे नियम प्रस्तुत कर सके हैं जो बता देते हैं कि एक आदमी, और सब आदमी, क्यों और किन प्रेरणाओं के अधीन विविध वर्तन कर रहे हैं। पर कुछ लोग मानो नियमानुसार नहीं होते हैं। विज्ञान और शास्त्र उन्हें न ढँक पाता न खोल पाता है। वैज्ञानिक प्रणालियों से उन्हें पाना असम्भव होता है। इससे व्यक्ति से ज्यादा उन्हें घटना कहना होता है। उनकी कुञ्जी यहाँ ढूंढ़े नहीं मिलती। उससे या तो लोगों को खीझ होती है, जिसे वे उस आदमी को मारकर पूरी करते हैं। या नहीं तो विस्मय में घुटनों गिरकर उसकी पूजा करते हैं। इससे दूसरा उनके किये बन नहीं पाता। तर्क का वह स्रोत ही उन्हें हाथ नहीं आता जो उस जीवन को और उस जीवन के कृत्यों को थामता हुआ कहा जा सके। ऐसे पुरुष अतर्क्य होते हैं और लोक तत्काल तो अलौकिक कहकर उनसे अपनी छुट्टी मान लेता है, पीछे इतिहास में से फिर-फिरकर उनका आविष्कार करके अंगीकार करने की कोशिश करता है। गांधी जी ऐसे ही अभागे पुरुषों में से मालूम होते हैं। उनकी कुञ्जी लाख खोजने पर भी दुनिया के हाथ नहीं चढ़ती।

गांधी जी ने एक बार कहा कि मेरा सब कुछ ले लो, मैं रहूँगा। हाथ काट लो, आँख-कान न रहें तब भी रहूँगा, सिर जाय तब भी कुछ पल रह जाऊँ। पर ईश्वर गया कि तब तो मैं उसी दम मरा हुआ हूँ। यह बात पढ़ने में चमत्कारी लगती है। पर क्या समझ में भी वह बंध कर बैठती है ?

ईश्वर के मन्दिर हों और उसकी पूजा हुआ करे, यहाँ तक तो ठीक है। इससे आगे नित्य-प्रति के काम से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि और तर्क की भाषा इस ईश्वर को अपने में कहाँ बिठाये ? परिणाम यह कि समूचे जीवन की वह नीति जो ईश्वर-पूर्वकता से आरम्भ होती है गांधी जी तक सीमित जान पड़ती है। व्यवहार से गांधी जी की समाज-नीति अनमिल और असिद्ध लग आती है। उसमें तर्क का साफ सूत नहीं मिलता।

लौकिक के और गांधी जी के बीच का यह भेद मौलिक है। किसी तरह के ऊपरी तर्क से उस भेद को उड़ा देना खतरनाक हो सकता है। गांधी जी का और दुनिया का, गांधीजी का और कांग्रेस का, सम्बन्ध पूरी तरह इस मूल भेद को स्वीकार और पहचान कर नहीं बना। और इससे कठिनाई उपस्थित होती रहती है।

गांधी जी के बारे में यह कहा जा सके कि वह व्यवहार के आदमी नहीं

हैं तब तो मुश्किल ही हल हो जाती है। ऐसे बहुत लोगों को दुनिया जानती है जो वास्तव के बजाय स्वप्न में रहते हैं। आदर्शवादियों, सन्तों, कवियों को अपने में समाना और पचाना दुनिया के लिए कठिन नहीं होता। दुनिया को वे पीठ देते लगते हैं, फिर भी वे दुनिया के अपने होते हैं। कुछ भोग में भूलते हैं तो शायद ये योग में भूलना चाहते हैं। गांधी जी के बारे में वैसा समझने का सुभीता दुनिया के बुद्धिजीवी लोगों को मिल सके तो वे बच जाएँ। पर ऐसी सुविधा किसी ओर से उन्हें नहीं हो पाती। गांधी जी कुछ हैं तो कर्मठ हैं। वस्तु के और वास्तव के क्षेत्र में उनका प्रभाव अमोघ है। ठोस रुपया, जो तमाम वास्तविकता का आज प्रतीक है, उनके इशारे पर यहाँ से वहाँ होता रहता है। इस तरह गांधी जी बौद्धिक के लिए एक चुनौती ही बने रहते हैं। उस बौद्धिक के बनाये वादों और चलाए सब शब्दों के आगे गांधी मानों ऐसा प्रश्न-चिह्न बनकर खड़े हो आते हैं कि हटाए नहीं हटते।

धर्मवादी और ईश्वरवादी, जो संसार को बन्धन मानकर उससे उत्तीर्ण होना चाहता है, गांधी जी की तरफ आशा-भरी निगाह से देखता है। कारण, वह बहुत अंशों में ऐसे उत्तीर्ण और मुक्त पुरुष प्रतीत होते हैं पवित्रों में वे पवित्र हैं, और जितेन्द्रिय, और संयमी, और महात्मा। पर यही पवित्रता का साधक उस समय गांधी जी को नहीं समझ पाता जब वे राजनीति के प्रपंच में दीखते हैं और तरह-तरह के कर्म की विराट् योजनाओं का संचालन करते हैं।

दूसरी ओर संसार में (उसके सुधार में) लगे हुए प्रकार-प्रकार के वादी कर्मीजन इस कर्मण्य और प्रतापी पुरुष गाँधी को देखकर उत्साहित होते है। जो बल उसने प्राप्त किया, जो लोक-संग्रह वह कर पाया, उसको श्रद्धा और ईषत् ईर्षा से देखते हैं। जो सत्ता उन्हें इष्ट है, गांधी जी को वह सिद्ध है। लोकनायकों में इस तरह वह मूर्धन्य हैं। फिर भी राज को लेकर तरह-तरह के जितने तन्त्रवाद मिलते हैं, और समाज के निमित्त से नाना प्रकार के जो समाज-वाद और साम्यवाद मिलते हैं, उनमें से किसी एक को छोड़कर किसी दूसरे का समर्थन गांधी जी से नहीं मिलता। राज की दिशा में यह गांधी चाहता है तो 'राम-राज्य' चाहता है, जिसके तन्त्र को किसी वैज्ञानिक भाषा में नहीं रखा जा सकता। समाज चाहता है तो ऐसा कि जिसमें किसी की कोई संभावना नष्ट न हो और सब स्नेह से रहें। धन रहे, धनपति रहें, श्रम रहे और श्रमिक रहें, राजा हो और वह चाकर भी हो, चाकर हो और वह राजा से कम न हो। इस तरह की अवैज्ञानिक और भावुक बातें जो कवि को शोभा दें, अर्थ-नीति और कूटनीति के संचालक और समाज-निर्माता पुरुष के लिए अटपटी लगती हैं। यह आदमी

जो शासन और व्यवस्था की तरह-तरह की समस्याओं के बीच मुख्य सूत्रधार की भाँति घिरा रहता है, हर साँझ-सवेरे प्रार्थना में दोहराता है : "यह संसार कागद की पुड़िया —" "यह संसार झाड़ और झाँखड़—" जो संसार और समाज प्रत्यक्ष कर्मी के लिए एक और अकेला इष्ट है वही संसार और समाज इस आदर्श (निष्काम) कर्मी के लिए शून्यवत् है। वे समाप्त ही चाहे होते हो, इस व्यक्ति को डिगने के लिए तब भी कारण नहीं है।

इस तरह जीवन के विभक्त दर्शनों के लिए, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के लिए, गांधी एक ही साथ प्रश्न और समाधान हैं। राजनीति और धर्म में भेद है, उनमें विग्रह भी है। लेकिन गांधी जी उन दोनों के अभेद हैं और संग्रह हैं। उस विभक्त जीवन-नीति के लिए, जिससे संसार और संसार का इतिहास चला किया है और चला करता है, गांधीजी एक संदेश हैं। वे सूचक हैं जीवन की अखण्डता के, उसके ऐक्य के। साथ ही वह जीवित उदाहरण हैं इस सत्य के कि जीवन संयुक्त, समग्र और सिद्ध है तो वहाँ जहाँ वह निःस्व है। अपने को उत्तरोत्तर सेवा द्वारा शून्य और प्रार्थना द्वारा लीन बनाते जाना ही परिपूर्णता पाने का साधना-मार्ग है।

इस मूल निष्ठा को पाकर फिर गांधी जी का बस एक ही प्रयत्न रहा है। वह यह कि अपने समूचेपन और तन को लेकर उस निष्ठा से तत्सम हो जायँ। इस एक और अकेले सूत्र और मंत्र के सहारे वह गांधी, जो हर तरह हीन थे, आज सर्वसम्मत रूप से जगत् के मुकुट-पुरुष हो गये हैं।

इस सूत्र को हाथ में लेकर फिर उन्होंने अपने को और अपनों को पूरी तरह छोड़ दिया। होना है जो हो। चिन्ता को अपने सिर रखने वाला मैं कौन ? क्यों संग्रह, और क्यों अर्जन ? चराचर जगत् को चलाने वाला जागता हुआ बैठा तो है, तब उसके आदेश को सुनते रहने और वैसा करते रहने से अलग मेरा काम ही क्या रह जाता है ?

और इस नीति से चलकर कुछ विलक्षणताएँ अनायास गांधी का स्वभाव बन आयीं। वे उन्हें समान्यता से अलग कोटि में ले जाती हैं जैसे—

१ — वह निर्णय तत्काल करते, तर्क पीछे पाते हैं। परिस्थितियों की ओर से अपने को नहीं समझाते, स्वधर्म के बारे में सीधे अभ्यंतर से आदेश प्राप्त करके परिस्थितियों को तदनुकूल बनाने में लग जाते हैं।

२—औरों के लिए सोचना करने से बचना होता है; गांधी जी के लिए सोचना ही करना है। सोचने और करने के बीच कोई व्यवधान नहीं आ पाता।

३—परिस्थितियों को उनसे उत्तर मिलता है। कारण, परिस्थितियों की भाषा में वे कभी सोचते हीं नही। परिणाम यह कि कोई परिस्थिति उन पर टिकती नहीं, उन्हें घेरती नहीं, और वे सदा गतिशील हैं।

४—'अशक्य' शब्द उनके कोष में रह नहीं जाता, क्योंकि आदमी के हाथ धर्म और तदनुसार कर्म ही है, फल नहीं।

५—कर्म की सीमा है। उस सीमा को संकल्प पर क्यों लिया जाय ? इसलिए सत्संकल्प को कभी ढीला करने, उसमें विकार या आरोप लाने का अवसर ही नहीं है।

मूल श्रद्धा की इस भूमिका से आरम्भ करके, निरन्तर अभ्यास और साधना के सहारे, एक ऐसी अगमता और अडिगता उन्होंने प्राप्त कर ली है जो बड़े-से-बड़े संकट में उनका साथ नहीं छोड़ती। मनुष्य में से उनका विश्वास कुछ या कोई तोड़ नहीं सकता। चारों ओर छलकपट है, मारधाड़ है, लूट-खसोट है। उसका बर्बर-से-बर्बर रूप सामने है, फिर भी उस आदमी को गांधी जी इस आशा और कोशिश में छोड़ नहीं सकते कि उसमें के असली (दैवी) मनुष्य को वे जगा सकेंगे।

इस तरह इस दुनिया में रहकर गांधी जी मानो सदा परीक्षा में हैं और उनके हाथों में राजनीति भी सदा परीक्षा में है। आज तो परीक्षा विकट है। अब भारत और पाकिस्तान दो अलग राज्य हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार के अंग हैं। ऐसा जब हो ही गया तो उस पर सोच-विचार करना बेकार है। वैसा राज़ी से हुआ। दोनों राजनीतिक पार्टियाँ, लाचार होकर ही सही, ब्रिटेन के साथ उस विभाजन को मानने को राज़ी हुईं। उसके बाद जो हुआ उसकी भयंकरता जताने को शब्द नहीं मिलते। आग ऐसी जली कि सदियों के सम्बन्ध स्वाहा हो गये। वैर और बदला धर्म बन आया। दुनिया का धर्म तात्त्विक तो नहीं हो सकता, उसे तो तात्कालिक होना पड़ता है। इससे शास्त्रों की सीधी उपदेश की बातें उसके लिए कारगर नहीं होती हैं। इस तत्काल-धर्म की अलग ही संहिता होती है। और क्या अनगिनत शूरवीर, नेता और नायक नहीं हो गये जो शस्त्र लेकर रण में जूझे हैं और इतिहास ने, काव्य ने, नाना महिमाओंसे जिनको मण्डित किया है ! वह आग अब भी अतीत की नहीं बन गई है, बुझी अभी नहीं है, जल ही रही है, और गांधी जी उसके बीच में हैं।

और बाहर दुनिया की क्या हालत है ? किसी अखबार का कोई कोना काफी है कि उस बारे में आपके भ्रम को तोड़ दे। मानो बेबस वेग से वह चली जा रही है विस्फोट के मुंह में। राजनेता, जो समझते हैं कि वे दुनिया

को चला रहे हैं, भीतर सन्देह, भय, ईर्ष्या और बैर को पोस रहे हैं। मानो चारों तरफ बारूद भरी है जो भभकने भी लगी है। बस लौ का इन्तजार है कि कब भक् से भड़क उठे। 'एटम-बम' के ज़माने में तैयारी की बात क्या की जाय ? एटम-बम है, तो उसके आस-पास हाइड्रोजन बम जैसी मिलती-जुलती दूसरी ईजादें भी तो कम नहीं हैं !

इसके मुक़ाबिले दूसरी तरफ आधी से ज्यादे दुनिया में धन का दिवाला है और अनाज का अकाल है। मुल्क हैं जो साहूकार हैं और अनाज से भरे-पूरे हैं। पर यही मौक़ा क्या व्यवसाय के लिए भी अचूक नहीं है—वह व्यवसाय जो सहायता को धर्म समझता है, साथ ही सौदे को अधर्म नहीं समझता !

दुनिया की और देश की ऐसी हालत की झुलस के बीचों-बीच गांधी जी बैठे हैं। अहिंसा उनका धर्म है, दर्शन है, नीति है, सब-कुछ है। लेकिन यह अहिंसा उस दुनिया के लिए है जो हिंसा से काम लेती आई है। जिसका ईमान अब भी हिंसा में हैं, जो धर्म और कर्तव्य की राह से हिंसा में पहुँचती है, जो बहादुरी और पराक्रम उसी में देखती है, जो समझती है कि अहिंसा सिर्फ जीवन की चुनौती से बचना ओर भागना है। स्थिति इतनी विषम है कि अहिंसा कुछ वैसा ही हिक़ारत और मजाक़ का शब्द बन गया है जैसे कभी 'नात्सी' और 'फासिस्ट' शब्द बन गये थे !

वह सब ठीक, लेकिन गांधी तो गांधी ही हैं। इतना ही नहीं कि वह डिगेंगे नहीं, डिगे नहीं हैं; बल्कि यह भी कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वह अपने को अनुपयुक्त न होने देंगे, न कभी हारेंगे।

आज परीक्षा है। उसके परिणाम से जैसे सारी राजनीति को आगे राह मिलेगी। कसौटी पर मानो यह प्रश्न है कि हकूमत को क्या यह अधिकार है कि वह जनता पर अपने मन का या मत का साँचा डाले ? या कि राज्य का धर्म यह है कि जनता को अपने विविध मत, जाति, विधि और वर्ग के भेद के साथ ज्यों-का-त्यों स्वीकार करे ? शासन प्रजानुसारी होगा कि राज्यानुकूल ? यह प्रश्न भविष्य के लिए अत्यन्त गम्भीर है। उसको इस रूप में रखा जा सकता है कि क्या राजसत्ता (स्टेट) के ऊपर भी अंकुश है, या नहीं है ? है, तो क्या वह अंकुश स्वयं वह प्रजा ही नहीं है, जिसका प्रबंध और शासन का दायित्व वह राज्य लेता है ? पाकिस्तान और भारत के बीच राष्ट्रद्वैत का सिद्धान्त जो कसौटी पर चढ़ा हुआ है उससे मानो आगे के लिए हमें यह निर्णय भी प्राप्त हो जायेगा कि क्या कोई स्टेट मतवादी हो सकती है। साथ ही इस प्रश्न का भी निबटारा हो जायेगा कि मत और विचार की एकता अनिवार्य

और बलात् होकर किसी राज्य के लिए वैध और जायज़ ठहराई जा सकती

आज तो मानो तन्त्र के और जन के बीच लड़ाई है। तन्त्र के लिए जन को रखा और झोका जायेगा ? या जन के लिए ही तन्त्र को गिना और बनाया, नहीं तो मिटाया जायेगा ? इस प्रश्न का निपटारा होना है।

गांधी जी किसी सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह तनिक भी सरकारी नहीं हैं, फौज नहीं, पुलिस नहीं - सत्ता का कोई चिह्न नहीं। वह निरीह जन के प्रतिनिधि हैं, उसी के प्रतीक हैं। सच में तो इस या उस, कांग्रेसी या पाकिस्तानी, या हिन्दी या अंग्रेजी, हकूमत की प्रतिष्ठा से उनको वास्ता नहीं है। वह तो सब सरकारों में, और ज़रूरत होने पर उन सरकारों के विरोध और प्रतिरोध में, जन की और श्रम की प्रतिष्ठा चाहते हैं। यह उनका काम, शान्ति का समझा जाय या क्रांति का समझा जाय, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता है। और यह काम वह राम का काम समझ कर करते हैं। यानी वह निरा राष्ट्रीय नहीं है, ऐहिक और सामयिक नहीं है; बल्कि मानवीय, आध्यात्मिक और चिरंतन है। ●

संयुक्त मानव

आस्तिक के लिए अवतार के अवतरण में विश्वास करना सहज है। वह मानता है कि यहाँ ईश्वर का चाहा होता है, इससे कर्तृत्व सब उसी का है। आदमी तो साधन-भर है, भगवान् के आदेश का पालन उसका काम है। उस अर्थ में हम सभी उसके भेजे यहाँ हैं। जो यहाँ अपने मन-बुद्धि-कर्म को पूरी तरह उसे सौंप कर स्वयं शून्य बने, उसके लिए अवतार से दूसरा क्या विशेषण आस्तिक के पास हो ?

गांधी ऐसे ही पुरुष थे। प्रतीक की भाषा में नहीं, विज्ञान की भाषा में उन्हें अवतार कहना होता है। उनकी साधना महान् अथवा गुणवान् आदि बनने की नहीं थी। वह निर्गुण, अकिंचन और एकदम शून्य होने के प्रयत्न में रहे। इस कोशिश में अणुभर भी उन्होंने अपने को नहीं बचाया। साधना के इस रूप को ऐहिक बुद्धि से समझना असम्भव है। भक्ति ही उस मर्म को पा सकती है। ऐसी भीगी भक्ति में अपने को लीन करने की सतत चेष्टा करने वाला पुरुष अनायास फिर कैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनिवार्य और अदम्य बन उठा, यह किसी भी और तरह समझ में नहीं आ सकता। गांधी उस बुद्धि के लिए सदा पहेली रहेंगे जो जगत् को जगदाधार के बिना समझने के प्रयास में लगती है। अन्यथा गांधी द्वैत से त्रस्त जगत् के त्राण का एक समन्वित समाधान है।

गांधी जी का काम ईश्वर का काम था। यानी आत्म-शुद्धि का काम था। जीते रहे तब तक उसमें एक बाधा थी, वह बाधा थी शरीर। शरीर रहते वह पूरी तरह शून्य कैसे बनते ? उनका संदेश तब तक अधूरा था। कैसे जीना, यह तो वह बता सके; पर मरना कैसे, यह भी तो उन्हें बताना था। जीने से मरने तक की पूरी जीवन नीति का चित्र उन्हें इस दुनिया को दे जाना था। यह बाधा इस तीस जनवरी को उनसे दूर हो गई। उनका काम भी तब एक संपूर्णता को आ गया। जीवन यज्ञ है और मृत्यु को भी यज्ञ के रूप में ही आना है। मृत्यु जीवन के अनुरूप ही एक बलिदान हो। तमाम जीवन ही बलि है। अर्घ्य की भाँति वह पवित्र हो और कृतार्थ भाव से उसको

होम दिया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति। गांधी-जीवन और गांधी-मृत्यु उसी की सचित्र व्याख्या है।

जीते वक्त अवसर था कि हिन्दुस्तान उन्हें अपना नेता कहे; देवदास पिता कहे और कुछ लोग अपने को उनके पास और दूसरे बहुतेरे अपने को उनसे दूर मानें। कुछ अपना उन पर अधिकार मानें, दूसरे अपने को वंचित मानें; कुछ सौभाग्यशाली बनें कि वे गांधी जी के नजदीक आए, तो कुछ और खुद को मन्दभागी मानें कि वे गांधी जी के पास तक न पहुँच पाए। इस तरह दूर-पास, अपने-पराये, के दायरों से उनकी मुक्ति न थी। पर वह तो एक के होकर सबके बनना चाहते थे। दुनिया के न रह जायँ इस कीमत पर उन्हें हिन्द का या हिन्दू का नहीं रहना था। विभेद में से अभेद उन्हें पा लेना था। लेकिन उस अभेद में जीने वाले को विभेद घेरता ही था। इसका उपाय यही था कि अन्तिम बाधा देह गिरे और शून्य में मिलकर वह एक ही साथ सबको समान भाव से सुलभ बन जायँ। अब हिन्दू, कांग्रेसी या हिन्दुस्तानी इत्यादि कोई विशेषण उन्हें छू और पा नहीं सकता। किसी के गर्व को उनका सहारा नहीं हो सकता, न किसी के लिए उनसे निराशा का बहाना। गांधी जी आज केवल प्रकाश और आदर्श के रूप में सामने हैं और वह उन्हीं के हैं जो उन्हें अपने अन्दर उतारने को तत्पर हैं।

इस अखण्डता से अलग गांधी जी के महत्त्व को समझने की मेरी इच्छा नहीं है। कर्म में गांधी विविध हैं और बुद्धि-भेद के लिए मौका छोड़ते हैं। सत्य ही ईश्वर, प्राप्य रूप में वही अहिंसा इस दो शब्दों की परिभाषा वाली अनन्य निष्ठा से आगे चलकर उनका जीवन अनंत लीला-मय रूप लेता जाता है। वह चमत्कृत कर देता है। उस जीवन का अनुकरण नहीं हो सकता। वह गांधी के साथ इतना विशिष्ट है कि इतिहास में किसी भी भाँति दोहराया नहीं जा सकता। लेकिन जो सर्व-सामान्य है, सब काल और सब भूमि के लिए है, सबके लिए सहज और सुलभ है, वह है उनकी सत्यनिष्ठा और अहिं-सक तत्परता।

हर आदमी की अपनी परिस्थिति और अपनी भूमिका है। धर्मनिष्ठा का प्रयोग भी वहाँ जो होगा दूसरी किसी परिस्थिति अथवा व्यक्ति के लिए उपयुक्त न ठहरेगा। इस तरह एकमेव ईश्वर-निष्ठा से इस ब्रह्माण्ड के अन-न्तानन्त व्यापार चल सकते हैं और उन सबके विभिन्न स्वरों से एक ऐसे समवेत संगीत का स्वर झंकृत हो सकता है कि सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारामंडल सब मुग्ध रह जायँ। इसके विपरीत व्यक्ति की निजता से, उनकी अपनी-अपनी

स्वार्थ-भावना से, जगत् का कर्म-चक्र चलता हो तब संघर्ष और संघात का ताण्डव मच उठे; हर दस-बीस साल बाद महासंहार की विभीषिका अनिवार्य हो उठे; लोग डरते और डराते हुए जीयें और इस डर के तले अपने को दलों में जुटाकर दूसरे का द्वेष और वैर पोसें --तो इसमें अचरज क्या !

गांधी को उसी मनोलोक का, सतयुग का या भागवत-भूमि का वासी कहना होगा। तभी है कि वह कोलाहल में संगीत जगाता है, बुराई में से भलाई उपजाता है, जड़ को चेतन करता है और संघर्ष में से सहयोग जुटाता है।

तो क्या कभी सचमुच रामराज्य होगा ? क्या ऐसा कभी होगा कि राजा वही हो जो सबका चाकर हो ? और प्रजा का हर आदमी अनुभव करे कि वह मालिक है और राजा दास है ? कि औसत आदमी इतना स्वस्थ और समर्थ हो कि दूसरे के स्नेह में अपने को समाने की ही सोचे, उससे अपना स्वार्थ साधने की तनिक भी न सोचे ? कि संक्षेप में, राजा और राज्य हो ही नहीं, सब श्रमी हों और स्नेही हों, और इस तरह से सब एक-दूसरे के प्रेरक और स्वाधीन भाव से परस्परावलम्बी हों ?

वह समय आयेगा कि नहीं आयेगा, पर गांधी तो जैसे उसी में जिये। जैसे वह अपना काल और अपना लोक साथ लेकर धरती पर आये। स्वप्न ही उन्होंने यथार्थ किया। अपनी महापराक्रमशील श्रद्धा से जिस यथार्थ को छुआ, वही उनके स्वप्न की सत्यता और शोभा से उज्जवल और मोहक बन आया।

अणु-शक्ति का यह युग है। यानी पदार्थ में की गूढ़ शक्ति का हमने उद्घाटन कर लिया है। उस पदार्थ को इस अतिशयता से उत्पन्न करना हम सीख गये हैं कि उस अतिशयता के जोर से मनुष्य की सारी चिन्ता को हमने पदार्थ-विषयक बना डाला है। विज्ञान ने हमें मशीन दी, मशीन ने अवकाश दिया, और अवकाश ने हमारी आकांक्षा और कल्पना को उत्तेजना दी। प्ररिणाम में शास्त्रों का शास्त्र बना, राजनीतिशास्त्र, और देवों का देवाधि-देव स्टेट, और मनुष्य की सारी बुद्धि इस शास्त्र और इस नवीन देवता की अचर्ना में झुक गई !

इस नवाविष्कार के नव-प्रमत्त युग में, जब मनुष्य के पास बुद्धि खूब हो गई है, तब मालूम हुआ है कि ईश्वर नहीं रह गया है। श्रद्धा अंधी ही तो है जो आस्तिक होती है। वह तत्त्व को खोलती नहीं, ढँकती है। अत: अपने मानव-गर्व को हाथ में लेकर यहाँ की सब तहों को तर्क से एक-एक करके

चीरकर और छीलकर, हमें अन्दर के परमाणु को पा लेना और प्रतिष्ठित कर देना है। ऐसे ही व्यवस्था आयेगी, प्रचुरता आयेगी और सुख आयेगा !

जब सभ्यता इस दिशा में सरपट सदियों से चली आ रही थी, तब गांधी एक बड़े प्रश्न-चिह्न की तरह आ प्रकटा। उस सरपट चाल में गाधी के कारण एकाएक स्तब्धता आ गई। अब यद्यपि पैरों की गति मानवता को उसी तरफ लिए जा रही है, फिर भी मन में उसके खलबली है और मानवता जैसे ठगी और ठिठकी-सी उधर चल रही है।

विश्व का राज-कारण गड़-गड़ाता हुआ, यद्यपि लड़-खड़ाता हुआ, अभी तक शस्त्रीकरण और अणुबमों के निर्माण में से अपनी राह बूझ रहा है। निश्चय शस्त्रास्त्र के मुँह में युद्ध है। लेकिन राज-नेताओं के और उनके राजकारण के अंतर में, जहाँ मानव-सामान्य का हृदय निवास करता है उस बहुसंख्य जनता में, गहरा संशय घर कर गया है। जान पड़ता है उस सभ्यता, यानी राजनीतिक सभ्यता, की यह आखिरी चमक है और उसे अब सदा को बुझ रहना है। एक नये युग का सूत्रपात होने वाला है और गांधी का बलिदान उसी का बीजारोपण है। उसका मर्त्य जीवन यदि समाप्त हुआ है तो इसीलिए कि मानवता के आगामी विकास में वह अमर हो उठे। गांधी से एक काल का अवसान और दूसरे कल्प का आरम्भ और उदय होता है। उसको कहें : सर्वोदय कल्प।

मानव-व्यापार में अब तक एक असिद्धि देखने में आती थी। जैसे वह सूत्र हाथ न आता था जो विभक्त मानव को संयुक्त कर दे। व्यक्ति के प्रकट कार्य-कलाप में और उसी की अव्यक्त आकांक्षा में विग्रह और विरोध रहता था। हर व्यक्ति अपने अन्दर मानसिक द्वन्द्व लिए चलता था। समूह रूप में वही विग्रह धन और जन का, शासक-शासित का, पूंजी-श्रम का, यानी दल-राष्ट्र अथवा श्रेणी-विग्रह का रूप लेता था। इस विग्रह-विरोध को खत्म करने के लिए जो उत्कट और अनिवार्य प्रयत्न हुए, देखा गया कि वे इस या उस मत (यानी व्यक्ति) की अधिनायकता में निष्पन्न होते हैं। फिर एक नाम कम्युनिज्म है और दूसरे का नाम फासिज्म या नाजीज्म, यह भाषा की बात है। अन्तर्विरोधों को हठात् बाहर से मिटाने के इन कृत्रिम प्रयत्नों से हालत सुधरी नहीं, समस्या और विषम ही हो आई। अभीष्ट और दूर ही जाता दिखाई दिया। सहसा प्रतीत होता था कि व्यक्ति जो व्यक्ति का शोषण करता है, और समूह-समूह का, सो सबका एक-सा भला चाहने और करने की नीति पर खड़ी की जाने वाली संस्था, यानी स्टेट, सब साधनों को कब्जे में

करके और विज्ञान के सब आविष्कारों की मदद से, सभी व्यक्तियों और वर्गों के ऊपर होकर, जरूर स्वर्ग धरती पर उतार ला सकेगी। पर वैसा न हुआ और स्टेट स्वयं आदमी के रक्षण के साथ आदमी का भक्षण कर निकली।

हिसाब तो साफ़ और सीधा था। पर परिणाम में उलझनें बढ़ आईं। पहले विलासी और अहंकारी लोग थे और वे हाकिम बने हुए थे, सोचा कि व्यवस्था-बुद्धि वाले बौद्धिक जन हकूमत के दायित्व पर होंगे, तब स्थापित स्वार्थों से पैदा होने वाली दिक्कतें रह न जायेंगी। सारे जीवन का राष्ट्रीय-करण होगा और इस तरह समस्याएँ काफ़ूर हो जायेंगी !

वह हिसाब सही उतरा नहीं है। जिन मशीनों को धड़ाधड़ मानव के लिए भोग्य और उपभोग्य सामग्री पैदा करना था उन्हें अस्त्र-शस्त्र बनाने में लगना पड़ा। जान की पहले रक्षा हो, तब तो और सामान बनाने की सोचें ! ऐसे जब भोग की प्रचुरता सामने थी तभी अपने बचाव का सवाल घिर आया। उन्नति करते जाने में हम उससे दुगुनी जो दुश्मनी पैदा करते जाते हैं, उसका पता न रहता था। लेकिन ऐन वक्त पर वह चीज सामने आ गई !

परिणाम यह है कि धन जितना बढ़ा है, दीनता भी उतनी ही बढ़ी है। उन्नति उतनी ही हुई है जितना वैर और हथियार बढ़े हैं। निश्चय ही हम दैन्य और वैर बढ़ाने के लिए उधर नहीं चले थे। क्या पिछली दो लड़ाइयाँ इसीलिए नहीं लड़ी गई थीं कि लड़ाई का अन्त होगा और सुख-चैन का रास्ता खुलेगा ? युद्ध में हजारों-लाखों का मारना ऐसा ही तो नहीं है, जैसा कसाईखाने में जानवरों का जिबह करना। नहीं, उसमें अंतर है, विशेषता है। लोग तब सिर्फ मारते नहीं हैं, बल्कि अपने लेखे विकास का, पराक्रम का, यश का काम करते हैं। मानों जोखम उठाकर वे तो कर्त्तव्य की राह की बाधा को हटाते हैं। यानी एक आदर्श महत् भावना के सहारे ही युद्ध लड़ा जाता है। इस तरह एक बड़ा साहित्य और एक लम्बी परम्परा बन गई है जो युद्ध की हिंसा को चित्ताकर्षक बनाती है। वहाँ मारने को वीरता और मारते हुए मरने को अमरता कहा जाता है। ऐसे महत् गर्व के भाव से लोग सामने वाले को दुश्मन कहकर एक-दूसरे का गला काटने का काम करते रहते हैं।

जरूर उस हिसाब में चूक है। जरूर वहाँ कुछ छद्म और छल है जहाँ एक-दूसरे की हत्या धर्म बन जाती है। वह छल कहाँ है, पकड़ में न आता था। धार्मिक जन थे और धर्मशास्त्र थे, पर वे तो सिद्धान्त की दुनिया के लिए थे। काम-काज की और मेरे-तेरे की दुनिया में वे बेकार साबित

होते थे। सन्त इस तरह स्वतन्त्र था कि वन में या कुटिया में सन्त बना रहे और शास्त्रों को भी अवसर था कि स्वर्गिक सिद्धान्तों की अर्वाचीन व्याख्या से वे भरे-पूरे रहें। जैसे असल जगत् उनसे अछूता था और उसके अलग नियम थे।

गांधी ऐसे समय सिद्धान्त में से नहीं, ठेठ व्यवहार में से आविर्भूत हुआ। वह बैरिस्टर था और मामले-मुकदमे निपटाता था। उसकी व्यवहार की अनोखी सफलता ही गतानुगतिकता को चुनौती बनी। उसने बताया कि साधन नहीं है भिन्न साध्य से, और एकता लाने के लिए विग्रह की या सुरक्षा लाने के लिए हिंसा की राह चलना भूल और भ्रम है। कल जो हम फल चाहते हैं, आज बीज उसी के बोने होंगे। एक अनेक से अलग नहीं है, इसलिए समाज के सुधार या परिवर्तन के लिए अपने सुधार-परिवर्तन से शुरू करना होगा। दूसरा वही है जो मैं हूँ, इसलिए अपनी इज्जत के लिए दूसरे की इज्जत करनी होगी। अपने मत के लिए दूसरे के मत की रक्षा करनी होगी। परिवर्तन आयेगा तो बाहर से नहीं, सबके अन्दर से वह आयेगा। इसलिए असल परिवर्तन हृदय में, और हृदय का होना है। और वह किसी संख्या के, शस्त्र के या मत के बल से नहीं होगा, आत्मा के बल से होगा। यानी कष्ट-सहन और क्षमा की शक्ति से वह परिवर्तन होगा।

बातें ये नई न थीं। प्राचीनता जितनी पवित्र और सुन्दर थीं। सिद्धान्त के समान वे ध्रुव थीं। लेकिन गांधी ने अपने रक्त से उन्हें अंगारे की तरह जीता बनाया। धड़कते दिल की तरह वे हरेक में जा बैठीं। उनकी सचाई की साख सब के अन्दर से आप ही जग आई। परिणाम यह कि सीधे-सादे हाड़-मांस के लोग गांधी के स्पर्श से ऐसी ऊँचाई तक उठ आये कि पीछे स्वयं उनको ही विश्वास न होता था। एक समूचे देश ने गांधी के जादू के नीचे शान्त रहकर एक जबरदस्त साम्राज्य को जीता और आजादी पाई। साबित हुआ कि आदमी में कितनी भी दुर्बलता हो, बर्बरता भी हो, लेकिन गहराई में उसके देवत्व भी पड़ा हुआ है।

परम मूल्यों और ध्रुव सिद्धान्तों का गांधी के हाथों यह जीवित पुरस्कार, और संघर्ष की राजनीति में धर्म की नीति का यह सफल प्रयोग, बीसवीं सदी की दुनिया के लिए अनोखा है। उसने एक बार उस खाई को पाट दिया जो धर्म और कर्म को अलग रखे हुए थी। व्यवहार ही अध्यात्म का क्षेत्र बना और राजनीतिक शास्त्र में रामराज्य के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। भारत जैसे महादेश की सक्रिय राष्ट्रनीति को चलाते हुए भी उन्होंने

रामराज्य की टेक रखी : रामराज्य राजशाही या लोकशाही आदि कुछ भी नहीं है। वह तन्त्रबद्ध नहीं है। उस राज्य के अर्थ को यहाँ तक खींचा जा सकता है कि वह राज्य-जैसा रहे ही नहीं।

इस तरह गांधी राज-कारण को चलाते हुए भी संगठित और केन्द्रित सत्ता, यानी स्टेट, को विकेन्द्रित भी करते गये। सत्ता की अपेक्षा व्यक्ति को उन्होंने अधिक ही महत्व दिया और कहा कि हुकूमत की सफलता इसमें है कि वह रहे ही नहीं। उस जीवन-क्रम को उन्होंने घटित करके बताया जहाँ आत्यन्तिक व्यवस्था रहती है, फिर भी अलग से कोई व्यवस्थापक आवश्यक नहीं होता। आदर्श समाज स्वयं अपने भीतर से नियमित होगा, बाहरी नियामक उसके लिये अनावश्यक हो रहेगा।

गांधी जी संक्षेप में उस जीवन-नीति के मूर्त उदाहरण हैं जिस पर व्यक्ति और समाज का आगामी निर्माण होगा। उस नीति के कुछ ये सूत्र बन सकते हैं :—

(१) आवश्यक है कि व्यक्ति का बाह्यकर्म उसके अन्त:करण से टूटा हुआ न हो। प्रेरणा उत्तरोत्तर व्यक्ति को अपने अन्तरतम से प्राप्त करनी चाहिए व्यक्ति के अन्तरतम में ईश्वर का निवास है। इसलिए जो वहाँ से अपना आदेश और नियम प्राप्त करता है वह सतत कर्मी होकर सर्वथा निर्लिप्त बनता है और इस तरह उसका स्वल्प-कर्म अतुल फल देता है।

(२) इन्द्रियों को बुद्धि में, बुद्धि को मन में, मन को आत्मा में युक्त करके जो विराजता है, वह जगत् को प्राप्त करता है।

(३) सत्य ही एक है, इसलिए अपने से शेष के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध अहिंसा का ही हो सकता है। ऐसे ही सत्य का साक्षात्कार सम्भव है।

(४) तत्पर अहिंसा, यानी सक्रिय सेवा, बिना सिद्धि नहीं। भक्ति उसी सकर्मक रूप में उपलब्धि बनती है।

(५) मनुष्य जैसे भोजन बिना नहीं जी सकता, वैसे ही श्रम बिना उसे जीने का हक नहीं आता। श्रम से वह भोजन-वसन ले। यह श्रम सेवामय और यज्ञार्थ ही हो सकता है। ऐसा न करके जो लेता है वह चोरी करता है।

(६) मानव-सम्बन्ध अहिंसा पर बनेंगे तो उनके बीच श्रम का और श्रम के फल का आदान-प्रदान जहाँ तक हो सीधा और सुलभ होगा। उपज और खपत के बीच विनिमय के माध्यम के तौर पर श्रेणी को और सिक्के को आने की कम-से-कम आवश्यकता होनी चाहिए।

(७) समाज की रीढ़ है उत्पादक श्रमिक। पदार्थ का सच्चा मालिक भी वही है। शेष उसके बाद आते हैं। इस तरह व्यवस्थापक और हाकिम बोझ हैं, जिनको शनैः शनैः हटना और स्वयं श्रमिक बनना है।

(८) प्रकट हिंसा अन्दर के द्वेष और वैर आदि का परिणाम है। व्यक्तियों, श्रेणियों और समूहों में विग्रह और प्रतिस्पर्धा का सम्बन्ध भ्रान्त है। उस आधार पर प्राप्त किया गया कोई परिवर्तन शुभ और स्थायी नहीं हो सकता।

(९) अनीति और अधर्म से युद्ध ठानना ही जीवन की प्रगति है। अनीति का नैतिक होकर और अधर्म का धार्मिक होकर ही सामना, या प्रतीकार किया जा सकता है। उसका उपाय है आपसी विचार-विनिमय, कष्ट-सहन और फिर आवश्यक होने पर असहयोग और सत्याग्रह।

(१०) दूसरे को कष्ट देकर उसे बदला नहीं जा सकता। कष्ट सह कर ही उसमें हृदय परिवर्तन लाया जा सकता है। क्योंकि अन्त में वह मुझसे भिन्न नहीं है, इससे मेरी सच्ची व्यथा उसे छुए बिना न रहेगी। फिर भी वह काम राम का है और अपनी व्यथा में से मैं अपनी शान्ति पाता हूँ, यही मेरे निकट उपलब्धि है। उपवास इसी आत्म-पीड़न की धर्म-नीति का एक रूप है।

(११) भाषा, भूगोल, रीति-नीति, आचार-व्यवहार आदि से हमारे बीच अन्तर पड़े हुए हैं, उनको मान देकर भी हमें अविचलित श्रद्धा रखनी चाहिए कि सब हम एक ही कुटुम्ब के हैं और सब अपनी-अपनी भाषा और धर्मों के द्वारा एक ही भगवान् को पूजते हैं। जीना-मरना भगवान् की इच्छा से होता है। इससे मृत्यु को हिसाब में लाकर सीधे से टेढ़े हम नहीं जा सकते। मृत्यु तो मित्र बनकर आती है और उसे हँसते हुए भेंटना है।

(१२) झंझटें ज्यादातर नासमझी से होती हैं। इससे धीरज और दूसरे में विश्वास नहीं खोना है। विश्वास रखने से व्यक्ति विश्वसनीय बनता है। और ऐसे कोई ठगाया भी जाय तो हानि नहीं है।

संयुक्त व्यक्तित्व का साधन-सूत्र सदियों से खोजा जा रहा है। भारत में जिसे योग-साधना कहें, वह यही व्यक्तित्व का एकीकरण है। मानसशास्त्री आभास पाते रहे हैं कि व्यक्तित्व अगर अपने में पूरी तरह गठ जाय तो उसमें से कितनी न विराट् शक्ति प्रस्फुटित होनी चाहिए। अणु के अन्तर्भेदन से जो शक्ति आज प्राप्त करली गई है, वैज्ञानिकों को कई पीढ़ियों से उसका अनुमान था। विभक्त अणु की संयुक्त-मानव की तुलना में बिसात ही क्या है? मेरा मानना है कि इस सम्पूर्ण एकीकरण, अखंडीकरण का ब्यौरेवार विज्ञान

शोधक को गांधी जी के जीवन-प्रयोग से प्राप्त हो सकता है। उनकी वाणी और लेखनी में उसकी टीका भी पूरी मिल जाती है। सत्य का यह समग्र और वैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण आविष्कार है कि उसके प्रकाश और परिणाम में सहस्राब्दियों तक अनेकानेक शास्त्र, साहित्य, और संयोजनाओं को स्वरूप मिला करेगा और मानव मानवोत्तम बनने की राह पाता रहेगा। ●

गांधी का आविर्भाव : नये युग का आरम्भ

●

गाँधीजी ने अपने में जीवन के सभी पहलुओं को सिद्ध करने का यत्न किया। इस दृष्टि से स्वाभाविक यह प्रश्न है कि क्या गांधी जी के जीवन को सामने रखकर हम बता सकेंगे कि उनके ब्रह्मचर्य और उनकी ब्रह्मोन्मुखता का क्या स्वरूप था ? किस प्रकार वहाँ उन्होंने ब्रह्म को पाया ? इसके उतर में मैं तो यही कहूँगा कि गांधी जी पर मैं अधिकार नहीं रखता हूँ। सम्मति देना भी विवाद उपजाना होगा। इसलिए उससे भी बचना आवश्यक है। अभी गांधी इतिहास के पुरुष हैं। शुद्ध धर्म के बन नहीं पाये हैं कि जिनसे प्रकाश मिले, स्वार्थ और संसारिक का नाता सब छूटा ही रहे। अभी तो देश-काल के प्रति मिले लाभ में से हमने उन्हें देखा और लिया है। जब केवल आत्मलाभ की भाषा ही शेष रह जायगी तब उस अवगाहन में जाना निश्शंकित हो सकेगा।

एक बात अवश्य कही जा सकती है और वह प्रकट है। जगत के सुख-दुख के विग्रह में से ही यदि उन्होंने किया तो ब्रह्म का लाभ किया। सेवा की वृत्ति और चर्खे के उपकरण पर जो उनका बल रहा उससे यह भी देखा जा सकता है कि हर दूसरे में, अथवा शेष समस्त इतर में, उन्होंने ब्रह्म को खोजा और देखा। जगत् से कटकर किसी अलग ब्रह्म की शोध उनमें नही थी। ब्रह्मचर्य की अपेक्षा में यह भी गांधी जी में देखा जा सकता है कि स्त्री से दूरी उन्होंने नहीं चाही और नहीं बनाई। बल्कि उनको लेकर घर-घर से देवियाँ निकलीं और पतिधर्म से उठकर बलिधर्म अपना रहीं। स्त्री को स्त्रीत्व से आगे व्यक्तित्व देने में गांधी जी से बढ़कर शायद ही कोई इतिहास का चरित्र ठहर सके। यह महिमा मेरी दृष्टि में उनके ब्रह्मचर्य की ही थी। स्त्रियाँ उनके पास नितांत निरापद और सुरक्षित ही अनुभव नहीं करती रही होंगी, बल्कि वे अपनी अंतर्ग्रंथियों से भी वहाँ मुक्त बन आती होंगी। नहीं तो उस मोहिनी को समझा नहीं जा सकता है जो कुलीन से कुलीन, दर्पी एवं

संभ्रमशील महिलाओं को बेसुध बना डालती थी।

गांधी जी चार पुत्रों के पिता और पत्नी के कामासक्त पति रहे थे। स्त्री के स्त्रीत्व को समझने का उन्हें अवसर नहीं आया, यह नहीं कहा जा सकता। शुकदेव की तरह उन्हें किसी तरह नहीं माना जा सकता। अतः उनका ब्रह्मचर्य अबोधता का नहीं हो सकता था। स्त्री के स्त्री ही होने का पता जिसे न चले, ऐसा शायद कोई ब्रह्मचारी हो सकता हो तो गांधी वैसे ब्रह्मचारी न थे। फिर भी वह अबाध ब्रह्मचर्य ही हो सकता है जिससे उनके महात्मापन के यज्ञ में अनेकानेक विदुषी, मानिनी कोमलांगिनियाँ अपनी सब सम्भावनाओं को तिलांजलि देकर आहुत होने बढ़ आई। क्या शक्ति थी कि रेशम छोड़कर सुन्दरियों ने टाट पहना, विलास छोड़कर कष्ट अपनाया और भोग से पलट के सेवा में अपने को स्वाहा किया। निश्चय ही यदि यह ब्रह्मचर्य था तो वह प्रेम से स्निग्ध और आकर्षक रहा होगा, वह प्रखर तथा प्रचण्ड और वर्जनशील ब्रह्मचर्य न था। कुछ मानों में वह उससे बिलकुल उलटा ही था कि जो स्त्री को निमंत्रण देता था और उसके लिए परम अभ्यर्थनीय और वरणीय होता था। जो हो, मैं मानता हूँ कि वह ब्रह्मचर्य असल था और सफल था।

अब तक गांधीजी के जीवन के प्रगट पक्ष पर ही विशेष प्रकाश पड़ा है। मेरे मन में प्रश्न है कि क्या यह उनका ब्रह्माचार ही न था जिससे आकर्षित होकर एक राष्ट्र क्या सारा संसार ही मानों उद्वेलित और तरंगित हो गया? भारत में तो लाखों लोगों ने उनके इशारे पर अपने प्राणों को होम दिया। और करोड़ों जीवन मूल से मथे जाकर निखर आए। इस ब्रह्माचार पर कुछ प्रकाश डालने की बात भी कही जा सकती है। परन्तु इसके जवाब में तो मैं यही कहूँगा कि मैं इसको उनकी संगठन-क्षमता नहीं, ब्रह्मचर्य-क्षमता का फल मानता हूँ कि देश और संसार उनके पीछे उमड़ पड़ा और अपने को होम देने की लालसा से उद्दीप्त हो उठा। संगठन तो कांग्रेस का था और वह संगठन अंतिम दिनों में उनसे बिछुड़ ही नहीं गया, बल्कि उलटा चल निकला। संगठन की भूमिका पर सफलता-विफलता को चाहे जैसे देखा जाय, उनकी चुम्बकीय शक्ति से इन्कार नहीं किया जा सकता।

हम सभी अपने को देते और दूसरे को अपने में लेते हैं। इसके साधन हमारे पास हुआ करते हैं शरीर और मन। निश्चय ही इन साधनों से परादान और आत्मप्रदान अंश भर हो पाता है। मन पूरी तरह दिया नहीं जाता, न अपने में लिया जा सकता है। शरीर द्वारा प्राप्ति तो इतनी खंडित और

क्षणिक होती है कि तभी ऊब हो आती है। गांधीजी के पक्ष में जीवन का यह देन-लेन का व्यवहार समग्र और आत्मिक भाव से हुआ। आत्मता एक के द्वारा सबको मिलती है, उसी तरह एक के द्वारा सबको प्राप्त होती है। चल-घूम कर उन्होंने विश्व को चुकाना नहीं चाहा। न एक-एक से मित्रता बनाने का कार्यक्रम रखा। बल्कि विदेश, वर्ग और व्यक्ति का विरोध या निरोध में भी उन्हें कठिनाई नहीं हुई। जो हुआ वह यह कि शत्रु-मित्र, स्वदेश-विदेश की भाषा के नीचे उन्होंने अपने को आत्मता द्वारा दिया और प्रत्येक को उसी आत्मता द्वारा ग्रहण किया। परिणाम यह हुआ कि वैयक्तिक कर्म से वह राष्ट्रीय बन गये और राष्ट्रीय कर्म से सार्वभौम बन गये।

आप देखेंगे कि यह किसी कोरे रागात्मक प्रेम का कार्यक्रम न था। ऐसा होता तो गोली से उन्हें न मरना पड़ता। न उम्र-भर बार-बार जेलों में जाना पड़ता। असल में सेवा यदि व्यक्ति की थी तो प्रेम एक मात्र सत्य का था। इसलिए एक-एक व्यक्ति को या देश को अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। सब उनके बनते चले गये तो इसलिए कि सत्य में सब आप ही एक होकर समाये हुए हैं। लेकिन प्रेम सत्य का था, इसीलिए यह घटना घटी कि अनेक को उनसे अप्रेम मिलता हुआ मालूम हुआ और अनेक का उन्हें अप्रेम ही नहीं, द्वेष तक मिला। मैं इसको बहुत महत्वपूर्ण गिनता हूँ कि उनकी मृत्यु हुई नहीं, की गई। महत्वपूर्ण इसलिए कि मनुष्य की ओर से की जाती है, होती ही केवल ईश्वर की ओर से है। ईश्वर की ओर से जो अमर-तत्त्व का प्रतीक होकर आए उसे मारने वाला मनुष्य का स्वयं अहंकार हो, यही उचित जान पड़ता है। इससे मानो समस्त जीवन-दर्शन खिल उठता है।

बिजली तड़कती है तो काला आस्मान ज्योति की रेखाओं से एक साथ दरक जाता है। इसी तरह काल ऐसे अकाल-पुरुषों से चमककर मानो अपने में तरेड़ देकर टूट रहता है। काल बीच से फट जाता है और इस पुरुष का आविर्भाव नये युग का आरम्भ बन जाता है। यह मुझे उचित और संगत से आगे अनिवार्य लगता है कि अकाल पुरुष की अकाल मृत्यु हो। ऐसी ही मृत्यु से काल मानो अमरता को अपने बीच अवकाश देने को विवश होता है।

स्पष्ट है कि अकाल मृत्यु तभी हो सकती है जब व्यक्ति से प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वेष की ऐसी शक्ति का उद्भव हो जो उद्विग्न और विचलित होकर हत्या और हिंसा पर उतारू-हो जाय। यह प्रक्रिया मानो मूल शिव-शक्ति के अभिनन्दनस्वरूप घटित होती है।

अकाल मृत्यु को मैं महिमान्वित करना चाहता हूँ, ऐसा मतलब आप

न लें। यीशु के साथ चोरों ने भी फाँसी पाई थी। मतलब यह कि जिनको शीर्ष और केन्द्र में लेकर तीव्र प्रेम और तीव्र द्वेष जगत् को मथता हुआ ऊपर आ उठता है, वे मानो परमेश्वर की ओर से मानवता के आत्म-मंथन के निमित्त भेजे हुए अवतारी पुरुष ही होते हैं। उस कृती के उदाहरण से जगत् आत्म-दर्शन और आत्म-लाभ का अवसर पाता है। मानो उस उपलक्ष से आदितत्व अपने अनादि द्वंद्व में जूझते हुए दीख आते हैं। राम-रावण, पांडव-कौरव, धर्म-अधर्म का युद्ध चाक्षुष-जगत् में प्रत्यक्ष हो जाता है।

गांधी के जीवन के साथ वही मृत्यु मेल खाती है जो उन्हें मिली। मानो वह उनके जीवन-पाठ को परिपूर्णता दे देती है। प्रेम को अहिंसा कह सकते हैं, लेकिन सत्य के बिना सब अधूरा है, यह पाठ उस मृत्यु से अमोघ बन आता है। संभव था कि जीवन-द्वारा वह कुछ ओझल भी रह जाता और हम उस महात्मा के लोक-पक्ष को ही देख पाते। मृत्यु से मानो उसके अलौकिक पक्ष की पीठिका भी स्पष्ट हो जाती है।

आप कह सकते हैं कि तब क्या प्रवाहमान जगत् में निहित प्रवाहमान जीवन-सत्य ही ब्रह्म है? जीवन-जगत् से बाहर क्या और कुछ भी शेष नहीं माना जा सकता?

तो मैं कहूँगा कि हाँ, जो कहो सही है। जो कहो थोड़ा है। लेकिन जीवन और जगत् से बाहर जो हो उससे जीवन और जगत् स्वयं बाहर हो जाएँगे। जिससे जीवन बाहर और जगत् बाहर हो, ऐसा ब्रह्म क्या! पर जीवन और जगत् को बाहर में परिधि रूप जो देखने के हम आदी हैं सो उसमें यह न भूल जाएँ कि भीतर से और भीतर, और उसके भी और भीतर केन्द्र तक पहुँचने का सदा ही अवकाश रहने वाला है। अस्मि अस्ति के पार की वह अवस्था है। या अस्ति नास्ति के पार की कहो। ब्रह्म परात्पर है। वह स्व है, वह पर है, वह स्व-पर के पार है। अर्थात् जिन शब्दों में भी लो चाहो उसे लेकिन लेने के लिए ही उन शब्दों को मानो। शब्दों में अटको नहीं। कारण, शब्द से जो सूचना मिलती है वह वस्तुगत हो जाती है अनुभूति की नहीं रहती है। अनुभूति उपलब्धि है। वहाँ शब्द मौन है। प्रवाहमानता भी मानो वहाँ शांतता हो जाती है। ●

गांधी जी का अखंड योग

•

गांधी जी के बारे में बहुत लिखा गया है । उनका काम हर तरफ़ फैला है और उसके अनगिनती पहलू हैं । उनके दान को शब्दों में बाँधना ऐतिहासिक के लिये आसान नहीं होगा । कोई क्षेत्र नहीं जिसमें उनका असर समाया न हो । उनका प्रकाश दूर तक और हर कोने में पहुँचा है । उनकी छाप समय पर गहरी है और हिन्दुस्तान के तो इस चौथाई सदी का इतिहास उन्हीं की साँस से बना है ।

लेकिन उनके बाहरी काम और असर के जरिये गांधी जी की असलियत तक पहुँचने में कठिनाई भी हो सकती है । धूप में सूरज को देखने में आँखों में चकाचौंध समा जाती है । तब सूरज ठीक-ठीक नज़र नहीं आता । उसी की रोशनी की झलझलाहट हमें उससे परे रखती है । इसलिए अक्सर लोग, धूप पाकर जिनका सूरज से मनोरथ समाप्त नहीं होता और जो उससे आगे भी सूरज की सचाई पाना चाहते हैं, उपाय करते हैं जिससे सूरज और उनके बीच की धूप उन्हें आँखों न लगे । ऐसे ही मुझे प्रतीत होता है कि गांधी जी की असलियत को पाने के लिए उजागर राजनीति में से न देखना, या या उससे असंलग्न होकर देखना, ज्यादा ठीक होगा । उनके आन्दोलन अथवा उनकी संस्थाओं में से उन्हें देखना धुएँ में से आग, या कलेवर में से आत्मा को देखने के समान हो सकता है ।

हमारी भाषा स्वार्थ की है । भाषा का प्रयोग है कि अमुक ने हमें प्रकाश का दान दिया । कृतज्ञता से यह कहना कठिन ही है । पर सत्य में हम जानते हैं कि प्रकाश जो देता कहा जाता है, खुद में तो वह जलता ही है । प्रकाश को वह नहीं जानता, जलने को ही जानता है । प्रकाश इस स्वयं जलने का ऐसा प्रतिफल है कि जिसमें अपने-आप में कोई अभीष्टता नहीं है, केवल एक अनिवार्यता है ।

गांधी जी के जमाने में रहकर हमारे लिए सम्भव नहीं है कि हम उनके प्रति कृतज्ञता की भाषा से बच सकें । उन्होंने हमको हमारी मनुष्यता की

सुधि दी है। हमारी आँखें खोली हैं। उस हिन्दुस्तान में हम रहते हैं जिसकी रगों में उन्हीं के जगाये प्राण दौड़ रहे हैं। इससे अभिनन्दन और अनुगमन द्वारा हम गांधी को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं।

लेकिन अगर हम कृतज्ञता के भाव से ऊपर जा सकें और गांधी जी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा। तब शायद भय से हमारा मन रुक जायेगा। नेता मान कर उनके प्रति जय-जयकार का गुञ्जार तब हमसे कदाचित् न फूटेगा। बल्कि हमारा हृदय एक गम्भीर अनुकम्पा और अज्ञात भीषिका से भर आयेगा। हमारी आँखें तब भीग आयेंगी और लगेगा कि हमारी नीचे की धरती शून्य हो गई है और एक अतल में हम खोए जा रहे हैं।

गांधी जी का बाहरी रूप मोहक है। लेकिन उनकी भीतरी की यथार्थता थर्रा देने वाली हो सकती है। वहाँ एक ऐसा महाशून्य है कि जिसकी थाह नहीं और बिरले को उसमें झाँकने की हिम्मत हो सकती है।

व्यक्ति जो करता है वह उसी का रूप है जो वह है। होना ही करना है। कर्म का मूल भाव में है। इससे उसकी पहिचान भी वहीं है। यानी आदमी के महत्व की परख इसमें नहीं है कि वह क्या करता है, बल्कि वह तो इसमें है कि वह क्या है।

इसी भाँति गांधी जी की यथार्थता राज-कर्म में नहीं भाव-धर्म में देखनी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाव-रूप। इससे धर्म-प्राण होकर ही राजनीति सत्य है, अन्यथा वह प्रपंच है। धर्म से विहीन कर्म बन्धन की सृष्टि करता है। वैसे कर्म के मूल में अकर्म नहीं रहता, अहंकार रहता है। गांधी जी का कर्म स्वभाव-सहज है। यहाँ तक कि उसका कर्तृत्व भी गांधी जी पर नहीं है। बड़े-से-बड़ा काम इसीसे उनकी नींद को अटका नहीं पाता है।

इस प्रकार गांधी जी का कर्म गांधी जी का माप नहीं है। इस जगह वह सब देशों और इतिहासों के राजपुरुषों से अलग हैं। राजकीय महापुरुषों का कर्म विराट् किन्तु व्यक्तित्व संकीर्ण होता है। मानो उस कर्म की वृहत्ता के पीछे मन-प्राण की संकुचितता छिपी रहती है। किया जाने वाला काम देश-देशान्तर-व्यापी, किन्तु करनेवाला मन अहम्-सीमित होता है। धार्मिक पुरुषों की बात इससे न्यारी है। कर्म ऐसे व्यक्ति के पास शून्यवत् है और भाव पर उसके कोई निजता की सीमा नहीं रह जाती। इससे ऐसे व्यक्ति का स्वल्प कर्म कालान्तर में बृहत् फल उत्पन्न करनेवाला हो जाया करता है।

गांधी जी दूसरे अधिकांश प्रसिद्ध कर्मण्य पुरुषों से इस जगह पृथक् है।

छोटे काम या बड़े काम जैसी संज्ञा उनके पास नहीं है। काम कोई भी छोटा नहीं है, इसीसे न कोई बड़ा है। असल में आन्तरिकता से पृथक बाहरी काम जैसी वस्तु ही उनके पास नहीं है। यह उनकी विशेषता संसार के कार्मिक पुरुषों से उन्हें अलग करके इतिहास के आप्त और मुक्त पुरुषों की पंक्ति में रख देती है।

गांधी जी की सम्पूर्ण सत्यता की झलक के लिए उनके रचनात्मक कार्यक्रम के अध्ययन से अधिक उनकी निष्ठा के मनन की ओर झुकना होगा। क्या वह यज्ञज्वाला है जिसमें कि उनका क्षण-क्षण जलता और उजलता हुआ बीतता है? क्या व्यथा है जो उन्हें धारण रखती है? अचूक और हर दिन प्रातःसन्ध्या प्रार्थना के रूप में उस व्यक्ति में से उच्छ्वसित होनेवाली वेदना क्या है? वह राम-नाम की रटन प्रकृति में क्या है जो इधर पैंतीस वर्षों से दिन-रात के किसी पल उनमें नहीं थम पाई है? मेरा आग्रह है कि इसी अज्ञात और अज्ञेय महारहस्य में गांधी जी के व्यक्तित्व की सचाई निहित है।

राज-कर्म में तो वह विरोधाभास के पुञ्ज हैं। जगत् के प्रति असंख्य उनके पहलू हैं। उस ओर से वह एक पहेली हैं, प्रश्न हैं, अचरज हैं। वहाँ वह एक ऐसी विचित्रता हैं, जिसे एक-सी उपयुक्तता के साथ विक्षिप्त और अलौकिक कहा जा सकता है। बुरे-से-बुरे और अच्छे-से-अच्छे विशेषण को उनसे लौटना नहीं होता, सब विशेषण उन पर ठहर सकते हैं—वह असाधारणता ऐसी है। किसी के निकट वह धूर्त तो दूसरे के निकट वे महात्मा हैं। पर वह निर्विशिष्ट क्या है जहाँ सब विशेषण छूट रहते हैं और निपट निजता ही उनकी बच रहती है?

मेरी प्रतीति है कि उनके व्यक्तित्व की सत्यता वहाँ नहीं जहाँ नानाविध कर्म में वह विभक्त हैं। बल्कि उस जगह है जहाँ वह अपनी निष्ठा में संयुक्त और अखण्ड हैं। राजनीति में गांधी जी समय की भाँति चंचल और प्रवाही है। बहुत उनके रूप हैं और अपने ही वाक्यों से वह बँधे हुए नहीं हैं। वहाँ वह माया के समान रपटीले हैं। पर कहीं अवश्य वह अविचल और ध्रुव हैं, और वहीं उनके व्यक्तित्व के व्यूह की कुञ्जी भी है।

धर्म और राजकारण प्रकटतः दो हैं। एक है नित्य सिद्धान्त दूसरा है सामयिक व्यवहार। एक की परिभाषा काल से अछूती है, दूसरे की भाषा पल-पल बदलती हुई काल-गति से बनती है। पहले धर्म की राह पर सन्त सुनसान की ओर गया है, और दूसरे की सिद्धि में सरदार को घमसान में

बढ़ना हुआ है। सन्त और सरदार के आदर्शों में विरोध रहा है। एक का सत्य दूसरे के लिए मिथ्या हो रहा है। धर्म-विश्वासी ने जगत् को माया कहकर उसपर आँख मूँदी है और तलवार के अभ्यासी ने ईश्वर की ओर पीठ देकर जगत् को बस में किया है।

इन दोनों राहों के राहियों को समझने में हमें दिक्कत नहीं होती। उन दोनों का द्वैत जैसे दोनों को स्पष्ट करता है। पर गांधी जी के व्यक्तित्व में इतना निपट अद्वैत है, ब्रह्म और जगत् में इतना ऐक्य है, कि द्वैत से प्रकाश पानेवाली बुद्धि गांधी के आकलन में असमर्थ हो रहेगी। श्रद्धा-संयुक्त बुद्धि, जो अज्ञेय को क्षोभ में इन्कार नहीं कृतार्थता में स्वीकार करती हैं, योग से ही गांधी की समन्वित सत्यता को हृदयंगम किया जा सकेगा।

गांधी जी को कर्म के क्षेत्र में ही सम्भवतः सबसे अधिक अनुयायी मिले हैं। धर्माचार्यों की पंक्ति में गांधी नहीं हैं। निस्संदेह कर्म-निवृत्ति को उनसे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती। इस कारण नहीं कि धर्म से अधिक कर्म पर उनका जोर है, बल्कि इसलिए कि धर्म की साधना उनके निकट कर्म-हीनता में नहीं सतत् कर्म-मयता में ही है।

आध्यात्मिक अकर्म की सिद्धि उनके लिए सेवा-प्रेरित अजस्र लौकिक कर्म में ही है। इससे वह लोक (कर्म) प्रवर्त्तक से अलग कोई धर्म-प्रवर्त्तक नहीं हैं। पर सामान्य अर्थ में लोक नेता भी वह नहीं हैं। लोक-कर्मी उनसे परेशान ही अधिक हैं। उद्योगीकरण का उनसे विरोध ही हुआ है, और शक्ति-स्फीत कर्म के उफान को उन्होंने सदा ठंडे छींटें दिये हैं। स्पष्ट है कि लोक-कर्म के माध्यम से उनके जीवन के अविकल सत्य को प्राप्त करने में भूल हो सकती है।

मेरे मत से उनकी साधना अखंड योग की है। स्वार्थोपयोगी से अधिक सत्यशोधी की दृष्टि से यदि देखेंगे तो उनके राजनेतृत्व के पार उनके आत्म-योग-साधन पर ही हमारी निगाह ठहरेगी। उनका योग शास्त्रीय नहीं साहजिक है; ऐकान्तिक नहीं अखण्ड है। जीवन के परिपूर्ण ऐक्य का वह प्रतीक है। उनकी साधना में जगत् और ब्रह्म का अन्तिम द्वन्द्व भी लय को प्राप्त होता है।

उस योग का सार है कि अपने में अखंड और युक्त बनो। मन, वचन और कर्म में अन्तर न रहने दो। विचार, उच्चार और आचार एक और अभिन्न होवें। इस अभ्यास में उत्तरोत्तर मनुष्य-पात्र प्राणि-मात्र के साथ एकता की

नुभूति होगी। इसी में उस परमात्मा के साथ योग का लाभ होगा जो सब व्याप्त है। इसो में से व्यक्ति, देश और जगत् की मुक्ति सिद्ध होगी। समें कर्म ह्रस्व नहीं होगा, उस पर से व्यक्ति की निजता की सीमा उठ ायगी। तब स्थूल-कर्म पूजा के समान पवित्र और व्यक्ति-कर्म प्रकृत परमात्म) कर्म के समान मुक्त, गंभीर और विराट् होता जायेगा। ●

अगर गांधी जी होते ?

●

अगर गांधी जी होते ?—यह ठाली की कल्पना कुछ इस आदत का परिणाम है कि हम गांधी जी की तरफ देखते रहे हैं। उस जिज्ञासा के मूल में शायद यह भाव हो कि वह होते तो हमारे कन्धों पर हमारा ही बोझ न आ रहता।

फिर भी आपने उस ढंग से वह प्रश्न सामने ला रखा है तो अनुमान को उधर ले जाना उपयोगी भी हो सके, ऐसा लगता है।

गांधी जी कुछ थोड़े काल इस धरती पर नहीं रहे। सामान्य से काफी ज्यादा उन्होंने आयु पायी और यह सारा जीवन सतत् कर्म से भरा रहा। विश्राम और बीमारी का लाभ औसत से उन्हें बहुत ही कम मिला। उनके इस तमाम जीवन-विस्तार में, आदि से अन्त तक, एक सूत्र व्यापा हुआ देखा जा सकता है। गांधी जी का जीवन जैसे उतना अपना न था, अतः बिखरा और बँटा न था; जितना भगवान् का था, इससे एक लोकोत्तर लगन में पिरोया हुआ था। मानो एक सिद्धान्त, एक जीवन-नीति, एक जीवन-दर्शन का वह प्रयोग मात्र था, उसका स्पष्टीकरण, चित्रीकरण था। मानव-धर्म का वह एक भाष्य था। और मैं मानता हूँ कि उस जीवन को विराम ठीक वहां मिला जहाँ भाव और अर्थ की दृष्टि से गांधी-वाक्य भी विराम पर पहुँच रहा था।

जीवन को यज्ञ बनाना होगा और मृत्यु को उसका अन्तिम अर्घ्य। जैसे यही सन्देश गांधी जी ने अपने चरित्र द्वारा लिखा और अपनी मृत्यु द्वारा उसको यथोचित विराम दिया।

जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, कोई समस्या अछूती नहीं बचती। जैसे हर कुछ गांधी जी के उदाहरण में खुलता हुआ देखा जा सकता है। समस्या – व्यक्ति की, समाज की या राज की—कौन ऐसी रहती है जिसके हल की तरफ संकेत वहाँ न हो। यों समस्याएँ स्वयं में समाप्त कभी होने वाली नहीं हैं। ऐसा हो तब तो जीवन का अन्त भी हुआ मानिये। इसीसे देखते हैं कि गांधी जी के उठने के बाद, और आसपास, समस्याएं जैसे विकट से और विकटतर ही हुई हैं। यानी समस्याओं का निपटाना उनका काम न था। अपनी

समस्याएँ हमें स्वयं झेलनी और चुकानी होंगी। यह आशा झूठ है कि हमारी उलझनों को लोकोत्तर कोई अवतार आकर सुलझाएगा। नहीं, उसके लिए स्वयं हमको जूझना होगा। अवतार वह नहीं जो डूबते को तारता है वह तो वह है जो स्वयं तिर कर डूबते को तिरने की राह सुझा जाता है।

इस तरह गांधी जी के जाते ही लगता है जैसे अन्धी और अंधेरी ताकतों ने हमें घेर लिया है। अभाव तो कहीं रहता नहीं, चारों दिशाएं उसे भरने को टूट पड़ती हैं। गांधी जी के तिरोभाव पर भी सहसा लगता है जैसे प्रकाश गया, तो जाने कहाँ-कहाँ से अन्धकार जगह भरने को आ गया है।

यह स्वाभाविक ही है। गांधी जी का वेग यदि पांव उखाड़ कर हमें अपने साथ बहा ले चला था तो अनिवार्य है कि गांधी जी के जाने पर हम अपने पैर अपने नीचे पाएँ और देखें कि गांधीजी के नहीं अब तो हम अपने ही अनुसार चलना चाहते हैं। इसमें असंगत कुछ नहीं है। गांधी जी के रहते जो उनके त्याग पर चले, वे गांधी के बाद अपने भोग पर क्यों न आ जाते? इस तरह, जान पड़ता है, गांधी जी अपने साथ अपनी राह भी लेते गये हैं। अब हिन्दुस्तान की कांग्रेस और उसकी स्वराजी सरकार उस तरफ से आजाद और बेलाग है और यह अच्छा ही है।

लेकिन गांधीजी वेग के ही न थे। केवल वेग के लोग तो आते हैं और चले जाते हैं। मानो वे किसी अन्धी वासना के प्रतीक होते हैं। इससे उनका मूल्य सामयिक रहता है। इतिहास उनके ऊपर से निकल जाता है। जैसे उनमें एक ही सतह होती है, विस्तार; गहराई व ऊंचाई नहीं, जो काल के तल को भेद कर पार भी फैलती है। ऐसे लोग अन्धड़ उठाने के अलावा कुछ बन या बना नहीं पाते। लेकिन गांधी जी प्रकाश के व्यक्ति थे। प्रकाश इतिहास जगाता है। वह सहस्राब्दियों के आर-पार दीखता है। गांधी जी के प्रति यह अनिवार्य है कि राजनैतिक क्षेत्र में जो उनके साथ लगे दीखें वे अब दुविधा में लुटें और खोये दिखाई दें। और गांधी जी के तत्व के लिए वे रह जायं जो उनके साथ नहीं रहे, बल्कि जो स्वयं होकर रहे इससे कुछ अलग और दूर रहे। कारण, वे वेग नहीं प्रकाश चाहते थे। राजनीतिक प्रवृत्तियों में ऐसे लोग कम दीखेंगे। पर गांधी जी की लौ बुझ न पायगी तो उन्हीं के बल पर। एक दिन होगा कि वह लौ फैलेगी और ऊंची उठेगी कि जगत् उसके प्रकाश में अपना मार्ग पहचाने और आगे बढ़े।

गांधी जी की प्रवृत्तियां तो अनेक रहीं, पर प्रेरणा एक। समय-समय पर उस प्रेरणा ने अभिव्यक्ति की नवीन भाषा ली। पर निष्ठा सदा सत्यो-

न्मुख रही और गांधी जी देश या स्वराज्य किसी के खातिर सत्यतीर्थ की अपनी यात्रा में विघ्न नहीं स्वीकार कर सके। अहिंसा में से उन्हें सत्य पाना था। ऐसा था इसीलिए नई-नई चुनौती उनके आगे आई और नित-नये कर्तव्य की पुकार उन्हें प्राप्त होती गई। पूर्णता से और पूर्णता की ओर उनका प्रयाण रहा। कभी वह अपनी ही प्रवृत्ति या अपने ही मन्तव्य की सीमा से नहीं बंधे। और इसीलिये उनसे रचनात्मक कर्म और उसके कर्मियों को नई-नई सूझ और नये-नये सूत्र मिलते चले गये।

यह पूर्णता से पूर्णतरता की ओर बढ़ते चलने में ही गांधी जी की विशेषता है। कभी वह जीवन की अमुक धारणा की नियमितता (रूटीन) में नहीं घिरा। सृष्टि का नवोन्मेष सदा उसे स्फूर्त, प्रवाही और हरियाला बनाये रहा। कभी वह जीवन जमकर कड़ा नहीं पड़ा। इस तरह प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक सूचना के प्रति उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा जागरूक और अचूक रही। जगत् को नाना रचनाओं का वह निरन्तर दान करती चली गई।

'अगर गांधीजी होते'—तो निश्चय दो फरवरी को वर्धा जाते। वहाँ रचनात्मक कार्यकर्त्ता और दूसरे अहिंसक जीवन-नीति के विश्वासी जमा होने वाले थे। अनेक सूत्री रचनात्मक कार्य को पहले उन्हें एक सूत्र और एक आत्मा में गूंथ देना था। वह देख रहे थे कि अंगोपांग फैल रहे हैं, आत्मा सिकुड़ रही है। देख रहे थे कि संगठन ऊपर जम रहा है और व्यक्ति तले दब रहा है। किन्तु अन्त में तो श्रद्धा को लेकर अटूट रहने वाला व्यक्ति ही है, तंत्र तो जड़ और सामयिक है। इससे भारत को यदि उबरना है, और अहिंसक रचना यानी शुद्ध संस्कृति का फिर से नमूना बनाना है, तो खण्ड-खण्ड फैली सूखी प्रवृत्ति में आत्मत्व दहकाना होगा। समग्र ग्राम-सेवा का रूप निखारना होगा। ऐसे सेवकों को गाँव-गाँव में जा गड़ना और इस तरह सच्चे लोकतन्त्र को धरती में से उगाने में लग जाना होगा।

यह तो आंतरिक और तात्कालिक काम।

लेकिन इसके बाद? वर्धा में एकाध सप्ताह के भीतर इस काम के पूरा होने के बाद?

मुझे निश्चय है कि इसके बाद का काम उनके आगे और भी अमोघ होकर स्पष्ट था। उस सम्बन्ध में उन्हें रंचमात्र संशय न था। न रत्ती चूक उनसे उस बारे में होने वाली थी।

हिन्दुस्तान उनकी छाती पर एक से दो हुआ था। उनकी घोषणा थी

कि किसी का ईमान 'राष्ट्रद्वैत' है तो मेरा 'राष्ट्रऐक्य' है। मैं उसके लिए मर मिटूंगा। लेकिन फिर भी कांग्रेस की रजामंदी से हिन्दुस्तान बीच से काटा गया। हिन्दू और मुसलमान, जिनकी एकता उनका व्रत रही, एक दूसरे के गले पर छुरी लेकर टूटे। ऐसी नृशंस नर-हत्या हुई कि कभी न हुई होगी। करोड़ों आदमी घरबार से उखड़ कर बेघर और बेगाना हुए। गांधी जी की आँखों सामने यह हुआ! लेकिन गांधी जी ने कहा, "हुकूमतें दो चाहे हुईं, दिल दो नहीं हुए और नहीं हो सकते।" गांधी जी तो जानते थे, देखते थे, कि सारी मानवता का दिल जब एक है, तब हिन्दू-मुसलमान भला कितने दिन अपने को एकदम दो मानकर जीते रह सकेंगे। यह तो बच्चों का खेल है और क्रोध और द्वेष की बन आई है। गुस्सा गिरेगा तब दोनों रोएंगे और गले मिलेंगे। तब पाएंगे कि दुई ऊपरी थी, भीतर का दिल तो सदा एकता का ही प्यासा था।

यह श्रद्धा उनसे एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हो सकती थी। इस लिए उन्होंने नहीं माना कि नए बने हुए पाकिस्तान में से जिन हिन्दू और सिक्खों को भाग आना पड़ा है वे वापिस वहाँ नहीं पहुँच पाएंगे। उन्होंने कहा कि पाकिस्तानी मुसलमान को साबित करना होगा कि वह इन्सान है। नहीं तो गांधी जी न खुद चैन लेंगे, न उसे चैन लेने देंगे। सब बर्बरियत के बावजूद वह अनुभव करते थे कि अगर भगवान् है तो इन्सान में जरूर है। आज वह सोया है तो कल उसे जाग पड़ना है। इन्सान जानवर नहीं हो पायगा। हुआ है, तो नहीं रह पायेगा। मुझे तो उसके अन्दर के भगवान के आगे अलख जगाये ही रहना है। इसलिए उन्होंने हिन्दुस्तान के हिन्दू से कहा कि, जो भी हो, मुसलमान तुमसे कम इन्सान नहीं है और हिन्दुस्तान की जमीन पर उसे वह सब अधिकार होंगे जो एक हिन्दू को हैं। वह अनथक पुकारते रहे कि ऐ हिन्दुओ, हिन्दु धर्म को मारना नहीं चाहते तो मुसलमान के साथ सलूक बरतो। सही कि आग लगी है, मगर यह तो और वजह है कि लगी में और आग न लगाओ। दीवानगी फैली है तो क्या दीवाने बनोगे? यह मुँह से कहा, और बात मनों न उतरी तो अनशन की मूक पर दर्द की असल भाषा में यही कहना शुरू किया!

साफ था कि यहाँ हिन्दुस्तान में मुसलमान की जान की तरफ से उन्हें जरा ढारस हो कि पाकिस्तानी मुसलमान के सामने उन्हें हो रहना और वहाँ सदा अलख जगानी है कि 'ऐ रसूलेपाक को मानने वालो, ऐ दीनदारों, बताओ कि क्या हिन्दू को तुम यहाँ नहीं बसने देने वाले हो? बताओ कि क्या हक़

है जो तुम्हारा है, और हिन्दू का नहीं हो सकता ? कौन वह दीन है कि जो यह बताता है ? हिन्दू जब तक यहाँ आराम से नहीं रह सकता, सलामती से गुजर-बसर नहीं कर सकता, तब तक क्या तुम्हारा यह पाकिस्तान है ? क्या इस तरह वह नापाक नहीं हो जाता ?'

मेरे मन में रत्ती भर सन्देह नहीं है कि वर्धा को एकाध सप्ताह देने के बाद उन्हें पाकिस्तान जाना और वहाँ सच्चे इस्लाम का आइना पेश करके कहना था कि इसमें देखकर कहो, क्या तुम मुसलमान हो ?

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में शरणार्थियों की समस्या कितनी विकट रही, कहना व्यर्थ है। दोनों तरफ के अर्थतन्त्र को उसने झकझोर डाला। हकूमतों के पांव उससे डगमगाये रहे और अब भी डगमग हैं। शरणार्थी जब तक हैं, और उनकी याद उनके साथ है, दोनों हकूमतों की आपसी जलन और अनबन भी सो नहीं सकती। ऊपर समझौते होते रहेंगे, नीचे आग भी सुलगी रहेगी। अन्याय में नींव डाल कर कौन इमारत खड़ी रही है ? पाकिस्तान अगर मुस्लिम राष्ट्र होकर रहता और उठता है, तो क्या वह मुकाबले में हिन्दू राष्ट्र का आप ही समर्थन नहीं बन जाता ? तब यहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दू जातीयता (राष्ट्रीयता) की बाढ़ क्यों कर रुक सकेगी ? इस तरह आपस का अलगाव और बैर-विरोध ही सत्य हो रहेगा। यदि नहीं थे कभी तो अब वे दो राष्ट्र होंगे और एक दूसरे के अहित में अपना हित देखेंगे।

साफ है कि अन्तर्राष्ट्रीय उलझन इस समस्या के आस-पास उलझी ही रहेगी। हथियार के जोर से इसका निबटारा हो सकेगा, यह भ्रम है। दुनिया अब इतनी एक है कि किन्हीं दो हकूमतों की लड़ाई दुनिया की लड़ाई बने बिना नहीं रह सकती। (रहती है तो मान लेना होगा कि बड़ी ताकतों का स्वार्थ उनके द्वारा खेल रहा है) और तीसरे महा समर को अपने आंगन में न्योतने जैसी भयंकर भूल कोई न होगी।

गांधी जी सवाल की इसी जड़ में जाने वाले थे। जातीय द्वेष को रहने देकर आये खुशहाली और शान्ति के सपने की तरफ नहीं बढ़ा जा सकता। हकूमतें इस काम में बेकार हैं। विद्वेष बढ़ा सकती हैं, उसे वे काट नहीं सकतीं। हकूमतें चाहे-अनचाहे स्थापित स्वार्थ बन रहती हैं। इसलिए उनके आस-पास द्वेष मंडराता और पुष्ट होता है। पर जनता तो द्वेष में फुंकती ही है, इससे वह जानती है कि द्वेष असली चीज नहीं है। गांधी जी के मन में तय था कि जनता, पाकिस्तान की या हिन्दुस्तान की, अन्त में उनकी बात सुनेगी। आखिर सरकारें जनता के हाथ की पुतली हैं। इससे जनता के बीच में जाकर

जन-मत को चेताना होगा। कोई सरकार जन-मत जागने पर उल्टी चल सकती ही नहीं है। इसलिए न उन्हें हिन्दुस्तान की हकूमत की तरफ न पाकिस्तान की हकूमत की तरफ देखना था। सीधे आदमी के दिल के दरवाजे खट-खटाने में उन्हें लग जाना था। मैं निश्चित हूँ कि यदि गांधी जी होते तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बिछात पर, अपने झगड़ों की ओट में, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान मुहरों के मानिंद चले नहीं जा सकते थे।

यानी, दूसरा काम गांधी जी का अवश्य ही यह होने वाला था कि हिन्दू और मुसलमान शरणार्थियों को ढारस दें, हिम्मत दिलायें, और ऐसा लोकमत पैदा करें, हिन्दुस्तान से ज्यादा पाकिस्तान में, कि शरणार्थी अपनी-अपनी जगह और अपने-अपने धंधों में वापिस आ बसें। दोनों जगह उनके धर्मस्थान सुरक्षित हों और नागरिक अधिकार समान रहें।

तीसरी बात, जिसके सम्बन्ध में वह कभी शिथिल नहीं हो सकते थे, यह थी कि शासन कहीं सैनिकता और सत्तावाद की ओर न बढ़े। अन्त में हकूमत को अपने आप में अनावश्यक हो रहना है। इससे व्यवहार में उसको उत्तरोत्तर उसी ओर ले जाने पर ध्यान रखना होगा। इस तरह केन्द्रीकरण नहीं, सत्ता का, कर्म का, विकेन्द्रीकरण इष्ट है। अधिकाधिक हमको लोकचेतना से काम लेना और परस्पर सहयोग को उभार कर चलना है। नहीं तो मानव-शक्ति तल में जड़ी-भूत रहेगी और रगड़-झगड़ और प्रतिस्पर्द्धा से नाना समस्याएँ उत्पन्न करेगी। तब हठात् पैसे के जोर से, यानी स्फीति (इन्फ्लेशन) पैदा करके, सरकार को अपने को कायम रखना और बड़ी-बड़ी योजनाओं के नक्शों के फेर में जनता और उसके सवाल को डाल रखना होगा।

कंट्रोल को गांधी जी कुछ उसी तरह की बला मानते थे। ये आदमी को असहाय और सरकार को सर्व-सहाय बनाने की दिशा का कदम है। इसी राह आगे चलकर सरकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा में उतरना पड़ता है और युद्धोद्योगों की तैयारी बांधनी पड़ती है। भीमोद्योग भी कुछ उसी तरह की व्याधि हैं। उनसे स्थापित स्वार्थों की गिल्टियाँ कुछ इस तरह उपजती हैं कि आखिर एक ही उपाय रह जाता और वह सार्वतान्त्रिक राज्य की स्थापना। उसी को दूसरे शब्दों में कहें 'स्टेट कैपीटलिज्म'। भीमोद्योग से पदार्थ की बहुतायत तो होती है, लेकिन उसका अधिकांश स्टेट की कृत्रिम बुभुक्षाओं को भरने में जाता है और शेष वितरण की विषमता और कठिनता के कारण यथास्थान नहीं पहुंचता। इस तरह भीमोद्योगों से जब कि एक तरफ अभाव की समस्या दूर नहीं होती, तब वर्ग-विग्रह और वर्ग-विद्वेष की नई

समस्या और उत्पन्न हो जाती है। यही धरती है जिस पर उन वासनाओं की खेती होती है जो जाने अनजाने एकछत्र सत्ता को अनिवार्य बनाती है।

गांधी जी कभी यह स्थिति नहीं आने देने वाले थे कि अधिकार तो सब सरकार के पास रहें और जनता के पास सिर्फ कर्तव्य। अपनी वाणी से और कर्म से वह बराबर वातावरण में यह भावना भरते रहते थे कि राजा तो सेवक है और प्रजा मालिक है। अफसर नौकर है और जनता उसको वेतन देनेवाली है। इस तरह अधिकार सब जनता के पास हैं, और अफसर के पास केवल कर्तव्य। राजा और प्रजा के बीच सेवक और सेव्य का सम्बन्ध बदल कर उल्टा हो जाय, राज्य जनता की सेवा करे तो नहीं बल्कि उससे सेवा चाहे—यह गांधीजी एक क्षण के लिए नहीं सह सकते थे। भूखी और नंगी जनता के प्रतिनिधि होकर वह सरकार से जवाब तलब करने वाले थे। इसी अर्थ में सरकार के वह संरक्षक और सहायक थे। अन्यथा क्या निरन्तर और सतत् वह बागी ही नहीं रहे ? वही आगे भी रहने वाले थे। सरकारों को सदा ही उनसे थर्राते रहना था, नहीं तो उन्हें प्रजा के प्रति विनम्र बनना था। ●

गांधी की व्यथा

●

३० जनवरी १६४८ को गांधीजी देह से छूट गये, मानो ममता से छूट गये। पहले हम उन्हें अपनी ममताओं के माध्यम से, लाभालाभ की दृष्टि से देखते थे। देह से छूट जाने पर अब उन्हें आत्मा से ही पाया जा सकता है।

एक समय आया जब गांधीजी और कांग्रेस अलग-अलग हो गये। कांग्रेस राष्ट्र-चेतना लेकर ही जीती थी, वही उसका जिम्मा बन गया। अत: उसने सत्ता पकड़ी। गांधी ने कहा, "सत्ता मत अपनाओ। कांग्रेस का राष्ट्रीय धर्म पूरा हुआ, अब राज्य के आसन पर मत बैठो, सेवा का धर्म रखो। 'इस प्रकार जब तक कांग्रेसवाले शासन की अपनी जिम्मेदारी मानेंगे, वे गांधीजी की राह से दूर पड़ते जायेंगे। आगे तो वे स्वयं जिस दिशा में चलेंगे उससे गांधी की राह चलने वालों को राष्ट्रद्रोही करार दिया जायगा। उन्हें दण्ड दिया जाएगा, 'शहीद' भी बनाया जायगा। वही समय होगा जब कि गांधीजी की आत्मा का सन्देश प्रकट होगा। अभी तो चरखा और खादी फैशन तक है!

तप्त राष्ट्रचेतना ही युद्ध की प्रेरक बनती है। राष्ट्र की सत्ता सर्वोपरि मानना भयंकर है। गांधी भारत का न था—संस्कृति का, मानवता का था; हमने उसे राजनेता, राष्ट्रपिता मात्र माना। इससे हम स्वयं नीचे गये और उन्हें भी नीचे ले जा रहे हैं। अभी तो हमारा गांधीजी से उपयोगिता का नाता है। जब वह नाता सत्य-शोध का बनेगा, तब गांधी राष्ट्र का ही न रह जायगा, समूची मानवता का बनेगा। गांधीजी को सामने रख कर हम राष्ट्रीयता को मानवता के साथ निभा सकते हैं। जो हिंसा से प्राप्त हो और उसी से संरक्षित रखा जा सके वह मानवता का ध्रुव मूल्य नहीं। गांधीजी ने सिखाया कि राष्ट्र का मानवादर्श से विरोध नहीं है। विरोध हो वहां राष्ट्रीयता नहीं, राष्ट्रमद ही है और यह राष्ट्रमद ही आगे साम्राज्यवाद बन जाता है। राष्ट्रयुद्ध में गांधीजी सबसे आगे रहे। बाद में जब वे नोआखली में घूमते थे तो वहां भी वे सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण कर रहे थे।

गांधीजी का परिपूर्ण सन्देश ईश्वर-प्रार्थना और चरखे में मिल जाता

है । राम-नाम वे सोते-जागते कभी नहीं भूलते थे । चरखे का नियम भी उन्हों-ने बराबर निभाया । प्रार्थना से गांधीजी का अभिप्राय था कि हम अपनी श्रद्धा उस परमनियन्ता से जोड़ कर चित्त की विषमताएँ गला डालें । पर सामाजिक सत्व के अभाव में वह ईश-प्रार्थना को अपूर्ण मानते थे । बिना मानवीय संबंध के विचार के ईश्वरीय आराधन व्यसन तक बन सकता है । चरखे द्वारा हम दूसरे से — अपने पड़ोसी से—हितैक्य में मिलते हैं । चरखा वह साधन है, जिसमें मेरा और दूसरे का हित संयुक्त हो जाता है । भक्ति और अध्यात्म में उससे सामाजिक तत्व का प्रवेश होता है, स्वर्ग का स्वप्न धरती की ओर आता है और आदर्श व्यवहार पर । आज तो समाज में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए खतरा बन उठा है ।

हमारे कर्म की भाषा कमाई और पैसे से बनती है । अर्थ की कमाई पर आश्रित हमारा सब जीवन कर्म है । जीवन द्रव्य-संचालित है । लाभ की दृष्टि प्रमुख है, बड़ा, प्रमुख और प्रतिष्ठित बनने की चाह है । सिक्का श्रम को खींच लेता है । जहां दो-दो फर्लांग तक पक्का फर्श हो वहाँ फल और मिष्ठान्न की बहुतायात हो जाती है और गांव बेहाल दीखते हैं । चरखे से गांधीजी ने चाहा था कि उत्पादन और उपयोग के बीच खाई न हो । बीच भइयें बीच से बचें ।

गांधीजी को विचार के द्वारा पकड़ना सम्भव नहीं । कोई ऐसा विषय नहीं जो गांधीजी को ढँक ले या उनसे बच जाय । कोई ऐसा विशेषण नहीं जो उन्हें ढाँप ले । यदि गांधीजी का पन्थ बना तो जो प्रीति का था वह तत्व का हो रहेगा । जो इन्सान था वह मूरत रह जाएगा । जब हम आत्म-समर्थन में गांधीजी को लाते हैं, तो अन्याग्र करते हैं । जो गांधी अमर है वह क्षण-कर्म का नहीं था । । हम उनका पन्थ नहीं, उनका दर्द, उनकी व्यथा देखें और समझें । राजनीति में ही गांधी को न देखें । राजनीति तो क्षण-क्षण बदलती है और जो कल पद पर था आज नहीं जो आज है, कल नहीं रहेगा । गांधी अपने समय के साथ सीमित नहीं था । गांधी तो सत्य का साक्षात्कार चाहते थे, उनके मार्ग में राजनीति आ गई, जैसे सागर की ओर बढ़ती हुई नदी के मार्ग में ऊबड़-खाबड़ आ जाते हैं ।

गांधीजी आत्मवान नेता थे । राजनीतिक नेतृत्व में भी उनसे अधिक सफल कौन हुआ ? उनके सामने कई नेता आये, पर कभी भी किसी के प्रति उन्होंने विरोधी भाव नहीं रखा । सत्य और अहिंसा पर चलने से व्यक्तित्व कुँठित नहीं होता, ऐसी आस्था उन्होंने जगा दी । प्राणी-मात्र को प्रेम करना 'अहिंसा' है और असत् के प्रतिकार के लिए उद्यत रहना 'सत्य' है । इन दोनों

का युगपत् साध कर चलने से बड़ा 'योग' नहीं।

पहले दीन और दुनिया अलग-अलग थे। गांधीजी ने उन्हें मिलाया। उन्होंने कहा कि तन सब दुनिया का और मन सब ईश्वर का। दरिद्र केवल दरिद्र नहीं, दरिद्र नारायण है। अपने को उपकारी या सुधारक समझकर चलने से नहीं चलेगा। सम्पन्न पश्चाताप करें, क्योंकि दीन उन्हीं के पाप के कारण दीन हैं। इस प्रकार गांधी ने 'नर' में 'नारायण' का भाव भरा और नारायण को 'नर' प्राप्त करना सिखाया। यदि हमारे काम में 'उपकार' का भाव हो की सेवा में से तो वह गांधी का न रहेगा।

अभी तो लगता है कि सारे रास्ते पैसे से खुलते हैं। मेरे पास इतना पैसा है ही, क्योंकि दूसरे को रोजगार देने का दंभ करूं? कोई आदमी जो हाथ में श्रम और मन में प्रीति लेकर आता है, भूखा क्यों रहे? आज 'श्रम' और 'स्नेह' में मूल्य नहीं रहा। मूल्य सिक्के में आ गया है। आदमी को लतियाओ, पैसे को पकड़ो, जीवन व्यवहार यह बना जा रहा है। गांधीजी ने हमें क्या दान दिया? क्या केवल देश का स्वराज्य? या जीवन का वास्तविक 'मूल्य'? सत्याग्रह गांधीजी की सबसे बड़ी देन है। लाखों के विरोध में एक व्यक्ति को भी अपने लिए जीने और मरने का हक है। जब लोकतंत्र बहुमत को अल्पमत पर लदने का अधिकार न देगा, तभी हम पशु-समाज से मानव समाज की ओर बढ़ेंगे। गांधीजी ने चाहा स्नेह में से श्रम आये। श्रम और स्नेह मूल्य बनें। जैसे रोगी के प्रति सहानुभूति, वैसे ही अपराधी के प्रति भी हो। दण्डशक्ति से मानव-संस्कार नहीं होता!

आज के दिन हम उस गांधी को याद करें जो वेदना और व्यथा का था। जिसके लिए यह सम्भव नहीं था कि अपने लिए कुछ रख ले। बा ने उन्हीं की खातिर चार रुपये क्या रख लिये, उसके लिए भी अखबार में छापा और प्रायश्चित किया। एक गरीब बहन मिली जिसने कहा नहाऊं तो कपड़े कैसे धोऊं? बस, बाद में वे पूरा कपड़ा न पहन सके। और आज हम सोचते हैं कि देश में अमीरी लाने के लिए स्वयं पहले हम अमीर बन लें! दौलत-उत्पादन बढ़ रहा है, पर चैन कहाँ? दिल्ली का वैभव किस लंका की स्वर्णपुरी से कम होगा? पर हम रावण को नहीं याद करते, राम को याद करते हैं, जो राज छोड़ सानंद बनवास को निकल गए थे। मरने के बाद आदमी का प्यार ही याद रह जाता है। आज एक आदमी दूसरे में आश्वासन नहीं पाता, अतः सब चिंतित हैं। ह्रास की स्थिति है। क्या वह स्वस्थ समाज है, जिसमें सभी को अपनी चिन्ता में बीतते और सूखते रहना पड़े!

कर्म-ज्वर में स्वास्थ्य प्रकट नहीं होगा। गांधी कर्म में नहीं हैं, 'अकर्म' में, अध्यात्म में है। गांधी का कर्म स्वच्छता और प्रामाणिकता में है। आप गांधी का गिनाया । काम ें उससे नही, आत्म-प्रेरणा से निरपेक्ष सेवा करें, तभी गांधी का काम होगा ●

गांधी-नीति

●

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूँ। मेरे लेखे गांधीवाद शब्द अयथार्थ है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लक्षण है कि वह प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गांधी को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखाबद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्षा-फल आँकने का काम इतिहासका होगा, जबकि उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहाँ हैं, देखने के लिए दूरी (पर्स्पेक्टिव) कहाँ है?

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है, वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक-सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर कायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उसे निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की धूप-जैसा धौला और साफ़ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब

दो एक हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मत-वादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न अटक कर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है; न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अवि-श्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार करना कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानो वह कर्म सहज उपलब्ध हो आएगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष हो गये हैं। जो वह चाहते हैं होता है— क्योंकि जो होने वाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जाने वाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह एकदम विरो-धाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे मानों उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी की नीति है। मानों वह कूटकौशल है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कूटकौशल, यह कर्मलाघव अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है, इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहज भाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रंथिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानो उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मसुकौशलं ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध, यहाँ तक कि द्वित्व, ही नहीं रह गया है। सृष्टि सृष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में सृष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति निष्पन्न हुई। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल

कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमसान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुण्ण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहं-कार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना, यही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है, तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनीतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश-सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना बदलना भी आ जाता है।

वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है : अहिंसा। उसे सत्य का ही साक्षात् पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए जहर हैं, कुछ अन्य औषध हैं। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिर कर आस्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसी का, नाश नहीं

चाह सकता, किसी की बुराई नहीं चाह सकता, किसी को झूठा नहीं कह सकता, घमंड नहीं कर सकता, आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आजाय, तर्क सुझायगा कि, वस्तु-स्थिति भी तो हम देखें। आँख यथार्थ की ओर से मूंदी तो नहीं जा सकतीं। वह आँख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती। साँस लेता हूँ तो बहुतों का नाश नहीं होता। आहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ ? लेकिन आहार में क्या हिंसा नहीं है ? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूटकर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से, और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से, साफ़-साफ़ सार-तत्त्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसमें हिंसा आ जाती है तो बला उससे हम डरें ? जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इसी तरह विकास घटित होता आया है।

मेरे ख्याल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्मक्षेत्र, में प्रवेश करने वाले योद्धा के सामने आयगा। वह यही है कि इस कुरुक्षेत्र में मैं क्या करूँ ? किसको छोड़ूं, किसको लूं ? बुराई को कैसे पछाड़ूं ? बुराई क्या है ? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है ? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है ?

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उनके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी, जो स्वयं अपने को भी देखती है और बुरे को नहीं, उसमें विकार के कारण आगई हुई बुराई को दूर करना चाहती और विकार का निदान अपने में वह खोजती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली

नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गांधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म-युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं है। किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँड़े की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुईं—

(१) ध्येय—सत्य।

क्योंकि ध्येय कुछ और हो नहीं सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर।

(२) धर्म—अहिंसा।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो आता है उसीका अंगीकरण है: अहिंसा।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई निश्चित संज्ञा ठीक खोल नहीं पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप-भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पाज़िटिव) शक्ति क्या है? फिर भी आत्मगत और व्यक्तिगत प्रेम में अन्तर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती; इसी से प्रेम न कह कर कहा गया 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (पैसिव) पदार्थ नहीं है, वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जानेवाली

शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। अब कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य और अहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के सम्बन्ध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है —

(३) कर्म—सत्याग्रह।

सत्याग्रह मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसीमें गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसी में कर्तव्य और कर्म (डूइंग) आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहाँ इसलिए असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसीका निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहाँ विनय-भाव नहीं है, वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। वहाँ उस घोष का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्त:करण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसीके प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस डटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया आग्रह, किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का कष्ट और दण्ड अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुंचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहाँ अविनय-भाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनीतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का कार्यक्रम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियोंको लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और

सीमित प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वहीं उसका स्व-धर्म है। उसकी पूर्ति में से मानों वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:, परधर्मो भयावह:'।

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ग-चित्र तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। क्षणोत्साह की रोमांचक वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्धा और आपा-धापी भी कम होती है। सबको दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं लपकता और परिणामत: व्यक्ति विक्षोभ और विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वाकाँक्षा की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनीतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपा-धापी और बढ़ाबढ़ी की प्रवृत्ति है। यह एक दूसरे की संभावनाओं में योग नहीं सधने देती बल्कि उनमें काट पैदा करती है। ऐसे मानव-शक्ति रचना में न लगकर परस्पर को व्यर्थ करने में बर्बाद होती है।

ऊपर यह आन्तरिक, आत्मपरक दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया में, स्थिति-परिस्थिति के साथ गाँधी-नीति क्या करना चाहती है? उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संगठन क्या हो? आवश्यकता और आविष्कार का, उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूंजी कैसे निबटें? आदि-आदि-आदि।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सार प्रश्न आज अभी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घेरे रहने और हतबुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है। फिर उनका हल कागज़ पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है। सब सवालों का हल बतानेवाली मोटी किताब मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इसलिए विचार-धाराओं से, मतवादों से, काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न हैं उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से उतर जाना है। ऐसे ही

वे शनैः शनैः कटते और निबटते जायेंगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त में ज्ञात होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फरेब था, बस खाका था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं-का-वहीं छोड़ गया। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने-आप में बहुत ज्यादा जरूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धिक्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह सूक्ष्म होकर और कसेगी। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर माँगी जाती है। उस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से लोगों को लाभ पहुंचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ोसी-पन पनपे। पास-पड़ोसीपन स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सब से पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़-कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नक्शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता। उसी तरह नगर-प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ोसी से टूटूँ नहीं, अलग न पड़ूं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े।

दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसी की इकाई को भूल जाती है। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में पास-पड़ोस पन के तत्त्व पर जोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची है जो पड़ोसी-प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल-कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों में बँटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को गरज की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक-

दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। पूंजी-मालिक मजदूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बिठाता है कि खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित बना रहे। उधर मजदूरों की आँखों में मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना निरपवाद पड़ोसपन और आपसीपन के सिद्धांत के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी और भौतिक उन्नति पर अवलम्ब रहनेवाली नीतियाँ अंततः यहीं से उपजती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढ़ने और फूलने की गुञ्जाइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास में मिलेजुले रहने के कारण समाज में वैषम्य उत्कट न होगा और शोषणवृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाँति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य-निषेध, और हरिजन (दलित)सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्ततः शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलाने वाली गांधी नीति के स्वदेशी सिद्धान्त में से स्वयंमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह यानी सीधी कार्रवाई द्वारा राजनीतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आ जाय तो भले ही आ जाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के ही संदर्भ में लेने पर गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी पूंजीवाद' को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एकतन्त्रीय शासन। यांत्रिक उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतन्त्रवाद (फ़ासिज्म आदि) को बुलाकर ही रहेगा। गांधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संक्षेप में गांधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सर्वात्म का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाये उतना अपनी और संसार की बन्धन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शान्ति-लक्षी होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है। इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म का श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं। सब के अन्तर में एक ज्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चलते जा, चलते जाना। फिर जो होगा सब ठीक होगा। राह का अन्त न नाप, राही, तुझे तो चलना ही चलना है। ●

नीति या राजनीति

•

गांधी जी रहे तब तक राष्ट्र की राजनीति उन्हीं के चलाए चली। लेकिन जब भी सम्भव हुआ उन्होंने साफ कर दिया कि मैं राजनीतिक नहीं धार्मिक व्यक्ति हूँ। १५ अगस्त को जब भारत को स्वराज्य मिला और खुशियाँ मनाई गईं, गांधी जी दूर नोआखाली में पैदल घूम रहे थे। बरसों से वह काँग्रेस के सदस्य भी न थे। और जीवन भर कभी किसी राजकीय परिषद वगैरह के सदस्य भी नहीं हुए।

इस चीज का क्या मतलब है? क्या राजनीति आवश्यक चीज नहीं है? क्या किसी तरह भी उसे गौण माना जा सकता है? क्या वह जीवन का मौलिक पहलू नहीं है? गांधी जी को देखते सचमुच कहा जा सकता है कि बात ऐसी ही है। राजनीति का अपना अस्तित्व नहीं है; नहीं है का आशय कि नहीं होना चाहिये।

किंतु तब ध्यान उन लोगों की ओर जाता है जिन्होंने राजनीति को इतना माया का प्रपंच माना कि उनकी ओर से कोई राजा हो, कैसा भी विधान हो, इससे उनको कोई सरोकार ही नहीं रह गया। 'कोउ नृप होऊ हमें का हानी'! ऐसे उदासीन और संत लोग अपनी अध्यात्म साधना में रहे और राजाओं को उन्होंने राज करने, भोग करने और लड़ने-झगड़ने दिया। कानून ने जुल्म किया तो उसको भगवान के कानून पर छोड़ दिया गया, क्योंकि जो होनहार है उसके सिवा तो कुछ हो नहीं सकता! इस तरह सत्य के, धर्म के और अध्यात्म के कुछ लोग संसार के सोच-विचार को और काम-धाम को माया का प्रपंच मानकर शुद्ध आत्म-साधना में ऐसे लगे कि उन्हें लंगोटी तक छोड़नी पड़ी और मानव सम्पर्क उनके लिये अशुभ हो गया!

गांधी जी यदि धार्मिक थे, तो ऐसे धार्मिक तो न थे। उनको हरदम लड़ते रहना पड़ा। यों तो जेल उन्हें जेल न थी। पर सच तो यह है कि खुले में भी वह कैदी ही बनकर रहे। यानी खाया, पिया, पहना, ओढ़ा तो उसी भाँति कि जैसे उन्हें किसी बड़े सख्त अनुशासन के नीचे रहना पड़ रहा हो।

अनुशासन वह आत्मानुशासन ही था। इसलिये कम नहीं, अधिक कठोर था। घोर घमसान में उनकी जिन्दगी बीती। ऐश्वर्य और वैभव, भीड़ और कोलाहल सदा उन्हें घेरे रहे। महा-गृहस्थ ही उन्हें कहना चाहिए, क्योंकि कुछ के नहीं, सबके, समूचे राष्ट्र के वह पिता बने और अपने पितृत्व की छांह में अधिकाधिक को लेते चले गये। यानी उनका धर्म राजनीति से कटा हुआ, उससे विरुद्ध और तटस्थ न था। बल्कि वह इतना समग्रशील था कि राजनीति उसमें आकर पूर्ति पाती थी। मानों बेचैन राजकारण उस धर्मनिष्ठ में पहुँच कर अपने लिये चैन जुटा लेता था। उसकी धार वहाँ कट जाती थी और उसकी कटुता मिट जाती थी। मानों प्रश्न वहाँ समाधान पाता और संघर्ष समन्वय की राह पर आ जाता था।

आज सन् '४६ अगस्त के भारत की आत्मा के सामने, उसकी जनता के सामने और नागरिकों के सामने, खौलता हुआ एक ही सवाल है : क्या राजनीति को अनैतिक होने का अधिकार है ?

राजनीति क्या सौ फीसदी राज बनाने, करने, या रखने की नीति होकर बैठ सकती है ? इस तरह क्या उसका समर्थन राज में देखा जा सकता है ? क्या वह आत्म-तुष्ट होकर बैठ सकती है ? या कि उस राजनीति का राज-सेवा के अलावा किसी और के प्रति भी दायित्व है ? क्या उसे किसी अपने से ऊंचे और स्थायी तत्व से आदेश लेते रहना नहीं है ?

आज कुछ ऐसी हालत बन गई है कि जैसे राज्य ही सब औचित्य का स्रोत हो। कोई ईश्वर न हो, राज्य ही ईश्वर हो।

कुछ सदियों से ऐसा एक ज्ञान चल पड़ा है, और वह बेहद छा गया है, जो ऐसा जतलाता है कि मनुष्य के कर्तव्य का आदि और अन्त उस समाज में ही देखना होगा जिसका मूर्तरूप स्टेट या सरकार है। यह ज्ञान पश्चिम में औद्योगिक युग, वैज्ञानिक युग के साथ उदय में आया और क्रमशः पकता गया है। उस ज्ञान के थोक उत्पादन के कारखाने अब भी वहाँ चल रहे हैं।

भारत आयात-प्रधान देश है। निर्यात के लिये इसके पास कच्चा माल ही है। जिस माल को सबसे ज्यादा कीमत देकर धन्यभाव से यह देश बाहर से खूब मंगाकर, अपनी आत्मा को भी देकर, अपने को सजाता रहा है, वह यही 'ज्ञान' है। यह आर्थिक है, सामाजिक है, राजनीतिक है। वह वैज्ञानिक समाजवाद है। संक्षेप में वह सब कुछ है जो हम तरसते हैं कि होना चाहिए। और उस ज्ञान ने हिन्दुस्तान के आदमी को, खास कर उस शहरी आदमी को जिसके पास उसकी कीमत देने के लिये थोड़ा बहुत पैसा और अक्षरबोध रहा है,

अगर रंग में नहीं तो बाकी सब लिहाज में विलायती बना दिया है। वह मानता है कि ऐसे वह सभ्य बना है, और आदिमता को छोड़कर उन्नत नागरिक बन रहा है।

लोग आर्थिक समस्याओं का शोर मचाते हैं। कहते हैं, मंहगाई है और देश दिवालिया होता जा रहा है। आयात इतना अधिक है कि निर्यात के लिये अपना पेट काट कर भी काफी माल जुटाना मुमकिन नहीं होता। उधार की जरूरत है कि बड़ी-बड़ी मशीनें विदेश से आकर बैठ सकें और उत्पादन बढ़ा सकें !

बात ठीक है। लेकिन इस देश में इतने करोड़ जो आदमी हैं, उस महाशक्ति और महापूँजी का भी हम कुछ लेखा-जोखा लेने को तैयार हैं ? क्या उनमें हर-एक स्वयं में बढ़िया से बढ़िया मशीन नहीं है ? उस महाशक्ति का हिसाब गड़बड़ है तब दूसरा हिसाब किसी तरह ठीक नहीं बैठ सकता।

जो मनुष्य को संभालती है, उस विद्या के बिना बाकी सारी विद्या बेकार है। मनुष्य को संभालने वाली विद्या है, धर्मनीति।

ज्ञान जो पश्चिम से आ रहा है, जो हमको और हमारे कामकाज को आज चला रहा है, अर्थनीतिक है। दूसरे शब्दों में उसे ही कहें राजनीतिक। यह आदमी और आदमी के बीच में समस्या और संघर्ष उपजाने और बढ़ाने के सिवा कर भी क्या सकता है ? अर्थनीति अधिक से अधिक दो व्यक्तियों के बीच अधिकारों का संतुलन और आपसी समता चाह सकती है। यह समता और संतुलन स्पष्ट ही दो को मिला नहीं सकते, उन्हें अलग-अलग ही रख सकते हैं। इस तरह जितना भी उस ज्ञान के आधार पर उद्धार-सुधार का प्रयत्न किया जाता है, बेकार जाता है। तनख्वाहें बढ़ती जाती हैं, और उसी अनुपात में असंतोष बढ़ता जाता है। यह वह विषम-चक्र है जो कभी कट नहीं सकता। अहंकार और तृष्णा कभी अपने को भर नहीं पाये। इससे उनके आधार पर चलने वाले यत्न समस्या को जटिल से और जटिल ही बना सकते हैं। सच पूछिए तो आज की आवश्यकता गहरा और मौलिक इलाज चाहती है। दुनियाँ को भारत से आशा है। आशा का कारण शायद नहीं है, फिर भी आशा है। कारण कि भारत इन दिनों अपने में गाँधी जैसे महात्मा को प्रकटा चुका है। वह आशा कट गई, तो उसके लिये फिर कहीं ठौर नहीं रह जायगा। दुनिया को फिर भारी गर्त में और युद्ध में गिरना होगा।

आशा अगर थोड़ी भी भारत से पूरी होनी है तो वह तभी हो सकती है जब वह अपने भगवान् को न भूले और पश्चिम की नकल में राज को अपना देवता न बनाये। अब भी सब खोया नहीं है। असल भारत अब भी देहात में

बसता है और वहाँ स्वास्थ्य है। वहां राजधर्म का पता नहीं है, और राजवादी विज्ञान भी कम ही पहुँचा है। इसलिये देहाती खेतों में पसीना डालते हैं और अन्न उपजाते हैं और हिन्दु राम-कृष्ण को और मुसलमान हजरत मोहम्मद को याद करते हैं कि जो अवश्य राजा थे, पर छोटे से छोटे के बराबर बन कर रहे थे। राज उनके लिये कसौटी था, और सेवा और प्रेम उनका स्वभाव था।

वह दृष्टि जो पदार्थ को और उसके हिसाब को पीछे रखती है, आदमी को और उसके हित को सामने रखती है, इसलिये जो नैतिक दृष्टि है,—वही हमको और हमारे कामकाज को चलायेगी, तब संकट के टलने की संभावना हो सकती है। नहीं तो बड़ी-बड़ी योजनाएँ कागज खायेंगी, धन खायेंगी, और अन्त में हमारा सिर खा जायेंगी। कागजशाही और कानूनशाही से काम चलने वाला नहीं है। कागज चलाने वाले और कानून चलाने वाले सब के सब मेहनती की मेहनत से उगा अनाज खाते और मेहनत से बना माल घटाते हैं। इस तरह उत्पादन की ज्यादा ही आवश्यकता रहती है। और विस्मय यह है कि खाने वाले शासक हैं, और उगाने वाले शासित हैं!

शासन करते हैं, क्योंकि टकसाल उनके पास है। टकसाल से निकले पैसे से श्रम खिंच आता है। इस तरह पैसा मूल्य बनता है, श्रम बिकने को रह जाता है। उत्पादन सब मेहनत श्रम से होता है, पैसा कुछ भी उपजा नहीं सकता। लेकिन राजनीतिक दृष्टि और राजनीतिक व्यवस्था जीवन को पैसे में केंद्रित करती है। इससे सदा ही वह अव्यवस्था पैदा करती है। जब कि नैतिक दृष्टि और नैतिक व्यवस्था श्रम को मानती और जीवन के विचार को व्यक्ति में केंद्रित करती है। परिणाम यह कि उससे श्रम का और व्यक्ति का महत्व बढ़ता है, पदार्थ और धन का महत्व उसके ऊपर नहीं आ पाता। मानव समस्याएं नैतिक से अलग किसी भी दूसरी वृत्ति से लेने पर न केवल सुलझाई नहीं जा सकतीं, बल्कि उलझाई ही जा सकती हैं।

गाँधी जी के बाद चाहिए कि जिस अपने कार्मिक रूप को समेट कर वह अदृश्य हो गये हैं, उससे हम भी उत्तीर्ण हों; और उनके धार्मिक सत्य को, जो सदा के लिये वह प्रकाशित छोड़ गये हैं, हम अपनाकर आगे बढ़ें। कार्मिक उनका आनुषंगिक रूप था। धर्म से नियंत्रित होकर कर्म सहज ही ठीक हो सकता है। इसी तरह हम मूल तत्व पर ध्यान देंगे, नैतिक मूल्य को ही असल मूल्य मानकर चल सकेंगे, तभी हम मानव संबन्धों की समस्या का कुछ समाधान प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा पदों की और पदवियों की होड़ और आपसी उखाड़-पछाड़ चलती ही रहेगी। ऐसे जीवन कभी नीरोग न हो पायेगा। ●

गांधी का धर्म और कर्म का वाद

●

गांधी जी के जन्मदिन पर हम विस्मय कर सकते हैं कि इस थोड़े से काल में, कि जब गाँधी जी शरीरत: हमारे बीच नहीं रहें, हम कहाँ से कहाँ आ गये हैं। ऐसा तो हमको नहीं मालूम होता होगा कि हमने गांधी जी को छोड़ दिया है। उनको हम मानते हैं, उनकी नीति को मानते हैं। भरसक उस पर चलने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन देखते हैं कि नतीजा पहले जैसा नहीं आता है। तब उत्साह था, अब निराशा है। तब जो अपने को होमने चलते थे, वे ही अब भोगने बढ़ रहे हैं। वे ऐसा जान कर कर रहें हैं, सो नहीं; शायद अपने बावजूद कर रहे हैं। पर है अवश्य कि ऐसा हो रहा है। जिन्दगी जो ज्वार पर थी अब उतार पर दीखती है, और आदमी देवत्व की तरफ उठने के बजाय नीचे पशुता में गिरने को अपने को मजबूर पा रहा है।

गांधी जी का अक्षर शरीर तो हमारे पास है। उनका लिखा हुआ सब कुछ मौजूद है। उनकी याद भी ताजा है। उनकी सीखावन से लाभ लेने की तबीयत भी कम नहीं है। फिर भी कहीं कुछ कमी है कि फल उलटा हो रहा है। आशा थी कि भारत उठेगा और राह दिखायेगा। उसमें से दुनिया को एक नई किरण फूटती दीखेगी। समाधान प्राप्त होगा और एक नूतन पूर्णतर दर्शन। पर मालूम होता है कि भारत सिर्फ कंगाल हुआ पड़ा है। उसे बाहर से धन की और अन्न की मांग है और देने के लिए उसके पास कोई बल नहीं है। वहां आपसी होड़ और छीन झपट है, समस्याएं घिरती जा रही हैं और अर्थ-व्यवस्था टूटी पड़ रही है। समस्याएं या मुसीबतें गांधी जी के रहते न थीं, सो बात नहीं। पर हम अन्दर से अवश्य अनुभव करते थे कि हम बढ़ रहे है, मिल रहे हैं और हमारे कष्ट हमें दबाने के बजाय हमें और उभार रहे हैं। गरीब होकर भी तब हम पाते थे कि हम किसी से हेटे नहीं हैं, सम्पन्न हैं, क्योंकि उत्साह और विश्वास हमारे पास है। कन्धे हमारे झुके हैं तो भविष्य के निर्माण के काम के बोझ से, अन्यथा सीना हमारा सीधा है और हम हक के रास्ते पर हैं। ऐसे में विपद् सम्पद बनकर हमारा बल बढ़ाती थी और

प्रतीत होता था कि दुनिया को हम से यह प्रमाण मिलेगा कि अर्थ की और पदार्थ की सभ्यता और प्रचुरता तुच्छ है, उसकी अपेक्षा में आत्मबल बड़ा बल है और उसी बल पर नींव डाल कर आगामी विश्व-सभ्यता को उठना सीखना है। दूसरे के अमित शस्त्रास्त्र के मुकाबले में निशस्त्र होकर भारत दीन और हीन नहीं है और उसे अपनी रक्षा नहीं खोजनी है। उलटे, दूसरों की रक्षा के लिए शायद उसी को आगे आना है।

आज निस्संदेह वह हालत नहीं है। तो क्या गांधी को हमने छोड़ दिया? उनके नाम को छोड़ दिया? नीति को छोड़ दिया? नहीं, जानते-बूझते हमने यह नहीं किया। नाम बराबर लेते रहते हैं और नीति की भी उलट-पुलट करके दुहाई देते रहते हैं। फिर भी कुछ हमसे उनका छूट अवश्य गया है। यद्यपि अपने बिरते छोड़ा हमने कुछ नहीं है। छूट न गया होता तो इतना अन्तर कहां से आता? उजला ही काला बना क्यों दीखता।

हमें पाना होगा कि वह क्या है जो छूट गया हो सकता है?

मैं समझता हूँ कि वह है यह कि उन्होंने करते हुए कुछ करना नहीं चाहा। जो किया मानों प्रायश्चित के नाते किया। उद्धार और सुधार के दम पर नहीं किया। बल उन्होंने प्रार्थना का ही थामा। शेष बल को व्यर्थ माना। परिग्रह को पाप जाना। इस तरह उन्होंने संग्रह नहीं किया, पार्टी नहीं बनाई, शासन नहीं जुटाया और विरोधी की सेवा बजाने और उसका विश्वास जीतने को अपने सर्वस्व बना लिया। अपनी ओर से अत्याचार के प्रति सत्याग्रह छोड़ा, सो नहीं। लेकिन विरोधी के हित में अपने को निछावर कर देने का यत्न भी नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि जो उनके अपने बने वे तो देहात के रचनात्मक कार्य में फेंक दिये गये और जो अलग रहे वे खुशी से, बल्कि सहायता पूर्वक, नेता बनने दिये गये। अपनों को गांधी जी ने ऊंची कुर्सी के बजाय सेवा की धरती दी। जिनका मन राजनीति में था उनको राजनीति से खेलने दिया, पर वहाँ से भी उनसे जो बन सका सेवा का काम निकाल लेने का ध्यान रखा। शासन व्यर्थ हो जाय और हर आदमी अपनी-अपनी जगह सेवा-सिद्ध उत्पादन के काम में लग जांय—यह उन्होंने दृष्टि रखी। कांग्रेस से चाहा कि वह पद की तरफ न देख, जनता की तरफ देखे। कुर्सी जनता के कंधों पर बैठती है, सेवक की जगह जनता के चरणों में है। इससे कुर्सी की तरफ उसे नहीं देखना है। कुर्सी यों है तो किसी न किसी को उस पर बैठना ही है, केवल इसीलिए वहाँ जाकर बैठने की अपने लिए जरूरत पैदा करना सही बात नहीं है। दिन असली वह होगा जब कुर्सी कोई होगी ही नहीं और पद सिर्फ दायित्व होगा जिसके साथ

वेतन-भत्ते का कोई प्रलोभन न लगा होगा। तब समझा जायगा कि जनता समर्थ बनी है और उस समय पद का दायित्व सिर्फ खतरा और बोझ हो रहेगा, किसी तरह भी वह प्रलोभन या पुरस्कार न होगा। तब कुर्बानी का हौसला रखने वाला आदमी ही उसके लिए तैयार होगा।

गांधीजी इसी से अपने बारे में कहते थे कि वह राजनीतिक नहीं, धार्मिक हैं। राजनीतिक न होना गाधी जी का असली होना था। बस यही असलियत उनकी हमसे छूट गई है। हम राजनीतिक होकर जो गांधीजी के होना चाहते हैं सो मानों भीतर में उनका निषेध बनकर ऊपर उनकी दुहाई उठाना चाहते है। वह भला कैसे फल ला सकता है? इसीसे देखने में आता है कि गांधी जी की नीति के नीचे अनीति और उनकी अहिंसा के नीचे कायरता पल रही है। गांधी जी की नीति अनीति के लिए सदा चुनौती थी और उनकी अहिंसा हिंसा के लिए भय का कारण थी। पर गांधी जी की मूल धार्मिकता के अभाव में वह बात आ नहीं सकती। तब उदारता की नीति निकम्मी और अहिंसा नितान्त आदर्श की चीज समझी जा सकती है।

गांधी जी की शक्ति पर हम आराम से शासन नहीं चला सकते। शासन और शासक को समाप्त देखने की इच्छा करने वाले गांधी जी थे, उसको सहने वाले न थे। शासक को सदा उनसे कांपते रहना पड़ा। शासक में से वह सेवक गढ़ निकालना चाहते थे, लेकिन सेवक अपने प्रेम-धर्म को छोड़कर शासन-धर्म ओढ़ने ही क्यों लगा। इसलिए वह ऐसा जनतन्त्र देखना चाहते थे कि जिसकी इकाई स्वाधीन, स्वायत्त, फिर भी राष्ट्र (अथवा समष्टि) के साथ सहानुभूति में बंधा एक जनपद हो। प्रत्येक जनपद में सेवा को अपना सर्वस्व मान कर बैठा हुआ एक समग्र सेवक हो। जनतंत्र के सूत्र का सिरा इस सेवक से आरंभ हो। जनतन्त्र को इस तरह सिंचन देश की सारी भूमि से मिले। वह किसी भी अर्थ में अर्थतन्त्र न बन पाये, सर्वथा जनतन्त्र ही रहे। सत्ता केन्द्र से जब चलती है तब जनतन्त्र जन का तत्र न रह कर अर्थ का तंन्त्र बन जाता है। तब अर्थ तो प्रधान और जन गौण हो जाता है। ऐमा अर्थतंत्रता की नीति पर जमने वाला जनतंत्र जन-जन में पराधीनता का बोध बढ़ाने वाला होगा। जाने अनजाने उस तंत्र को एक ओर केन्द्रीयता और दूसरी ओर सर्व-व्यापकता (तानाशाही) की तरफ फैलते जाना होगा। इसमें तनाव पैदा होगा और फटने की हालत बढ़ती जायगी।

गांधी जी ने नहीं चाहा कि कोई उन पर आसरा डालकर उठे। उन्होंने सब को आत्म-निर्भर देखना चाहा। उसी प्रकार की स्वावलम्बी अर्थरचना

का सूत्रपात किया। स्वावलम्बन में हार्दिक परस्परावलम्बन आ ही जाता है। जो नहीं आता वह है उत्साह को मारने वाला परावलम्बन। वह अर्थ-व्यवस्था, जहां व्यक्ति काम और पूंजी के अभाव में असहाय बनकर अपने को बेचने को लाचार पाता और इन्सान की जगह अंक बनना स्वीकार करता है, राजनीतिक दल शक्ति के जुटाने और जमा करने में बड़े सुभीते की साबित होती है। लेकिन उस प्रकार संघर्ष में से खींची हुई शक्ति के केन्द्रीकरण से उस व्यवस्था का विकार और बढ़ता ही है। मनुष्य काम और पूंजी के लिए पूंजीपति की तरफ न देखकर सरकारी विभाग की तरफ देखने को लाचार बने तो इसमें मनुष्य की पराधीनता किसी भी ओर से कम नहीं होती है। बल्कि संभव है कि यदि पूँजीपति नाम के मनुष्य में हृदय पत्थर बन कर रह जाता हो, तब सरकारी विभाग में तो उस हृदय नाम की चीज का होना ही असंगत और अवैध हो रहता है। यानी वहां इतना मशीनपन हो आता है कि हृदय नामक वस्तु का कहीं अता-पता तक नहीं रहता। इसलिए मनुष्य की स्वाधीनता को स्वयं उससे अलग ले जाकर इस या उस प्रकार के तन्त्र से जुड़ा देखने की भूल को बढ़ावा गांधी जी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा कि स्वाधीनता तो हर एक की मुट्ठी में ही है। तृष्णा, ईर्ष्या, लोभ को कम करके आदमी अपनी जगह पर मन-बुद्धि के पूरे सहयोग के साथ दोनों हाथों से उपजाने और काम करने में लग जावे तो ऐसे वह अपनी ही स्वतंत्रता न कमा लेगा, बल्कि सब की स्वतन्त्रता को भी पास लायेगा।

राजनीतिक और धार्मिक में यही अंतर है। सागर में बूंद की गिनती नहीं है, लेकिन धार्मिक फिर भी बूंद को गिनती में लेता है। ऐसा वह श्रद्धा के बल पर ही कर पाता है। बूंद के बदलने से सागर कैसे बदलेगा, बदलेगा भी कि नहीं, इस व्यर्थ चिन्ता के नीचे आने से वह सहज बच जाता है। फल जो हो, उसे तो वही करना है। आदमी को बचाकर या अपने को बचाकर राज्य पर या दुनिया पर जाना उससे नहीं बनता। यह उसकी कूपमण्डूकता समझी जा सकती है। समझा जा सकता है कि यह अपने में बन्द हो रहना है। असामाजिकता का दोष भी उसमें देखा जा सकता है। लेकिन व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें इतना लाभ अवश्य है कि उस व्यक्ति से होने वाला नुकसान उस पर ही पड़ कर वहीं सीमित हो रहता है, उससे आगे फैल नहीं पाता। लेकिन अगर उससे लाभ होने वाला हो तो वह अवश्य ही उससे बाहर की ओर जाये बिना नहीं रह सकता। फिर भी जो सिर्फ़ बुद्धिमान है उसको वह दृष्टि नहीं जंचती। वह प्रार्थना को भी नहीं समझ सकता और साधुता को भी नहीं। वह इन दोनों को वासना-विलास मानता है। इसलिए वह एक

की, बूंद की, भाषा में नहीं, सबकी और सागर की भाषा में सोचना और उसी पैमाने पर करना चाहता है। बूंद सागर में नगण्य ही है, इसलिए तूफान सारे सागर में लाया जा सके तो सब स्वयंमेव ठीक हो जायगा —इस फेर में बुद्धिवादी श्रद्धावादी को उदारतापूर्वक सहन करता हुआ क्रांति से कम किसी भी काम में अपने को नहीं लगा सकता है। वह बेकार रह सकता है, क्योंकि उससे क्रांति आयेगी। उसके ऐसे बेकार काम के फलस्वरूप राजनीतिक प्रगति बहुत होती है, लेकिन जान पड़ता है कि लोगों के सुख-दुःख का मसला वहीं का वहीं रह गया है बल्कि वह कुछ और जकड़ ही गया है।

राजनीति में से गांधी जी को प्राप्त करने वाले लोगों से उनका यह श्रद्धात्मक और तर्कातीत रूप जो छूट रहता है, सो उसकी चिन्ता राजनीतिक को सताती नहीं हैं। कारण, वह जानता है कि वह चीज गांधी जी की इतनी व्यक्तिगत थी कि राष्ट्रीय विचार में उसका समावेश आवश्यक नहीं है। राज्य-संचालन में वह अप्रस्तुत है। वह भावात्मक है, योजना से उसका संबन्ध नहीं है। राजनीतिक का यह अनुमान ठीक हो, तो विचार करने की आवश्यकता रहती है कि गांधी जी की ही धर्म-निरपेक्ष और उदार नीति से चलने पर जो इष्ट स्फूर्ति नहीं प्राप्त हो रही है, ऊर्ध्व की जगह अधोगति ही होती जा रही है, उसका कारण फिर क्या है ?

यह नहीं कि आज नैतिकता की चिन्ता नहीं है। प्रत्येक राजनेता के वक्तव्य में उसकी भरपूर चिन्ता भरी जान पड़ती है। पर नैतिकता उसके निकट शायद राज्य के लिए है, राज्य नैतिकता के लिए नहीं। गांधी जी जिसको घोड़ा समझते थे उसको हम गाड़ी समझें और गाड़ी को घोड़ा समझ कर आगे रखें तो क्या अचरज कि हम उस तरह से वह गति और परिणाम न प्राप्त कर सकें, जो गांधी जी हमें प्राप्त करा देते मालूम होते थे। निश्चय ही उनके जीवन-मूल्य जुदा थे। संसार उनके लिए साध्य न था, केवल साधन था। राज्य और स्वराज्य में उनकी कामना न थी, उसके द्वारा उन दुखियों को वापस हक के रूप में उनका सुख पहुँचा देने की कामना थी जिसके छीनने में हम स्वयं साधन बने हैं। हम आराम और प्रभुता में रहने वाले लोग अपना प्रायश्चित पूरा करने का अवसर पायें, यदि राज्य का और स्वराज्य का यह अर्थ हो तो उसके पदों के लिए आपाधापी की जरूरत नहीं रह जाती। कर्म का महत्व तब भाव में आ जाता है और प्रतिष्ठा तब कर्म के कर्तृत्व में नहीं बल्कि उसमें के अकर्मभाव में आ रहती है। निश्चय ही धार्मिक गांधी के मन का मूल्य चाहे जो हो, उनके उत्तराधिकारी सांसारिकों

के मन का मूल्य कर्म के कर्तृत्व से बाहर नहीं है। जोर-शोर की कर्म-योजना में से वे लोग वृहद फल उगजा लेना चाहें तो उनकी दृष्टि से इसमें अयथार्थ कुछ नहीं है।

पर उसमें से निराशा ही फलित होती देखी जाती है। निराशा से फिर कर्म को द्विगुणित वेग भी दिया जा सकता है। शस्त्रास्त्र से लड़ा जाने वाला युद्ध निराशा से वेग पाये हुए कर्म का ही तो नाम है। लेकिन वैसा बहलावा कब तक आदमी अपने को देता रहेगा और इस तरह स्वयं अपने मन को ही संस्कार देने के काम से कब तक छुट्टी पाता चला जायगा ? 'वह काम टालो मत, इस पल से ही उसमें लग जाओ'—यह गांधी जी ने कहा। यह वह काम है जो सब के लिए इसी घड़ी सुलभ है और जिसे किसी योजना पर स्थगित करने की आवश्यकता नहीं है। यह सीख एक विरक्त संन्यासी की सी समझी जा सकती है। लेकिन यह उन गांधी जी की थी जो सच्चे और पूरे अर्थों में आज के भारत के राष्ट्रपिता हो गये हैं। उस नैतिक धन को जो वह कमाकर हमें सौंप गये हैं, चाहें तो हम गँवा सकते हैं। अथवा उसे बढ़ा भी सकते हैं। आँख खोल कर उसे खर्च कर डालना चाहें तो इसमें भी कुछ हर्ज नहीं है। लेकिन कहीं हम मानें कि धन तो नैतिक होता ही नहीं और जो असल में धन होता है वह तो उनकी सौंपी हुई थैली में हमें मिला ही नहीं है; और यह कह कर गांधी का नाम तो हम रखें और उसकी कमाई को निकम्मा जान कर उड़ा दें, तो यह बहुत भारी संताप की बात होगी।

चर्खे और खादी की प्रवृत्ति ने कुल कितने गज कपड़ा लोगों को दिया और इस तरह कुल कितना पैसा मेहनत के रास्ते देहात में पहुँचाया ? क्या उससे कई गुना कपड़ा और कई गुना पैसा स्वराज्य पाकर हम अब एक योजना और एक कानून के जोर से देहात पर बरसा नहीं सकते हैं ? पराधीनता के समय का चर्खा-खादी स्वाधीनता के समय के लिए सोच-विचार की चीज नहीं रह जानी चाहिए। इस प्रकार का विचार गांधी की आत्मा को गज़ों और पैसों की तराजू पर तौलने की धृष्टता के समान हो जायगा। ऐसे हम गांधी के शव पर गांधी के नाम का मन्दिर चाहे खड़ा कर लें, लेकिन इसके लिए हम सपूत की जगह कपूत ही समझे जायेंगे।

गांधी जी ने यदि कुछ किया तो यह कि उन्होंने हमारी आत्मचेतना को जगाया। कोई जरूरी नहीं है कि हम खादी चरखे से चिपटे रहें, उनके सारे रचनात्मक काम को हम धता बता सकते हैं। स्वयं उनके नाम से ही चिपकने की आवश्यकता नहीं है। गांधी जी को छोड़ने में मैं किसी प्रकार की

कोई बाधा नहीं देखता । ईश्वर, या इतिहास, ने यह गलत नहीं किया कि गांधीजी को हमारे बीच से उठा लिया और हमें अपने ही ऊपर छोड़ दिया । ऐसी हालत में अपने को हम सर्वथा स्वाधीन मान सकते और बना सकते हैं। लेकिन यह अक्षम्य बात होगी कि हम गांधी जी का नाम रखना चाहें, राजनीतिक भूमिका पर टिकने वाला उनका काम भी रखना चाहें, लेकिन उस भावना से परहेज करें जिससे उनका सब काम और नाम निकला था ।

अन्त की ओर गांधी जी ने राम-नाम पर लगभग अपना सारा जोर ला डाला । भारत आज दो श्रेणियों में बंटा है, और उन दोनों में आपसी समझ और सद्भाव नहीं हैं । दोनों जैसे एक दूसरे के प्रति अजनबी बने हैं, और एक दूसरे को संदेह से देखते हैं । एक ओर जनता का देहाती बहुभाग है जो धर्म से लगकर जीता और चलता है । दूसरी तरफ शहरी श्रेणी है जो कर्म से चिपटी है । धर्म और कर्म के बीच खाई है, जिसको फैशन बढ़ाता ही चला जा रहा है । शहर गाँव पर कृपा से देखता है और चतुराई से वहाँ की उपज अपनी तरफ खींच लेता है । कर्म की यही महिमा है । धर्मी गांव की महिमा यह है कि ठगा जाता है और अभाव में भी संतोष पाने का प्रयत्न करता है । भयंकर भूल होगी अगर गाँव के धर्म को और सन्तोष को हम शहर पर लाने के बजाय शहर की चतुराई लेकर गाँव को उकसाने और उभारने हम जा पहुँचेंगे । ऐसे आग ही लगेगी और सब जल जायेगा । वही हो रहा दीखता है । राजनीति जिस कर्म-मद को लहकाकर अपना सुधार और उद्धार का काम करना चाहती है उसके कलेवर में अधिकांश यह विष समाया हुआ है । उस विष-हरण की अक्सीर दवा के रूप में गांधी जी के प्रार्थना के आग्रह और रामनाम की धुन को हम साथ न लिये चलेंगे तो गडढे में पड़ने से बचा न जा सकेगा । कम्यूनिज्म वह गांधीवाद है जिसमें से हत्या करके ईश्वर को अलग कर दिया गया है । इस तरह वह सब कुछ होकर अंत में केवल एक निषेध रह जाता है ।

कम्यूनिज्म आज शक्ति है । इस घड़ी दुर्निवार्य शक्ति है । शक्ति वह निःसन्देह घृणा में से आती है । सच है कि शक्ति घृणा के बिना नहीं होती । इससे निरा साधुतावाद साम्यवाद का जवाब नहीं हो सकता । गांधी गाँधी थे, सिर्फ साधु नहीं थे । योद्धाओं में वह प्रचण्ड योद्धा थे । असत् से वह कभी समझौता नहीं कर सके । इस प्रकार असत् के विरोध में उनमें सदा एक दुर्घर्ष ललकार जगी रहती थी । ध्वंसवादी जिस भीषण कट्टरता के साथ संघर्ष को अपना कर्म मान सकता है, गांधी जी उससे कहीं कठिन अटूटता के साथ

स्नेह को अपना धर्म मानते थे। उनमें भी घृणा थी और वह स्वयं घृणा के प्रति थी। वह घृणा उनमें उनसे कहीं तीव्र थी कि जितनी साम्यवादी में पूंजी-पति के लिए हो सकती है। इस तरह गांधी की अहिंसा किसी की भी हिंसा से कम प्रखर न थी। वह अहिंसा हिंसा को अनदेखी करके नहीं रह जा सकती थी, प्रतीकार में उसके सामने आकर डट जाने को वह मचली रहती थी। अर्थात् साम्यवाद की वैज्ञानिक घृणा की शक्ति का उत्तर गांधी की घृणा के प्रति वह धार्मिक घृणा की शक्ति है जो किसी तरह टूटना नहीं जानती और मरते-मरते भी शत्रु में मित्र ही देख पाती है। शत्रुवाद में अविश्वास का साम्राज्य हो सकता है, गांधीवाद में न छिपाव है, न दुराव है, वहां सब खुला है और सब कहीं विश्वास है। जन की और जनता की मूल सत्यता में, उसकी अन्तर्भूत सत्प्रवृत्ति में, बसने वाला गांधी का यह विश्वास किसी भी आशंका या विभी-षिका से मुड़ने या बदलने वाला नहीं है।

गांधी का उत्तराधिकारी आज का भारत धोखे में पड़ेगा अगर वह गांधी को खंडित रूप में अपनाने बैठेगा। या तो एकदम उसे छोड़ देना होगा, नहीं तो अखंड भाव में अंगीकार करना होगा। ठीक है कि गाँधी एक ही हुआ और एक ही रहेगा। लेकिन वह श्रद्धा जिसका वह प्रतीक था उससे पहले भी थी, बाद में भी रहेगी। वह सबकी है, सबके लिये है। हरएक उसमें अपना हक़ पा सकता है। ●

ब्रह्मचर्य और गांधी

●

जो पिण्ड में है, ब्रह्माण्ड में है। नियम दो नहीं हैं, एक है। सत्य अखंड है और जो प्रक्रिया अणु में मिलेगी, ब्रह्माण्ड भी मानो उसी प्रक्रिया से चलता है।

व्यक्ति के अहं के समान राष्ट्र आदि में भी अहं-भाव बन जाता है। वहां भी ऊपर के निदान को संगत और उपयुक्त देखा जा सकता है। अहं को आत्मोन्मुख करने का क्या अर्थ होता है? व्यक्ति की भाषा में शायद पहले कुछ विचार किया भी गया, राष्ट्र की भाषा में क्या अर्थ होता है? पहले कहा कि आत्मता का लाभ अहं के लिए परोन्मुखता में से है। वह द्रोह या स्पर्धा की उन्मुखता नहीं बल्कि स्वकीय-स्वार्पण भाव की परोन्मुखता है। राष्ट्र के लिए भी यही सब मानना चाहिए। हर राष्ट्र निर्यात बढ़ाने और आयात कम करने में अपनी उन्नति मानेगा तो राष्ट्रों में सम्बन्ध प्रतिस्पर्धा का बनेगा और फिर जो उनमें संधि-विग्रह की बन या अनबन होगी, वह मानों कामावेग जैसी होगी। एक-दूसरे पर विजय पाने की इच्छा, बढ़ा-चढ़ा होने की आकांक्षा मानो कामवासना को ही प्रकट करती है। ऐसा क्या कभी इतिहास में सुना गया है कि एक फौज जीती हो और परिणाम में बर्बर कामलिप्सा भी न खुल खेली हो। यह हो नहीं सकता। लूट और बलात्कार युद्ध के अवश्यम्भावी सहयोगी हुआ करते हैं। इससे अन्यथा जतलानेवाला प्रचार कभी इस तथ्य को बदल नहीं सकता।

आप विस्मय में न पड़ें यदि राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के लिए ब्रह्मचर्य के प्रश्न को मैं आवश्यकीय कहता हूं। ब्रह्म की चर्या निःस्व प्रेम की चर्या ही हो सकती है। उसका मतलब होगा वह अर्थ-विनियोजन और शासन-विनियोजन, जिसमें राष्ट्र दूसरे से लाभ उठाने में नहीं, बल्कि दूसरे के काम आने में अपनी कृतार्थता समझें। नेशनल-सौवरेण्टी का वाद भला बताइये कि क्या राष्ट्रगत अहंवाद का ही रूप नहीं है?

आत्म अथवा ब्रह्म स्वयं में अमुक तत्व नहीं है। जिसे साधना और जगाना है, अनुभव की ओर से उसे उन्मुखता ही कह सकते हैं। हम नहीं जान सकते ब्रह्म अथवा परमात्मा को। नहीं जान सकते इसीलिए अनिवार्य उसी ओर

जीने का पुरुषार्थ हमारे लिए रह जाता है। वह उन्मुखता और दिशा यदि मेरे पास है तो आपके पास, मानव-जाति के पास, फिर पृथ्वी के पास, सौर-मण्डल और नक्षत्र गंगाओं के पास, नभो-मण्डलों और ब्रह्माण्डों के पास भी वही है। वह उन्मुखता यदि नहीं रह जाती है, तो सारी सृष्टि का समस्त अर्थ ही समाप्त हो जाता है। उस उन्मुखता से अतिरिक्त अन्य उसके लिए कोई इंगित नहीं है कि जो है, काल-आकाश जिसके पक्ष हैं और जो अगम अखण्ड है।

उन्मुखता को ब्रह्म या परमात्म की तत्व-संज्ञा मैंने नहीं दे दी है। उन्मुखता अनुभव का सत्य है। उतने से अनिवार्यतया अनुमान और श्रद्धा का प्रति-सत्य भी हो रहता है। यानी कि अवश्य वह है जिस ओर उन्मुखता है। उसे ब्रह्म कहो कि कुछ कहो। इतना मानने पर आप उन्मुखता की दिशा को जानना चाहते हैं! दिशाएं चार हैं या उन्हें कोणों में बांटकर गणना में कितनी भी बढ़ाकर देख लीजिए। चलिए, ऊपर और नीचे को भी दो दिशा मान लीजिए। लेकिन सब दिशाएं जिससे हैं, उस अखण्ड व्याप्तता की कौनसी दिशा कहें? जीवन मृत्यु की ओर जा रहा है कि नहीं? कोई बता सकता है कि मृत्यु की दिशा क्या है? किधर से वह आती है, कोई नहीं बता सकता। किसी तरह नहीं बता सकता कि बाहर से आती है कि भीतर से आती है, या दायें-बायें से आती हैं। कह कुछ भी नहीं सकते, कुछ कहा जाय तो उससे इन्कार ही कर सकते हैं। इसलिए मैं कहूंगा कि कल्पना उड़कर जहां बैठे बैठने दीजिये, उस बैठक को किसी स्थल या स्थान के रूपक में मत बांध दीजिये। रूपक असंख्य हो सकते हैं और सब ठीक हो सकते हैं। सब ठीक हैं, इसी में आता है कि कोई ठीक नहीं है।

आत्म और ब्रह्म को पृथक संज्ञा उस पीड़ा के कारण देनी ही पड़ जाती है जो पृथक्ता में हम अनुभव करते हैं। नित्य उसका त्रास हम अनुभव ही करते हैं। क्या इसी में से यह सिद्ध नहीं हो जाना चाहिए कि पृथक्ता अन्तिम नहीं है और सत्य भी नहीं है। अन्तिम और सनातन सत्य एक है। उस एक का आकार और रूप नहीं हो सकता। संज्ञा आकार और रूप का ही नाम है। फिर भी संज्ञा देनी ही होती है। कारण रूप और आकार में हम स्वयं निबद्ध है। इसलिए पूर्ण और अविकल को भी रूपाकार में आबद्ध करना आत्म-लाभ के लिए हमें अनिवार्य हो आता है।

भक्ति और प्रार्थना द्वारा हम जैसे पृथक् में अपार्थक्य, भिन्न में अभिन्नत्व का अनुभव पाते हैं। बौद्धिक संग्रहण से अपार्थक्य और अभिन्नत्व मिल नहीं पाता है। इसी से ज्ञान की स्पष्ट और नियुक्त भाषा को औचित्य देने में मुझे संकोच होता है।

गांधीजी पर मैं अधिकारी नहीं हूं। सम्मति देना भी विवाद उपजाती होगा। इसलिए उससे भी बचना आवश्यक है। अभी गांधी इतिहास के पुरुष हैं। शुद्ध धर्म के अभी बन नहीं पाये है कि जिनसे प्रकाश मिले और स्वार्थता का सांसारिकता का नाता छूटा रहे। अभी तो देश-काल के प्रति मिले लाभ में से हमने उन्हें देखा और लिया है। जब केवल आत्मलाभ की भाषा ही शेष रह जायगी, तब उस अवगाहन में जाना निश्शंकित हो सकेगा।

एक बात अवश्य कही जा सकती है और वह प्रकट है। जगत् के सुख-दु:ख के विग्रह में से ही यदि उन्होंने किया तो ब्रह्म को उपलब्ध किया। सेवा के शब्द और चरखे के उपकरण पर जो उनका बल रहा, उससे यह भी देखा जा सकता है कि हर दूसरे में, अथवा शेष समस्त इतर में, उन्होंने ब्रह्म को खोजा और देखा। जगत् से कटकर किसी अलग ब्रह्म की शोध उनमें नहीं थी।

ब्रह्मचर्य की अपेक्षा में यह भी गांधी जी में देखा जा सकता है कि स्त्री से दूरी उन्होंने नहीं चाही और नहीं पायी। बल्कि उनको लेकर घर-घर से देवियां निकलीं और पतिधर्म से उठकर बलिधर्म अपना रहीं। स्त्री को स्त्रीत्व से आगे व्यक्तित्व देने में गांधीजी से बढ़कर शायद ही कोई इतिहास का चरित्र ठहर सके। यह महिमा मेरी दृष्टि में उनके ब्रह्मचर्य की ही थी। स्त्री उनके पास नितान्त निरापद और सुरक्षित ही अनुभव नहीं करती रही होगी, बल्कि वह अपनी अन्तर्ग्रन्थियों से भी वहां मुक्त बन आती होगी। नहीं तो उस मोहिनी को समझा नहीं जा सकता है जो कुलीन-से-कुलीन और सम्भ्रमशील महिलाओं को बेसुध बना डालती थी।

गांधी चार पुत्रों के पिता और पत्नी के कामासक्त पति रहे थे। स्त्री के स्त्रीत्व को समझने का उन्हें अवसर नहीं आया, यह नहीं कहा जा सकता। शुकदेव की तरह उन्हें किसी तरह नहीं माना जा सकता। अतः उनका ब्रह्मचर्य अबोधता का नहीं हो सकता था। स्त्री के स्त्री ही होने का पता जिसे न चले ऐसा शायद कोई ब्रह्मचारी हो सकता हो, तो गांधी वैसे ब्रह्मचारी न थे। फिर भी अमोघ वह ब्रह्मचर्य ही हो सकता है जिससे उनके महात्मापन के यज्ञ में अनेकानेक विदुषी मानिनी कोमलांगिनियां अपनी सब सम्भावनाओं को तिलांजलि देकर यज्ञाहुत होने बढ़ आयीं। क्या शक्ति थी कि रेशम छोड़कर सुन्दरियों ने टाट पहना, विलास छोड़-कर कष्ट अपनाया और भोग से पलटकर सेवा में अपने को स्वाहा किया? निश्चय ही यदि यह ब्रह्मचर्य था तो वह प्रेम से स्निग्ध और सम्मोहनीय रहा होगा, दुर्द्धर्ष और प्रखर और प्रचण्ड और वर्जनशील वह ब्रह्मचर्य न था। मानो वह कुछ उससे बिल्कुल

उल्टा ही था, जो स्त्री को निमन्त्रण देता था और उसके लिए परम अभ्यर्थनीय और वरणीय होता था। जो हो, मैं मानता हूं कि वह ब्रह्मचर्य असल था और सकल था।

यही नहीं, मैं इसको उनकी संगठन-क्षमता नहीं, ब्रह्मचर्य-क्षमता का फल मानता हूं कि देश और संसार उनके पीछे उमड़ पड़ा और अपने को होम देने की लालसा में उद्दीप्त हो उठा। संगठन तो कांग्रेस था और वह संगठन अन्तिम दिनों में उनसे बिछुड़ ही नहीं गया, बल्कि उलटा चल निकला। संगठन की भूमिका पर सफलता-विफलता को जैसे चाहे देखा जाय, उनके चुम्बकीय आकर्षण से इनकार नहीं किया जा सकता।

हम सभी अपने को देते और दूसरे को अपने में लेते हैं। इसके साधन हमारे पास हुआ करते हैं शरीर और मन। निश्चय ही इन साधनों से परादान और आत्मप्रदान आंशिक ही हो पाता है। मन पूरी तरह उड़ेला नहीं जाता, न अपने में लिया जा सकता है। शरीर द्वारा प्राप्ति तो इतनी खण्डित और क्षणिक होती है कि तभी ऊब हो आती है। गांधीजी के पक्ष में जीवन का यह देन-लेन का व्यवहार समग्र और आत्मिक भाव से हुआ। आत्मता एक के द्वारा सबकी मिलती है, उसी तरह एक के द्वारा सबको प्राप्त होती है। चल-घूमकर उन्होंने विश्व को चुकाना नहीं चाहा। न एक-एक से मित्रता बनाने का कार्यक्रम रखा। बल्कि विदेश और वर्ग और व्यक्ति को शत्रु बनाने में भी उन्हें कठिनाई नहीं हुई! हुआ यह कि शत्रु-मित्र, स्वदेश-विदेश की भाषा के नीचे उन्होंने अपने को आत्मता द्वारा दिया और प्रत्येक को उसी आत्मता द्वारा ग्रहण किया। परिणाम यह है कि वैयक्तिक कर्म से वह सार्वजनीन सार्वभौम बनते गये।

यह किसी कोरे प्रेम का कार्यक्रम न था। ऐसा होता तो गोली से उन्हें न मरना पड़ता। न उम्र भर बार-बार जेलों में जाना पड़ता। असल में सेवा यदि व्यक्ति की थी, तो प्रेम एकमात्र सत्य का था। इसलिए एक-एक कर व्यक्ति को या देश को अपनाने की उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। सब उनके बनते चले गये तो इसलिए कि सत्य में सब आप ही अभिन्न होकर समाए हुए हैं। लेकिन प्रेम सत्य का था, इसीलिए यह घटना घटी कि अनेक को उनमें अप्रेम मिलता हुआ मालूम हुआ और अनेक की ओर से उन्हें अप्रेम ही नहीं द्वेष तक मिला। मैं इसको बहुत महत्वपूर्ण गिनता हूं कि उनकी मृत्यु हुई नहीं, की गयी। महत्वपूर्ण इसलिए कि मनुष्य की ओर से की जाती है, होती है केवल ईश्वर की ओर से। ईश्वर की ओर से जो अमरतत्व का प्रतीक होकर आये, उसे मारने वाला मनुष्य का स्वयं अहंकार हो, यही उचित जान पड़ता है। इसमें

मानो समस्त जीवन-दर्शन खिल उठता है।

बिजली तड़कती है तो काला आसमान ज्योति की रेखाओं से एक साथ दरक जाता है। इसी तरह काल ऐसे अकाल पुरुषों से चमक कर मानो एकाएक तरेड़ देकर टूट रहता है। काल फट जाता है और इस पुरुष का आविर्भाव नये युग के प्रादुर्भाव का सूचक बन आता है। यह मुझे उचित और संगत से आगे अनिवार्य लगता है कि अकाल पुरुष की अकाल मृत्यु हो। ऐसी ही मृत्यु से काल मानो अमरता को अपने बीच अवकाश देने को विवश होता है। स्पष्ट है कि अकाल-मृत्यु तभी हो सकती है, जब व्यक्ति से प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वेष की ऐसी शक्ति का उद्भव हो जो उद्विग्न और विचलित होकर हत्या और हिंसा पर उतारू हो आये। यह प्रक्रिया मानो मूलशक्ति के अभिनंदन स्वरूप घटित होती है।

अकालमृत्यु को महिमान्वित करना चाहता हूं, ऐसा नहीं है। ईसा के साथ चोरों ने भी फांसी पायी थी। मतलब यह कि जिनको शीर्ष और केन्द्र में लेकर तीव्र प्रेम और तीव्रद्वेष जगत को मथता हुआ ऊपर आ उठता है, वे मानों परमेश्वर की ओर से मानवता के आत्म-मन्थन के निमित्त भेजे हुए अवतारी पुरुष ही होते हैं। उस कृती के उदाहरण से जगत् आत्म-दर्शन और आत्मलाभ का अवसर पाता है। मानो उस उपलक्ष से आदि तत्व अपने आदि द्वन्द्व में जूझते हुए दीख आते है। राम-रावण, पाण्डव-कौरव, धर्म-अधर्म का युद्ध चाक्षुष जगत् में प्रत्यक्ष हो आता है।

गाँधी के जीवन के साथ वही मृत्यु मेल खाती है जो उन्हें मिली। मानो वह उनके जीवन-पाठ को परिपूर्णता दे देती है। प्रेम को अहिंसा कह सकते हैं। लेकिन सत्य के बिना सब अधूरा है, यह पाठ उस मृत्यु से अमोघ बन जाता है। संभव था कि जीवन द्वारा वह कुछ ओझल भी रह जाता और हम उस महात्मा के लोक-पक्ष को ही देखते। मृत्यु से मानों उसके आत्मपक्ष, अलोक पक्ष की पीठिका भी स्पष्ट हो जाती है। ●

धर्म-निरपेक्षता और गांधी

धर्म-निरपेक्षता के दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो वह जो सर्व-धर्म-समादर में से आती है। दूसरी, जो धर्म की उपेक्षा में से फलित होती है। मुझे प्रतीत होता है कि धर्म के बिना व्यक्ति लौकिक से घिर जाता है, उसका विभु नहीं बन पाता। यह धर्म प्रत्येक की आन्तरिकता से सम्बन्ध रखता है, लेकिन रहन-सहन के इकट्ठे होने के कारण तत्व-दर्शन और प्रार्थना-पूजा की विधियों को लेकर सामुदायिक भी हो जाता है। विश्व का सारा मानव समाज इस तरह पांच-सात धर्मों में बंटा हुआ है। वे बुद्धिशाली लोग भी, जो धर्म-निर्भर अपने को नहीं मानते उससे उत्तीर्ण मानते हैं, जाने-अनजाने अमुक मात्रा में अमुक धर्म-समुदाय में रचे-पचे होते हैं। मैं जैन हूँ, आप सनातनी हैं, वे मुस्लिम हैं, चौथे ईसाई हैं। इत्यादि घटना सदा मन के निर्णय से नहीं बनती, मानो जन्म की और आस-पास की स्थिति से सहज बनी हुई होती है। जो धर्म-निरपेक्षता इस यथार्थता और वास्तविकता से विमुख और असावधान होकर लोक-कल्याण करना चाहती है, वह उतनी सफल नहीं हो सकती। कारण, वह ऊपरी सतह के काम-काजी आदमी को लेती है, उसकी अभ्यन्तरता को हिसाब से बाहर छोड़ देती है। अर्थात् वह पूरे व्यक्तित्व का लाभ नहीं उठा पाती।

लोकवादी दर्शन और कोरमकोर कर्मवादी कार्यक्रम मेरे विचार में सांस्कृतिक विकास में बहुत मदद नहीं कर पाएंगे। इसमें से जो फलित होगा, वह भौतिक प्राचुर्य तो हो सकता है और उत्कट राजकारण भी हो सकता है, लेकिन नैतिक और सांस्कृतिक उन्नति दूसरी चीज़ है।

वस्तु और कर्म पर जब एकांगी जोर पड़ता है, तो मानवीय गुणों के प्रति अपेक्षा वातावरण में कम हो जाती है, कुछ उपेक्षा-सी होने लगती है। इस कारण कुल मिलाकर मनुष्य और मनुष्यता का ह्रास होता है। धर्म कई हैं और सम्प्रदायों में बंटे हैं। इसलिए उन सबसे एक-साथ किनारा लेकर जो लोकवाद (सैक्युलरिज्म) उनकी विभिन्नता से अपने लिए सुरक्षा बनाकर

चलना चाहता है, उसके गहरे में उन धर्मों के प्रति समान तटस्थता नहीं होती है, बल्कि एक प्रकार का समान निरादर होता है। जिसमें समानता आदर की है, उपेक्षा की नहीं है, वह धर्म-भाव-सम्पन्न लोकवाद अधिक कार्य-कारी हो सकता है।

इन दोनों दृष्टिकोणों को स्पष्ट करने के लिए दो नाम समक्ष हैं : गांधी और नेहरू। गांधी भी व्यावहारिक और राजनीतिक थे, लेकिन मूलतः धर्म-भावापन्न थे। चोटी रखते थे, अपने को वैष्णव कहते थे। लेकिन धर्मों और सम्प्रदायों को परस्पर पास लाने में उनसे अधिक काम कौन कर पाया है!

मध्ययुगीन भारत में अकबर ने धर्मों को निकट लाने का प्रयत्न किया, पर गांधी और अकबर के प्रयत्नों की भूमिका मैं एक नहीं मानता हूँ।

··· पौराणिक प्रथा ठीक है। वहाँ समन्वय सहज होता चला गया। लेकिन वह कैसे हुआ और किसने किया? मुझे नहीं प्रतीत होता कि यह काम शासक या लोकनायक द्वारा हुआ होगा। भावनाशील पुरुषों के द्वारा यह अनायास संपन्न होता चला गया। लम्बा-चौड़ा आयोजन और जुटाव उसके पीछे नहीं था। ऐसे प्रयत्न हो सकते हैं जो गहरी आत्म-श्रद्धा में से न आएं, लोक-प्रयोजन के तल की प्रेरणा से ही हों। मेरा इस जगह मंतव्य यह है कि हृदय में से निकले हुए प्रयत्न ही इस क्षेत्र में फलदायक होंगे। केवल प्रयोजन के हेतु से किया गया यत्न सफल नहीं होगा। अर्थात्, स्वयं जिसका रूप धार्मिक है, केवल लौकिक नहीं है, उस कार्य की सिद्धि में वह लोक-कर्म या संघ-कर्म उपयोगी होगा, जिसके मूल में स्नेह की विवशता होगी।

··· केवल परिचय से काम नहीं चलता है। बल्कि उल्टे घृणा का काम भी उससे लिया जा सकता है। एक बन्धु ने बड़े परिश्रम से अरबी भाषा पढ़ी और कुरान का गहरा अध्ययन किया। अच्छे-अच्छे मौलवी उनके इस्लामी ज्ञान पर दंग रह जाते थे। लेकिन यह सब विद्या इस काम आयी कि वे इस्लाम के प्रति अवज्ञा और द्वेष ही जीवन भर फैलाते रहे! संस्कृतज्ञ मौलवी भी ऐसे मिल जाते हैं कि जिनकी विद्या उन्हें हिन्दू के निकट नहीं लाती है, बल्कि विमुख बनाती है। केवल एक-दूसरे के विषय का बोध काफी नहीं है। स्वयं में यह उलटा फल भी ला सकता है। जो आवश्यक और मूलभूत है, वह यह कि पहले इतर के लिए हममें स्नेह और आदर हो। स्वयं के प्रति राग कम होगा ठीक उतनी ही मात्रा में पर के प्रति द्वेष भी कम होता जायगा। पर को पररूप में देखकर जितना भी जानेंगे, वह सब जानकारी ग़ैरियत को मिटाने वाली नहीं, बढ़ाने वाली होगी।

छुटपन में एक कहानी एंड्रोक्लोज की पढ़ी थी। कभी शेर के पाँव से उसने काँटा निकाला था। कई रोज भूखे रखे गये शेर के सामने जब सजा के तौर पर एंड्रोक्लोज को डाला गया, तो शेर ने उसको पहचान लिया। लोग तब सारे अचम्भे में रह गये देखकर कि, दोनों तो परस्पर लाड़ कर रहे हैं ! मैं अपने मन से पूछता हूं कि एंड्रोक्लोज से पूछा जाता कि शेर लम्बा कितना था, पूछ कितनी बड़ी थी, बदन पर उसके चित्तियां थीं तो कितनी थीं इत्यादि तो क्या वह बता भी सकता था ? लेकिन शिकारी के ज्ञान को देखें। वह जब वैज्ञानिक अध्ययन करता है, शेर की एक-एक बात को पहचानता और परखता है, तो वह ज्ञान आखिर उसको शिकारी ही तो बनाता है; शेर के लिए उसमें कोई अपनेपन का भाव तो नहीं पैदा करता ! शेर और शिकारी का सम्बन्ध अपनेपन का नहीं है, गैरियत का है। अर्थात् परस्पर-परिचय आदि स्वयं में उस इष्ट में सहायक नहीं होता है। होता है तो तब, जब पहले भावना उस प्रकार की जाग चुकी होती

भारत के वैलफेयर राज्य की ओर से इस प्रकार के प्रयत्न हो रहे हैं। वे शुभ हैं, उपयोगी हैं। लेकिन शुभता और उपयोगिता वह फलवती तब होगी, जब वातावरण में गम्भीर धर्मभाव भी होगा। सेक्युलरिजम, जो केवल लोकवादी है, अगर हवा उससे भरी होगी, तो निकट लाने के प्रयत्न होते रहेंगे और दूरी भी बढ़ती रहेगी। कारण, बुद्धि-व्यापार हृदय से समानान्तर चलता । धर्म हृदय की वस्तु है।

अकबर स्वयं जबकि शासक थे तब गांधी का सम्बन्ध शासन से या भारत की राजनीति से था तो परामर्शक के रूप में कांग्रेस के द्वारा ही था। अकबर ने दीने-इलाही का निर्माण किया, जिसमें उन्हें आशा थी कि हिन्दू-मुस्लिम संगम हो जायगा। गांधी में उस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं दीखता। उनके आश्रम में जैसे जिस-जिस प्रकार के लोग आते चले गये, प्रार्थना में उसी विधि के भजन-स्तवन शामिल होते चले गये। यह नियोजनपूर्वक नहीं हुआ, परिस्थिति की और हृदय की आवश्यकता के अनुसार हुआ।

गांधी के एकता सम्बन्धी प्रयत्न मानो तपस्या और तितिक्षा को प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर बनाने की ओर चलते गये। साथ ही कर्म-क्षेत्र में कांग्रेस को वे उस प्रकार की प्रेरणा देते गये। ऐसा कोई प्रयत्न उनके द्वारा नहीं हुआ जहाँ वेद और कुरान का मिला-जुला संस्करण निकालने की चेष्टा की गयी हो। न मस्जिद-मन्दिर के समन्वय की बात उनमें देखी जाती है। गांधी जी का प्रयत्न महात्मा का है। अकबर का शहंशाह का है।

विफल दोनों हुए, तो सच यह कि संपूर्ण रूप से सफल कभी कोई होगा ही नहीं। आदमी में द्वेष शेष रहे ही चला जायेगा, जिससे पुरुषार्थ के लिए अवकाश रहे। लेकिन दीने-इलाही की विफलता जैसी चीज गांधी जी के लिए कहीं न थी; क्योंकि वैसा प्रयत्न न था। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष की जो ज्वालाएं फैलीं, तो कांग्रेस के हिन्दू-मुस्लिम एकता कार्यक्रम में से कांग्रेस-लीग की फूट ही निकलती चली गयी। वह इतिहास दूसरा है और उसके कारण दूसरे हैं। यह तो निस्सन्देह माना जायगा कि वह विफलता गांधी की भी है, लेकिन उसका निदान मैं गांधी-काँग्रेस के सम्बन्ध में अधिक देखता हूं। गांधी का धर्म-भाव काँग्रेस के पास आकर अगर केवल कर्मवाद बना रह गया, तो अवश्य त्रुटि गांधी में भी रही होगी। कांग्रेस ने एकता को प्लेटफार्म बनाया, साधना नहीं बनाया। गांधी साधना में से एकता सिद्ध किया चाहते थे। कांग्रेस राजनीतिक जमात थी और साधना की बात ही उसे असंगत थी। कांग्रेस की विफलता गांधी की विफलता नहीं है, यह मैं नहीं कहता हूँ। लेकिन गांधी का इस प्रश्न के प्रति दृष्टिकोण अकबर से और कांग्रेस से भिन्न था।

जिस पर सब धर्म एक हैं और जहाँ वे उस एकता का अनुभव कर सकते हैं वह भूमि ईश्वर के सिवा दूसरी नहीं है। आज भी लगभग सभी अनुभव करते हैं कि ईश्वर, गाड, अल्लाह एक हैं। कुछ पहले ऐसा अनुभव नहीं था और ये सचमुच तीन थे। लेकिन उत्तरोत्तर जान पड़ता रहा है कि तीन नहीं, सहस्र-सहस्र नाम और अरब-खरब अन्तर ईश्वर में विलीन हो जाते हैं। परम एकता वहीं है।

धर्म वह है जहाँ व्यक्ति स्मरण-प्रतिस्मरण, पूजा-प्रार्थना आदि के द्वारा अपना सम्बन्ध उसी एक से बनाता है। अतः धर्म से बाहर ऐक्य कहीं मिलने वाला नहीं है।

धर्म स्वयं अनेक हैं, लेकिन पहचान गये हैं कि वे आपस में जुड़े सब उस एक से ही हैं। अनेकता सम्प्रदायों की रहती भी चली जाय, तो हानि नहीं है, बशर्ते कि वहाँ धर्म-भाव हो। क्योंकि धर्म-भाव होने पर एकता की अनुभूति के द्वारा अनेकता स्वयं सुन्दर और आदरास्पद बनती है।

जीवन-व्यवहार की लोकभूमिका पर हरएक को व्यक्ति और नागरिक बनकर बरतना पड़ता है। इस तरह प्रकटतः वहां सब समान हो जाते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि यह काफी नहीं होगा। कारण, संघबद्ध स्वार्थ सम्प्रदाय की आड़ लेते हैं और उस साम्प्रदायिकता का पूरा-पूरा लाभ उठाया करते हैं। अभी हाल के अपने अनुभव की बात कहता हूं। जैनों के दो सम्प्रदाय वैमन-

स्य में मानों आपस में उलझ पड़े थे, बड़ी गरमागरमी थी। लेकिन दोनों पक्षों के सर्वमान्य स्थानीय नेता एक जगह टिके थे, एक थाली में खाते थे, एक कम्पनी में साझेदार थे। दोनों के लिए साम्प्रदायिक फटाव साधन-रूप होता था, दोनों ही इस तरह करोड़पति बनकर आपस में बराबरी के मित्र बन पाते थे! ●

गांधी और हमारी राष्ट्रीयता

●

गांधीजी और भारत की राष्ट्रीय काँग्रेस के साथ का समय भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण युग है। उसमें बहुत-सी बड़ी-बड़ी घटनाएं घटी आन्दोलन और दमन हुए, अंग्रेजी हुकूमत गई, भारत दो टूक हुआ, और अन्त में गाँधीजी सीने पर तमंचे की गोली खाकर धराधाम से विदा हो गये।

उनके बाद से भारत अपनी स्वतंत्रता से जूझ रहा है और अपने को मुसीबत में अनुभव करता है। उसमें से कट कर पाकिस्तान बना है और उस विभाजन में से शरणार्थियों की समस्या आ बनी है। वह समस्या चैन नहीं लेने देती है। वह मजबूर करती है कि राष्ट्रीयता को उलट-पलट कर फिर-फिर परखा जाय और उसके सम्बन्ध में सही दृष्टि प्राप्त की जाय।

गांधीजी के रहते भारत की राष्ट्रीयता को उनसे मार्ग दर्शन मिलता रहा। स्वयं गाँधीजी को यह झमेला नहीं छूता था। कारण, उन्होंने अपना धर्म अहिंसा माना था। अहिंसा धर्म होने से एक और अनेक की समस्या का उनके भीतर ऐसा समाधान हो जाता था कि तात्विक कोई कठिनाई उन्हें नहीं होती थी। बाहर से व्यवहार की कठिनाई जो आती थी, उनकी आंतरिक श्रद्धा से छूकर वह कुछ हल ही होती थी, हावी न हो पाती थी। अपने और अपनी आत्मा के रहकर सबके बनते जाने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। सबके होने के लिए उन्हें अपनी मर्यादा छोड़ने की आवश्यकता नहीं थी। एक में से ही उन्होंने सब को साधा था। अन्त तक कहा कि मैं सनातन हिन्दू वैष्णव हूँ, उसी में से सब धर्म मुझे समान बनते हैं। वे सब भी मेरे हैं, मैं उनका हूँ। मेरा वैष्णवत्व मुझे यह सिखाता है।

यों यह स्थिति अपरिचित नहीं है। सूफी और मर्मी लोग सब में उस एक को देखते कहे जाते हैं। लेकिन शायद वह एक को इतना देखते हैं कि अनेक को उनकी आँख यथोचित महत्व नहीं दे पाती। गांधीजी ने अनेक के, एक-एक के अलग-अलग, महत्व को कम नहीं किया। वही उनका सबसे बड़ा दान है। राजनीति जो दुनिया के कामकाज सम्भालने का दायित्व लेकर अपने लिए प्रभु-

त्व सम्पादन करती है, गाँधीजी से आदेश और अनुमति प्राप्त करने की स्थिति से ऊंची नहीं रह सकी। कारण, राजनीति अनेकता में रहती है, उसको पहचानती है, उसके साथ बर्ताव करने में कुशलता साधती है ; लेकिन राजनीति ने पाया कि गाँधीजी उस अनेकता को स्वयं उससे भी अच्छी तरह जानते हैं। वह छोटी से छोटी अनेकता (अल्पसंख्या) को भी गौण मानने को तैयार नहीं हैं, उसका भी आदर और संरक्षण कर पाते हैं। आदर्शवादी अधिकांश यहीं चूकता है। भविष्य के आवाहन में वर्तमान को वह यथोचित मान नहीं दे पाता। वर्तमान और भविष्य, व्यवहार और आदर्श, के अन्तर पर अधीर और व्यग्र होकर वह बाधा को अपने से बाहर देखने लगता है और उसको बलात् मिटाने की चेष्टा में पड़ जाता है। यह प्रयत्न जब विफल होता है तो वह और हठ ठानता है। परिणाम यह तो आता नहीं कि अनेकता मिटे, होता यह है कि अनेकता में जो अन्तर्व्याप्त ऐक्य-सूत्र है वह उसे और ओझल और क्षीण बनता है और अनैक्य, ऊपर के रूपाकार से भीतर की ओर मुड़कर, ऐक्य-श्रद्धा को काटने और खाने लगता है।

गांधीजी जब भारत आये, और फिर कांग्रेस में आये, उस समय यहां कम दल न थे। लेकिन देखा गया कि मानों आप-ही-आप समूचा राष्ट्र शनैः शनैः एक और इकट्ठा होता जा रहा है। विरोधी हैं, पर मानों वे भी विरोधी नहीं हैं। जिस नीति से यह विस्मय सम्पन्न हुआ वह बुद्धिचातुरी अथवा कूटनीति की नहीं थी। गाँधी के व्यक्तित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह एकदम सरल थी। वह सबको अपनी-अपनी जगह मान्यता देकर चलने की थी। सबको अपनी निजता में अक्षुण्ण रहने देने और रखने का काम उन्होंने अपना मान लिया था, इस कारण किसी को तोड़ने की भाषा उनके लिए अनावश्यक हो गई। अपने सत्य पर स्वयं डटे रहना और दूसरे को एवं दूसरे के सत्य को उसी प्रकार अवसर देना—इस निपट एक, फिर भी दुहरी, नीति के पालन से उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को वह मार्ग मिलता चला गया जो उसे चाहिए था।

किन्तु गांधी और कांग्रेस किसी भी समय एक नहीं हो सके। स्वयं गाँधीजी ने यह नहीं होने दिया। गाँधीजी भाव में ऐक्य इतना साध सके थे कि शरीराकार में तो विविध और विभिन्न बने रहना ही उन्हें उचित जान पड़ा। परिणाम यह कि जब उन्हें अनुभव हुआ कि कांग्रेस उनसे अलग स्वयं अपने पैरों खड़े होने की सामर्थ्य खो रही है, इतनी उन पर निर्भर होती जा रही है, तब उन्होंने कांग्रेस मेम्बरी से भी अपने को अलग कर लिया। कांग्रेस को यदि अनिवार्य

लगे कि वह गाँधीजी का नेतृत्व खोजे और पाये, तो भी गांधीजी उसकेसंचा-लन-सूत्र को अपने हाथ में थामने वाले न थे। उनकी ओर से यह विभाग मानों जवाहरलालजी का हो चुका था। परामर्श के लिए वह सुलभ थे, शेष में छुट्टी थी कि जवाहरलाल काँग्रेस को अपनी राह चलाएं। गाँधी और जवाहरलाल के संबंध कांग्रेस के पिछले दिनों के इतिहास की कुंजी हैं। जवाहरलाल जैसा गाँधीजी का भक्त दूसरा मिलना कठिन है। पर अपने प्रति खरे रहने की आवश्य-कता की अतिरिक्त चेतना से भी जवाहरलाल बच नहीं पाते थे। गाँधी के प्रति समर्पण में से जवाहरलाल कुछ भी अपने पास बचा रखना चाहते थे, सो नहीं; पर गाँधी समर्पण स्वयं लेना न सीखे थे। समर्पण सब भगवान् का है। और गाँधी इतने आस्तिक थे कि मानते थे कि कोई अलग ईश्वर की ओर से इस लिए नहीं बना है कि वह अपने अलगपन को, यानी अपने अलग 'अहं' और अलग बुद्धि को अपने पास न रखे। इसलिए जब-जब जवाहरलाल की ओर से मतभेद उन तक गया तभी तब उनकी ओर से द सुरक्षित वापिस जवाहरलाल जी के पास ही कर दिया गया। उसको तोड़ने और गलाने का काम कभी रत्ती भर भी गाँधीजी ने नहीं किया। जवाहरलाल स्वयं अपनी ओर से यह करते तो कर सकते थे। पर वह अपनी प्रकृति और रक्त को कहाँ ले जाते? ईश्वर, जो गाँधी का समूचा बल और संबल था, जवाहरलाल की समझ के हाथ किसी तरह न आता था। उस धारणा में जवाहरलाल को बल्कि अंधेरा इकट्ठा हुआ दीखता था। उस अंधेरे की जगह बिजली के जलते अक्षरों में वह 'उन्नति' लिख डालना और पढ़ देखना चाहते थे। गाँधी धार्मिक थे, पर जवाहरलाल आँख खोलकर धर्म को कैसे मान सकते थे? धर्म कई थे और इतिहास बताता था कि वे आपस में झगड़ते आये हैं। ऐसी हालत में बहुत उदार हुए तो वह 'धर्म-निरपेक्ष' ही हो सकते थे।

इस पृष्ठ-भूमि पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या के इतिहास को समझें। मुस्लिम के वही अधिकार हों जो हिन्दू नागरिक के, यह परिणाम तो दोनों ही को प्राप्त था। लेकिन जवाहरलाल के लिए जब कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों शब्द वृथा थे और वहम थे, तब गाँधीजी को दोनों धर्म और दोनों धार्मिक प्रिय थे। राष्ट्रीयता जवाहरलाल के लिए इस अर्थ में असाम्प्रदायिक थी कि संम्प्रदाय से वह मुक्त रहे। गांधीजी के लिए उसके असाम्प्रदायिक होने का मतलब यह था कि वह प्रत्येक सम्प्रदाय के लिए अपनी हो सके।

हिन्दू-मुस्लिम शब्द गांधीजी के लिए प्रतीक थे। व्यवहार की अनेकता नाना शब्दों का सहारा लेकर बनती और प्रगट होती है, हिन्दू-मुस्लिम के नीचे

मानों भेद की वह समूची भूमिका ही आ जाती था। भेद के प्रति अधीर और अवज्ञाशील होना क्या नास्तिकता ही न कहलायेगी ? बैर बैर से किया जा सकता है, बैरी से नहीं। बैरी मानकर चलने से बैर आप ही पड़ने लगता है। पर असल में तो बैरी कोई है ही नहीं। जो अपने को वैसा मानता है वह भूल में है ; शायद वह भय में है। बैर को मिटाने के लिए बैरी को मान देने से शुरू करना होगा। मान ऊपरी नहीं, बल्कि हार्दिक। ऊपर से तो बल्कि चाहे असहयोग और सत्याग्रह भी चल सकता है।

इस दृष्टि से गांधीजी ने इस्लामी राजनीति से अधिक इस्लाम धर्म की ओर ध्यान दिया। इस्लाम धर्म यदि शांति का है, और फिर भी अगर मुसलमान अशांति के लिए तुला दीखता है तो कहीं न कहीं कोई विकार ही उसमें कारण बना हो सकता है। शायद मुसलमान भाई अपने कुरान से दूर चला गया है। मुसलमान के कारण पैदा हुई उलझन का हल कहीं बाहर से नहीं आयगा, वह उसी में से आयगा। वह इसी प्रयत्न में से आयगा कि मुस्लिम अपने को और अपने काम को अपने ईमान पर कस कर देखे। गांधीजी ने इसीसे हिन्दू को कहा."सच्चे हिन्दू बनो", मुसलमान से कहा—"सच्चे मुसलमान बनो"। इस तरह हिन्दू के सही-सही हिन्दू बनने और मुसलमान के मुसलमान बनने के आग्रह से सम्मिलित भारतीयता या राष्ट्रीयता कैसे पनपेगी, यह शंका गांधी को नहीं हुई। उनकी श्रद्धा थी कि अपनी-अपनी जगह सच्चे इन्सान बनने की कोशिश में से जो निकलेगा वही सच्चा होगा। राष्ट्रीयता भी वही सच्ची होगी। किसी भी धर्म को छोड़ने की जरूरत किसी के लिए क्यों पड़े ? क्या कोई धर्म हो भी सकता है जो आदमी को सच्चा और सेवाभावी बनने-बनाने के लिए ही न आया हो? इससे राजनीतिक समस्या की सुलझन के लिए काम नीचे गहराई में करना होगा। शायद उतनी गहराई में कि जहां मनुष्य का अंतःकरण और उसका धर्म रहता है । असल वही है, वहां किया गया काम ऊपर फूल या फल में आप ही झलक आयेगा। अतः मुख्य कर्तव्य मन का और चेतना का संस्कार है।

लेकिन वह न हुआ। गांधी जी को ही वह सब कर जाना था, यह मानना अपने को क्षमा कर रहना होगा। गांधी जी अपनी भांति जीकर, चलकर और हमारी आंखों को खोल देने वाली सफलता भी दिखाकर एक जीवन नीति का उदाहरण सामने कर गये हैं। उससे अधिक करना किसी का काम नहीं है। उस मानव-नीति की भूमिका पर हमारा काम नहीं चल सका। राजनीति का बोल-बाला रहा और राजनीतिक अधिकारों की चाह और मांग से वातावरण गर्म बना रहा। गांधीजी यहां अंग्रेजी शासन के

शत्रु और अंग्रेज जाति के मित्र थे। कांग्रेस राष्ट्रीय होकर शत्रुता समझ सकती थी, मित्रता नहीं। मूल में यह अलगपन (Exclusivism) विरोधपन यदि हमारी राष्ट्रीयता के लिए स्वीकृत हो सकता था, तो वह नफरत का विष वहीं तक रह जाने वाला न था। अंग्रेज के प्रति हिन्दुस्तानी गौरवपूर्वक द्वेष रख सकता है, तो मुसलमान हिन्दू के प्रति ईमानन् अपने में नफ़रत का भाव क्यों नहीं उपजा सकता? अर्थात् उग्र राष्ट्रवाद ने यहां भारत में द्विराष्ट्रवाद को जन्म दिया। जान पड़ा कि भारतीय इस्लाम की आवाज़ कायदे आज़म जिन्ना की आवाज़ है। यह बात कि नमाज और कुरान से श्री जिन्ना का उतना गहरा वास्ता नहीं है, उस समय किसी के लिए तर्क-संगत नहीं रह गई थी। राष्ट्र-धर्म मानव-धर्म से स्वतन्त्र बन आया और श्री जिन्ना एक स्वतन्त्र मुस्लिम-राष्ट्र के नेता और निर्माता के रूप में प्रबल होते चले गये। जमीयत-उल-उलेमा, जो कुरान के ज्यादे नज़दीक थी, महत्वहीन चीज़ हो गई और मुस्लिम-लीग ज़ोर पकड़ती गई। यह सब गांधीजी के रहते हुआ, जैसे कि राजनीतिक क्षेत्र के और बहुत-से काम गांधीजी के बावजूद होते रहे।

लीग का ईमान साफ था। हिन्दू एक कौम है, मुस्लिम दूसरी कौम है, और दोनों अलग है। सदियों से साथ रहें हैं, पास में रहे हैं, सही; लेकिन कौमियतें दो हैं, और भारत की मुसलमान कौम के लिए एक अलग राज्य बनकर ही रहेगा। स्पष्ट ही यह राज्य बँटाने की नीति थी।

सम्मुख उसके गांधीजी की मानव-नीति थी। उसका कहना था कि बंटवारा चाहते हो, तो जबर्दस्ती से उसे रोका कैसे जाएगा ? इससे जबर्दस्ती से कुछ लेने की बात में भी क्या सार है ? आखिर क्या हिन्दू मुसलमान होने से दोनों भाई-भाई नहीं रहे ! बटवारा भाइयों में भी होता है। पर अपने दो के बीच तीसरे अंग्रेज को लाने से मन में फर्क पड़ता है और काम आसान नहीं होता। यह मान लो कि हम एक कुनबे के हैं और फिर चाहो तो बटवारा ही कर लो।

पर भाईपने का वातावरण न था। न कांग्रेस के पास, न लीग के पास। लीग राजनीतिक थी, तो कांग्रेस कम राजनीतिक न थी। अंग्रेज़ जाने लगे तो यहां का अपना राज्य किस पर छोड़कर जायँ ? जाने में उनके देर होती जाना भी भाता न था। आरजी जो राजकाज का इंतजाम किया था वह चलता नही दीखता था। खींचतान इतनी थी कि काम ठप्प था और मनमानी चलती थी। कांग्रेस कोई तत्व और सिद्धांत की तो संस्था नहीं थी, उनकी जिम्मेदारी तात्कालिक और व्यावहारिक थी। राज्य उसे चलाना था।

रोज की घिस-घिस से क्या लाभ ? चलो, झटके में एक बड़ा आपरेशन ही सही। इस भाव और नीति से, वातावरण में संशय और हिंसा होते हुए भी, अंग्रेज़ के हाथों कांग्रेस ने टूक-टूक हो जाना स्वीकार कर लिया। टूक-टूक हो जाना इसलिए कि यह काम बाहर से हुआ था, और सौहार्द साथ न था। आपस के समझौते से होकर वह चीज़ बंटवारा कहलाती और मन में मैल न छोड़ जाती। पर उस टुकड़े होने में से जो आग निकली वह तमाम आगे आने वाले राजनीतिकों के लिए चेतावनी का काम दे सकती है। चेतावनी यह कि राजनीति के लिए मानव-नीति को छोड़ना कभी-कभी क्षम्य होने वाला नहीं है !

उसके बाद से भारत की राष्ट्रीयता कसौटी पर है। विभाजन के बाद गांधीजी ने तो अपने लिए रास्ता निकाल लिया था। उन्होंने कहा कि हुकूमतें दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हुए। आगे उन्होने कहा कि क्या लकीर खिंच जाने से लाहौर मेरे लिए गैर हो जायेगा ? मैं वहां जाने-आने के लिए भला पासपोर्ट की सोचने वाला हूँ ? इस तरह कानूनन अगर राष्ट्र दो हो गये, और उनकी सरकारी राष्ट्रीयताएं दो हो गईं, तो गांधीजी ने अपने निकट इस नये द्वैत को स्वीकार नहीं किया। यानी स्वीकृत राष्ट्रीयता से उन्होंने अपने को अलग कर लिया। या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यहाँ की राष्ट्रीयता ने अपने को गांधीजी से और गांधी-मार्ग से अलग कर लिया।

गांधीजी किसी भी तरह पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमान को अपने लिए विदेशी बनाने को तैयार न थे। स्वयं हिन्दू थे, इसलिए मुसलमान उनका और भी अपना था। पाकिस्तान नाम हो जाने से पंजाब, सूबा सरहद, सिंध, बिलोचिस्तान या पूर्वी बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान लोग उनके लिए इतने पराये नहीं हो सकते थे कि उनकी भूलों और गलतियों को अनदेखी कर दें। भारत यूनियन में वह घिरकर नहीं बैठ सकते थे। भारत का पाप अगर उनके लिए अपना था, तो पाकिस्तान का भी पाप उन्हें उतना ही अपना था। मुसलमान के पाप के लिए भी प्रायश्चित करना उन्होंने अपना धर्म मान रखा था। इसलिए पाकिस्तान में होते हुए अन्याय पर हाथ पर हाथ धर बैठने के लिए वह मजबूर न थे।

लेकिन कांग्रेसी राष्ट्रीयता अपने हाथ कटा चुकी थी। वह पाकिस्तान के संबन्ध में असहाय हो चुकी थी। विदेश के रूप में ही पाकिस्तान पर वह प्रभाव डाल सकती थी, या उससे निबटने की सोच सकती थी। आत्मीय के रूप में उसका मन और मत बदलने, या इस तरह उसको गलती से बाज आने

के लिए मजबूर किसी तरह न कर सकती थी।

नतीजा यह कि मुसलमान के पास एक साथ दो देश हो गए। पाकिस्तान उसका अपना धर्म-भूमि के नाते, और भारत भी अपना जन्म और कर्म-भूमि के हक से। पाकिस्तान मुस्लिम राष्ट्रीयता के नारे पर बना था और उसी के रूप में अपने को जमाने का उपाय उसके पास था। उसकी प्रतिक्रिया में हिन्दू राष्ट्रीयता उभरी। हिन्दू ने अनुभव किया कि पाकिस्तान जब कि उसका है नहीं, तब हिन्दुस्तान तो पूरी तरह उसका हो। कांग्रेस को यह स्वीकार न था। उसकी हुकूमत धर्म-निरपेक्ष होकर ही चलने वाली थी। हिन्दू-मुसलमान में भेद पालना उसे मंजूर न था।

भारत की राष्ट्रीयता की स्थिति की यह उलझन जारी ही है। कांग्रेस भारत-यूनियन की सरकार बन चुकी है और उससे अलग उसकी कोई स्थिति नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि ताकत सरकार है और उस बल के अभाव में कांग्रेस संस्था निर्जीव ही है। खान अब्दुल गफ्फार खां इस कांग्रेस के अनन्य सेवक और सैनिक रहे हैं, लेकिन कांग्रेस उस नाम को आज मुँह पर भी नहीं ला सकती। यानी कांग्रेसी राष्ट्रीयता हद-बन्द है। इस्लाम के नाम पर बराबर में जो एक नया राष्ट्र भारत के ही शरीर में से कट कर बन खड़ा हुआ है, उससे मुँह फेरकर ही चलने को वह लाचार है। वह मुसलमान को इस शर्त पर ही अपने अन्दर समा सकती है कि वह भारत की परिधि में हो। परिधि से बाहर होकर मुसलमान उसके बूते से भी बाहर हो जाता है। हिन्दू इसलिए कांग्रेसी-राष्ट्रीयता से आश्वस्त नहीं हो पाता। संशय से उसे उद्धार नहीं मिलता और कोई उसे कारण नहीं दीखता जो भारत के मुसलमान को दुतरफा वफादारी से बचा सके। हिन्दू नहीं समझ सकता कि मुसलमान को दुहरा लाभ क्यों मिलता चला जाए और क्यों खुल्लम-खुल्ला भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू-राष्ट्रीयता न बन जाए? हिन्दू-राष्ट्रीयता में, वह कहता है, यह नहीं आता कि मुसलमान यहाँ न रहे, इतना ही है कि हिन्दुओं के सद्भाव के आधार पर ही वह रहे और देश हिन्दू-देश समझा जाए।

इस तरह गांधीजी की मौलिक मानवीय राष्ट्रीयता के अभाव में इस समय दो राष्ट्रीयताओं में बदाबदी है। दोनों को मौलिक की जगह तान्त्रिक कहा जा सकता है। एक कांग्रेसी और धर्म-निरपेक्ष, दूसरी संघी और हिन्दू-धर्म-परायण।

यह कि कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सहारा नहीं लेतीं और वे राजनीति में सक्रिय हैं, राष्ट्रीयता के विचार में विशेष

महत्व की बात नहीं है। साम्यवाद राष्ट्र से अलग होकर विचार करता हो, लेकिन साम्यवादी दल कहीं भी राष्ट्र के सांचे को या राष्ट्रीय भाव को अलग छोड़कर नहीं चलता। शक्ति वह अपने लिए यहीं से खींचता है। लेकिन राष्ट्र और राष्ट्रीयताएँ उसके लिए प्रयोजन सिद्ध करने के साधन हैं; इससे धर्म-परायण अथवा कि धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीयता के इन दोनों प्रकारों के सम्बन्ध में उसे विशेष चिन्ता नहीं है। चिन्ता उसे यदि है तो यह कि लोक-चेतना आर्थिक की जगह कहीं नैतिक न हो जाय !

मेरा मानना है कि राष्ट्रीयता का गांधी-आधार यदि हम स्वीकार करना चाहें तो उसके फलितार्थों को छोड़ने से नहीं चलेगा। अहिंसा को, यानी समन्वय को, सत्य और सत्य के आग्रह के साथ चलाने से ही भारत राष्ट्र उठ सकेगा और शायद दुनिया के लिए भी कुछ कर सकेगा। समन्वय में मेल और समझौता है, तब सत्य के आग्रह में से असहयोग और शांत-युद्ध भी निकल सकता है। जब तन्त्र इतने प्रबल और व्याप्त हो रहे हैं, तब मानव की आत्म-प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिए नकरात्मक नहीं बल्कि प्रेरक रूप में गांधी-नीति को स्वीकार करना होगा। ●

सत्याग्रह

●

आग्रह अपूर्ण में ही हो सकता है। अन्यथा आग्रह के लिए अवकाश ही नहीं रहता। सिद्धि के लिए सत्याग्रह असिद्ध बनता है। साधक के लिए सत्याग्रह ही मार्ग है।

अपूर्ण के लिए आग्रह इसलिए उचित बनता है कि पूर्ण पाने का और उपाय नहीं है। व्यक्ति अपूर्ण है, जो सत्य के रूप में उसमें प्रतिभासित हुआ है, वह भी अपूर्ण ही है। पर अपूर्ण कहकर उसे वह छोड़ नहीं सकता। उसी के सहारे उसे जीना और मरना है। व्यक्तिगत धर्म इसलिए सत्य के उस रूप के प्रति अनन्य आग्रह का ही रह जाता है।

सच्चा साधक जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उस जितना ही नहीं है। इसलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही भद्र और सविनय रहेगा। जीवन स्वीकार और इनकार इन दोनों तटों को रखकर ही चल सकता है। कुछ लेना और कुछ छोड़ना पड़ता है। निश्वास के बाद प्रश्वास आता ही है। अर्थात् निषेध की शक्ति जीवन-सामर्थ्य में गर्भित है। अहिंसा में मात्र स्वीकार है, जीवन अहिंसा से स्थिति और अवकाश प्राप्त करता है। स्थिति में गति सत्य के आग्रह में से ही प्राप्त होती है। सत्याग्रह के बिना अहिंसा निष्क्रिय है। कर्म सत्याग्रह में से जन्म पाता है। गति और वेग सब वहां से आता है। अहिंसा के योग से जो होता है सो यह कि उस क्रम में बन्धन नहीं पैदा होता और उस गति से स्थिति में भंग नहीं आता। लेकिन स्पष्ट रहना चाहिए कि केवल अहिंसा वेग को खाती है, जीवन की क्षमता के लिए सत्य का आग्रह अनिवार्य धर्म होता है। वह मानो सिक्के का सामने का रुख है, उसके बिना अहिंसा मूल्यहीन हो जाती है। अहिंसा मानो उसकी पीठ है कि जिस सत्य को हमेशा समक्ष रहना चाहिए।

बल्कि मैं यों कहूंगा कि सत्य की पूर्णता की प्राप्ति के लिए व्यक्ति के पास प्राप्त अपूर्ण सत्य के प्रति आग्रह और अर्पण का ही एक अधिकार रह जाता है। उससे अलग और अधिक कुछ उसका अधिकार होता ही नहीं है।

आग्रह से संघर्ष निकलता है। वह संघर्ष अमानुषिक यदि होता है, तो तब जब विनय की शर्त छूट और टूट जाती है। यदि विनम्रता की शर्त के साथ चले तो सच्चे आग्रह में से निकला हुआ संघर्ष मानवीय ही नहीं, दैवी तक हो जाता है। कर्म-युद्ध यदि धर्म-युद्ध बनता है, तो तभी जब एक ओर से धर्म की मर्यादाओं की रक्षा प्रथम प्रतिज्ञा बनती है, और शत्रु का पराजय मानो द्वितीय अभिष्ट हो रहता है। ऐसे धर्म-युद्ध में से ही संस्कारिता निकलती और संस्कृति सम्पन्न होती है।

बुद्धि शब्द से चलती और मत तक पहुंचती है। सत्य उसके पार रह जाता है। इसलिए बुद्धि में से कभी सत्याग्रह का निर्णय नहीं आता। मूर्त के साथ हमारे सम्बन्धों के नियमन के काम बुद्धि आती है। सत्य मूर्त नहीं होता। इसी से बुद्धि नहीं, बल्कि श्रद्धा में से सत्याग्रह की उद्भावना होती है। बुद्धि जब तक है, उपाय होता रहता है। उपाय सब हार जाते हैं, अर्थात् बुद्धि हार जाती है, तब सत्य में शरण लेनी होती है। जगत् से हारकर सब सम्भावनाओं को चुकाकर, अन्त में सत्येश्वर की शरण जो लेता है, वह सत्याग्रह कहलाता है। आग्रह दीखने में है, अन्यथा वह शरणगति है। सत्याग्रही विवश होता है, वह ईश्वर के हाथ में होता है। वहीं अपने को सौंपे रहता है। वह कर्त्ता रह नहीं जाता। मानो सत्याग्रही सत्याग्रह में अपने को पाता है, सत्याग्रह उतना 'करता' नहीं है।

इसलिए सत्याग्रह के साथ शर्त नहीं हो सकती। तरतमता नहीं हो सकती। सौम्यतर और सौम्यतम की भाषा बुद्धि की है। वह दूसरे की ओर से आ सकती है, स्वयं सत्याग्रही की ओर से उस प्रकार की भाषा के लिए कोई अवकाश या व्यवधान ही नहीं रह जाता। सत्याग्रही और सत्याग्रह के बीच विवशता है और अभिन्नता है, तर्क और कर्तृत्व नहीं है। मैं मानता हूं कि सत्याग्रह, मनुष्य के पास वह आयुध है, जो ईश्वरीय है। उसका समर्थन दुनिया में से किसी तरह भी नहीं आ सकता है। दुनिया की ओर का कोई औचित्य सत्याग्रह को उचित नहीं दिखा सकता। उस प्रकार का सब तर्क और सब विचार मानो बाहरी होता है। सत्याग्रह आन्तरिक विवशता में से फूटता है। उसके औचित्य का निर्धारण किन्हीं बाह्य विचार-तर्कणाओं पर निर्भर नहीं हो सकता। परिस्थिति की धीरता से अधिक व्यक्ति की अवशता और अहिंसकता में से वह बनता है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध उस अवस्था में इतना उठ जाता है कि मानो समष्टि के संदर्भ में जा मिलता हो। मानो व्यक्ति का झगड़ा स्वयं परमेश्वर से हो, परिस्थिति से रह ही न गया हो। अर्थात् सत्याग्रह वह कर्म है जिसका सन्दर्भ

सांसारिक रहता ही नहीं, पूरी तरह आत्मिक हो जाता है। तत्काल और समाज के नैतिक मानों की ओर से उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उसका परिणाम तत्काल से अधिक इतिहास के वृत में जाता है। दूसरे शब्दों में फलाशा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अन्तिम रूप से और दो शब्दों में यों कह सकते हैं कि मनुष्य का जब सब कुछ हार रहता है, तब प्रेम में परमात्मा के हवाले अपने को छोड़ देने का नाम सत्याग्रह है। प्रेम में छोड़ना, याने अहं-जीवन को बिसार रहना और परम-जीवन के प्रति आहुत हो रहना।

यह बात सही है कि कानून की अवज्ञा और कानून का भंग व्यक्ति के हक और कर्तव्य में दाखिल हुआ, तो यह गांधी जी के कारण था। कानून का मुकाबला तो सदा ही होता आया है। लेकिन उस मुकाबले को अपराध माना जाता था, द्रोह माना जाता था। गांधी जी ने अधिकार और कर्तव्य के रूप में समाज-जीवन में इसको प्रविष्ट किया। यह बहुत ही विस्फोटक तत्व था। गाँधी जी ने उसके सहारे एक अभूतपूर्व जागरण भारत देश में पैदा किया और मैं समझता हूं कि तत्व चिन्तन के लिए नयी सामग्री भी प्रस्तुत कर दी। मानों एक महा प्रश्न की रुकावट, चुनौती, गाँधी जी ने समूचे समाजवादी विचार के सामने खड़ी कर दी। मैं मानता हूं कि ठीक यही खतरनाक चीज है, जो गाँधी जी की सबसे कीमती थाती है। समाजवादी विचार न्याय और अधिकार को बहुमत के हाथ में दे देता है। मानो इस तरह सत्य ही स्वयं बहुमत के पास पहुंच जाता, बन्द हो जाता है। गाँधी जी ने यह विस्फोटक सिद्धान्त दिया कि एक अकेला आदमी भी सारी दुनिया के संगठन के खिलाफ खड़ा हो सकता है। संगठित कानून की वह अवज्ञा कर सकता, उसका भंग तक कर सकता है। सकता नहीं, बल्कि चाहिए। और जब तक एक व्यक्ति और नागरिक इस प्रकार वर्तन करता है, तो प्रगति का मन्त्र और तन्त्र संग-ठित सत्ता के पास न रह कर व्यक्ति के और व्यक्तियों से बने समाज के पास आ जाता है।

यह विचार क्रान्तिकारी विचार है और समाजवादी-साम्यवादी आदि सब सामाजिक विचारणाओं के लिए चेतावनी बन जाता है। मानो तमाम भौतिक विचारधाराओं के सम्मुख यह अध्यात्म को प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् यह विचार इस मूलतत्व को स्थापित करता है कि ऊपर से आने वाला संचालन, इसीलिए कि ऊपर से और बाहर से आता है, सत्य नहीं है। संचालन भीतर से आता है और वही सत्य है। अन्तःकरण में वह प्रक्रिया है, जिससे इतिहास बनता है और आदमी चलता है। उसी से जगत्-व्यवस्था चलेगी तो

समाधान होगा, अन्यथा बहुसंख्यकता का सत्य असत्य हो जा सकता है।

लेकिन गांधी का यह नवाविष्कृत क्रान्तिकारी विचार भारत की राष्ट्रीय और राजनीतिक कांग्रेस के पास आकर मानो अपना आध्यात्मिक और वैचारिक महत्व खो बैठा। काँग्रेस ने अवज्ञा को लिया, सविनय को छोड़ दिया। भंग को लिया, भद्र को छोड़ दिया। काँग्रेस को तात्कालिक फल की आवश्यकता थी और विद्यार्थियों, श्रमिकों, ग्रामीणों को कर्त्तव्य में नहीं, केवल आवेश में उभार कर वह फल पाया जा सकता था। गाँधी जी उत्तेजना से एकदम काम नहीं लेना चाहते थे। उसे ठण्डी प्रेरणा बना लेना चाहते थे, जो उफन और उबल कर बैठ नहीं जाती, जिन्दगी को अन्त तक चलाये जाती है। गाँधी जी का बल सविनय और भद्र विशेषणो पर इतना था कि क़ानून की अवज्ञा और भंग का इनके अभाव में वे विचार भी नहीं कर सकते थे। विनम्रता और भद्रता, यह हर हालत में अपनाये रखने के स्थायी गुण थे। उनके बिना जैसे मनुष्य को अपना प्राथमिक अधिकार भी नहीं प्राप्त होता था। कांग्रेस के लिए ये विशेषण मानो गाँधी जी के नाते स्वीकार्य थे, अन्यथा वे उसके मन के नहीं थे। वे मानो राजनीतिक तेज को रोकने वाले थे, प्रकट करने वाले नहीं थे। काँग्रेस का यह अधैर्य, फलाकांक्षा में यह उसका गलत मूल्यों को उत्तेजन देना, जब प्रतिफल में उसी पर लौटकर आ रहा है, तो कांग्रेसी शासन को बड़ा अजब मालूम होता है। स्वराज्य की लड़ाई में जो राजनीतिक प्रशिक्षण दिया और जिसके नैतिक अंश को अनावश्यक मानकर हमने छोड़ दिया, वही आज के राजनीतिक परिपाक में फलता आ रहा है। इनकलाब अगर निज में मूल्य है तो लीजिए यूनिवर्सिटी के ये सारे जवान इस मूल्य को ऊंचा उठाकर इनकलाब करने बढ़े चले आ रहे हैं! उस इनकलाब को लाठी-गोली से हम क्यों खतम करना चाहते हैं? शिकायत शायद यह है कि ये जवान कैसे उद्धत हैं, अशिष्ट हैं, असभ्य हैं, वे उत्पात और उपद्रव करते हैं आदि। तो आपने विनय और भद्रता को उतना अनिवार्य कब माना था?

मैं मानता हूं कि या तो हमको लौटकर बहुसंख्यक विचार की न्याय्यता में पहुंच कर शासन की वैध हिंसा की शरण लेनी होगी, विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता को ऊपर से दबाने में लगना होगा, अन्यथा गांधी जी ने अजस्र क्रान्ति के मन्त्र के रूप में महाशक्तिशाली और विस्फोटक सत्याग्रह का जो तत्व दिया, उसको अपने पूरे फलितार्थ में स्वीकार करना होगा। वह यह कि सत्याग्रह धर्म है, हक है, कर्त्तव्य है; लेकिन शर्त के साथ कि पूरी तरह वह सविनय और भद्र हो। यह विनय और भद्रता की शर्त मानो सारी राजनीतिक

शक्ति को सांस्कृतिक सन्दर्भ दे देती है। उसकी ध्वंसात्मकता को नष्ट कर रचनात्मकता प्रदान करती है।

युवक शक्ति देश की सबसे बड़ी देन और थाती हुआ करती है। वह साक्षर हो, तब तो उस शक्ति का कहना ही क्या ? वही यदि नकारात्मक बन आये तो दोष उन मूल्यों का है, जिनसे समाज और राज्य चलते हैं। उपाय यही नहीं है कि युवकों का दमन और दलन हो। उपाय यह है कि उनमें रचनात्मक स्वप्न जागें और उनकी सामर्थ्य सम्भावनाओं को अवकाश और मार्ग प्राप्त हो। नैतिक वर्जनाओं से काम नहीं चलने वाला है। उनसे शक्ति दबती और बुझती हो, तो यह जीवन-तर्क के प्रतिकूल हो जायेगा। उनमें जो अपने प्राणों को प्रयोग में डालने की आतुरता है, खतरा उठाने का हौसला है, तो ये तत्व कीमती हैं। निषेध और विरोध में इसलिए वे लगे हैं कि विधायक और रचनात्मक उनके पास कुछ नहीं है। यदि आबहवा राजनीतिक रही और वही रीति-नीति समाज में ऊपर उठने और सफल होने की बनी रही तो विद्यार्थियों को उस ओर से किसी तरह विमुख नहीं किया जा सकेगा। दलवाद अगर हमारे राज्य को चलाने वाला है, तो गुटवाद हमारे विद्यार्थियों को क्यों न चलायेगा ? जीवन एक और समग्र है। हम अपने लिए एक नीति रखें और विद्यार्थियों में उससे कोई दूसरी नीति चले, तो यह नहीं होने वाला है। विश्वविद्यालय में वही चलेगा, जो बाहर समाज में चल रहा होगा। केवल इस सुविधा से कि हमारी उम्र कुछ बढ़ गयी है और हम विद्यार्थी नहीं रह गये हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि हम दलबाजी और जंगबाजी से चलें और नीति-पालन और अनुशासन आदि को विद्यार्थियों के लिए छोड़ दें। वे बालक अन्त में हमारे हैं और हमसे भिन्न नहीं हो सकते। बालकों के लिए माता-पिताओं को और विद्यार्थियों के लिए नेता-प्रणेताओं को स्वयं अपने से आरम्भ करना होगा। ऊपर राजनीति में जो चलता है, विद्यार्थी आखिर पढ़-लिखकर क्या उसे देखने-समझने के लिए आंख ही नहीं पा जाता है ? वह मूर्ख और अपढ़ समझा जायगा, अगर अपने बड़ों से इतना भी नहीं सीखेगा कि अगर उनसे आगे बढ़कर नहीं दिखा सकता है, तो उनका अनुकरण तो करे। इसी से राजनीति का बोलबाला विद्यार्थियों के बीच खूब दिखाई देता है, उसका अभ्यास भी कराया जाता है। यूनियनवाद मानो उनके प्रशिक्षण का अंग है। तब फल कुछ दूसरा कैसे आ सकता है ? ●

वि-सर्जन की शक्ति

●

विनोबा ने इस आश्रम को वि-सर्जन नाम दिया। विनोबा की अद्वितीयता ही इसे न समझ लीजिए, न भाषा का कोरा चमत्कार मानिए। वि-सर्जन में से सचमुच विशेष सर्जन होता है। सबसे बड़ा और नया सर्जन विज्ञान ने जो किया है, वह है अणु का भंजन। अणु को माना जाता था कि वह वस्तु की अंतिम इकाई है, अतः अविभाज्य है। आइंस्टाइन ने बताया वस्तुत्व शक्ति का ही सोया-रूप है। ठोसपन तोड़कर मैटर अपना वि-सर्जन करता है, तो चिन्मय बन जाता है। पदार्थ जब शून्य होता अर्थात् अपने को विसर्जित कर रहता है, तब शक्ति बनकर प्रकट होता है।

सोये पड़े चित्-पिण्ड को ही मैटर कहिए। उसके छोटे-से-छोटे अणु को विज्ञान ने पाया, पकड़ा और फिर तोड़ डाला। इसी में से 'अणु शक्ति का उदय हुआ और अणुबम बन गया। अणुत्व विसर्जित होने से महाशक्ति प्रकट हो आयी। यह कहलाया "फ़िज़न बम"। फिर उसके बाद "फ्यूज़न बम" बना। पहले में अणु वियुक्त होता है, दूसरे में उसके बाद प्रक्रिया संयुक्त होने की है। इस संयुक्तीकरण अर्थात् "फ्यूज़न" में से जो शक्ति प्रकट होती है, वह पहले से भी सहस्रों गुनी हो जाती है। पदार्थ यों जड़ और निष्क्रिय दिखायी देता है। हम उससे या उसकी धारणा से जितना चिपटते हैं, उतने हम भी जड़ और बेकार होते हैं। यदि हम स्थित भर न रहें, अपने को बचायें नहीं, बल्कि विसर्जित करने की तैयारी रखें तो महाशक्ति पैदा कर सकते हैं। इसकी मिसाल गांधी हैं। वे सामान्य से भी कम, सब-नॉर्मल, स्थिति से चले और अवतार की ऊँचाई पर पहुँच गये। आखिर उस विराटता के विकास की प्रक्रिया क्या थी? देश के वह एकछत्र नेता बन गये, उस नेतृत्व के उस निर्माण का क्या रहस्य था? मामूली तौर पर छोटी-सी लीडर-शिप के लिए बड़ी जद्दोजेहद करनी पड़ती है। पर गांधी की स्वयं शून्य बनने की साधना रही, उन्होंने कुछ होना ही नहीं चाहा। अपने को विसर्जित करने में लगे रहे। फल यह कि शून्य बनते बनते विराट बन गये। गांधी की ताकत ऐसी बनी कि उनका व्यक्तित्व भारत

की अखिलता को ही नहीं, वरन् मानवता की समग्रता को मूर्त करनेवाला माना गया। इसके मूल में वि-सर्जन के मंत्र के सिवा भला क्या है ?

जो आदमी अपना तो महत्व मानता और दूसरे को उस निमित्त अपना साधन मानता है, वह उन्नति करता दीखता हो, लेकिन हिंसा ही करता है। यानी वह उन्नति टिकनेवाली नहीं होती है। न उसमें से कभी चैन मिल पाता है। स्वयं को साध्य और अन्य को साधन बनाते हैं तो अशांति बढ़ती है। लेकिन जहां दूसरे सब मुझे साध्य हो जाते हैं और मैं उनके हित-निमित्त साधन बनता हूँ, तो यह अपने को विसर्जित करने की भावना अहिंसा है। करना-धरना तो ऊपरी होता है और प्रभाव उस पर निर्भर नहीं है। शक्ति का स्रोत विसर्जन में है। स्व को पुष्ट करनेवाला कर्म बंधनकारक होगा। उस स्व को विसर्जित करनेवाला मुक्तिदायक बनेगा।

इतने गहरे विचार के आधार पर संस्था बनती है तो उसे यश क्यों नहीं मिलता। महामंत्र मिल गया तो फिर उसका महाफल क्यों नहीं आता? भौतिक क्षेत्र में वह मंत्र चमत्कार दिखा रहा है तो नैतिक क्षेत्र में चमत्कार का उद्यापन क्यों नहीं दीखता ? निश्चय रखना चाहिए कि त्रुटि कहीं प्रयोग में ही हो सकती है, या जो साधन रूप हम हैं सो हममें होगी। अन्यथा सिद्धान्त निरपवाद है। सारे इतिहास में उसकी महिमा और विभूति दिखाई देती है। आत्म विसर्जन जिन्होंने किया है वे मानो अमर बन गये हैं। मृत्यु का वरण जिन्होंने किया ऐसे ही लोग आज इतिहास में जीवित हैं। जिन्होंने अपने को मृत्यु से बचाना चाहा, वे जीतेजी मरे-से बन रहे। ऐसे भी लोग हुए हैं जो लाखों को मौत के घाट उतारने में कारण बने। इतिहास उन्हे याद करता है, लेकिन 'फ्रीक' के तौर पर। उतना भी इसलिए कि आगे बढ़कर मौत के साथ आखिर खेल तो उन्होंने खेला। फिर भी समय की धूल में वे सब दब जाते हैं। जिये और जीते रहे है, वे जो जीने से चिपटे नहीं हैं, जिन्होंने मृत्यु का भय नहीं जाना, वे जो वि-सर्जन को साथ लेकर चले हैं। यीशु शूली पर चढ़े तब उनको मानने वाला कोई पास तक न ठहरा। लेकिन ईसा क्या मर सके ? मारने का ढंग कैसा दारुण था। लेकिन उससे क्या होता है। बल्कि शायद उस ढंग के अमानुषिक होने से ईसा का विसर्जन और भी चमका और उस नाम में से ताकत ऐसी उठी कि इतिहास पलट गया। रोमन साम्राज्य खत्म हो गया और उसकी जगह ईसा के साम्राज्य ने ली। आगे जाकर जब वह चर्च बना, विसर्जन की जगह अर्जन का साम्राज्य हुआ, तब उसकी शक्ति ढरती चली गई।

गांधीजी ने जो साधा वह यही था। वह उस मंत्र के प्रयोक्ता और

प्रतीक बने। हम अधिकांश उनके चरित से वह मंत्र प्राप्त नहीं करते। हम तो उन्हें अपने राष्ट्र का नेता और त्राता मानकर पूजते हैं। उनके उपकार देखते हैं और उतना ही उनको मानते हैं जितना उन्होंने देश का और हमारा काम साध दिया।

असल में शक्ति में क्रम-विकास हो रहा है। जिस आग में धुआँ बहुत निकलता है उसमें ज्वाला उतनी नहीं हो पाती। इतिहास शक्ति और शस्त्र के रूप के विकास का इतिहास भी है। मनुष्य की शक्ति पंजे और दाढ़ की नहीं थी, वह शरीर की नहीं हो सकती थी। शरीर से वह हर तरह पशु से कम था। तब बुद्धि के रूप में शक्ति उदय में आई और आयुध आदि बने। वहाँ से चलते-चलते आज के शस्त्रास्त्र बने हैं जो अब आण्विक तक होने आ गये हैं। इन सब में से शक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गयी है। रूप जितना सूक्ष्म होगा, फल उतना अमोघ होगा। इसी विकास में बढ़ते-बढ़ते हम देखेंगे कि शक्ति अपने अधिष्ठान के लिए हिंसा को छोड़ रही है और अहिंसा को अपना रही है।

असल में शक्ति हिंसा की है नहीं। शक्ति सब अहिंसा की है। नहीं तो शेर क्यों डर के मारे पहाडों में छिपा रहता जबकि आदमी शान से शहर बनाकर रहता है। इसलिए यह चक्षुभ्रम है कि शक्ति हिंसा में है। शक्ति का सब स्रोत ईश्वर में है, सत्य में है। इसलिए वह अहिंसा में है। अहिंसा को समझाना पड़े, इसकी आवश्यकता नहीं आनी चाहिए। आग के गुण को समझाने की जरूरत नहीं रहती। अहिंसा को समझाना इसलिए पड़ता है कि वह शब्द की है, प्रत्यक्ष प्रयोग की नहीं है। अहिंसा सक्रिय होती, प्रत्यक्ष वि-सर्जन में फलित होती, तो यश स्वयं आपके पास खिंचा चला आता।

गांधीजी ने कहा था कि अहिंसक एक भी काफ़ी हो सकता है, उस एक से भी जगत् को आश्वासन मिलेगा। सच पूछिए तो आज आश्वास देश भर में नहीं है। धर्म का स्वल्प भी बड़े भय से त्राण देता है। सत्य का आचार तो ठीक ही है, उच्चार भी भय दूर करता है। यदि आपका शब्द भाव और कर्म में उतरकर प्रत्यक्ष बने तो उसे किसी दूसरे सहारे की जरूरत नहीं रह जाती है। क्या आत्म-प्रत्यय दोष को कहीं दूसरी जगह डालने जाएगा ?

मैं मानता हूँ कि यदि देश के पास उसका सत्य जगा होता, हमारी व्यवस्था में और मानव-संबन्धों के ताने-बाने में से ऐक्य लाता हुआ प्रकट होता, तो हमें फ़ौजों का आसरा देखने की जरूरत नहीं पड़ती। हथियार उतनी ही ताकत रखते हैं, जितना उनके पीछे संकल्प का बल होता है और संकल्प का बल अटूट हो सकता है।

मूल बात है यह कि वि-सर्जन अपना करगे तो सर्जन अपने-आप होगा। प्रगति जितनी होती है चित् की प्रेरणा में से होती है। इस तरह वि-सर्जन में से स्वतः और अनिवार्य सर्जन होगा। और इतना कि कल्पना नहीं हो सकती। बीज धरती में गलता और घुलता है तो क्या पता होता है उसे कि उसके वृक्ष पर फल आयेंगे? पक फट कर बीज अंकुर होता, अंकुर वृक्ष होता है जो वर्षों तक फ़ल देता रहता है।

हम अनासक्त माध्यम, और बीज के रूप में काम करें। अधिकार न चाहें। अमुक प्रवृत्ति के हम संयोजक बन जायें यह भावना भी यदि होती है तो आत्म श्रद्धा की जगह वस्तु-निर्भरता हुई माननी चाहिए। सरकारें इसी द्रव्याधार पर चलती हैं। तभी आत्म-श्रद्धा के बजाय उनसे धन की लालसा फलने लग जाती है।

यदि हम में श्रद्धा पैदा हो जाय, श्रम-श्रद्धा जाग जाय तो कितना अच्छा हो। परन्तु आज तो रचनात्मक कार्य पोषण के लिए सरकार की अपेक्षा रखता है। बल सरकार के पास से हम लेना चाहते हैं, पर वहां बल पैदा होता नहीं, जनता के श्रम में से ही खिचकर उधार आता है। यदि हम सरकार की थैली पर निगाह न रखेंगे, तो सरकार पर बोझा बनने के बजाय समय पर उसके लिए सहारा भी बन सकेंगे। और वैसी आवश्यकता हुई तो यथावश्यक अंकुश का लाभ भी उसे दे सकेंगे।

दूसरी जगह अर्जन की चिंता है। सब अपने-अपने लिए उपार्जन करने में लगे हैं। उससे ही तो फिर शोषण और भ्रष्टाचार फैलता है। आपके पास विसर्जन की श्रद्धा है तो सचमुच संकट दूर हो सकेगा। तब बल उगेगा और उसकी मदद सरकार को भी पहुँचेगी। सरकार के पास धन की और सोने की कमी नहीं है। पर जितना जो लोगों ने अपने श्रम और स्वार्थ के वि-सर्जन में से दिया है उतनी ही शक्ति उसमें माननी चाहिए। सरकार कानून से भी धन लेती और ले सकती है। पर कानून से मिलने वाले रुपये में वह शक्ति नहीं हो सकती।

अहिंसक शक्ति सरकार की शक्ति को कम नहीं करेगी, बढ़ायेगी ही। सरकार की शक्ति बढ़ाने का मतलब होना चाहिए जनता का समर्थ और स्वावलम्बी होता जाना। राजा का सामर्थ्य स्वयं प्रजा ही तो है। जहाँ राज की समृद्धि का मतलब प्रजा का दैन्य होने लगता है तो वह राज्य फिर टिकता नहीं है। बिजली का प्रकाश दीपक के प्रकाश को काटता नहीं, उसमें सहायक बनता है। यदि सचमुच भारत देश के पास अहिंसक शक्ति हो, अपने को वि

सर्जन करने वालों की कमी न रह जाय, तो सारी हवा ही बदल जायेगी। देश जो यदा-कदा अपने को फटा और असहाय अनुभव कर आता है, वह जुड़ जाय और दूसरे के लिए आश्वासन का संबल बन जाय।

वि-सर्जन के मंत्र से देश में बलिदानी जन उदय में आयेंगे, वे जीवन देंगे और संकट काटेंगे, ऐसी आशा करनी चाहिए। ●

अल्पसंख्यक

●

अल्पसंख्यकों का प्रश्न सहसा मन में असमंजस और उलझन पैदा कर सकता है। शक्ति की राजनीति उस समस्या से कभी छुटकारा नहीं पा सकती। उसके पास दमन और निर्दलन का ही उपाय रह जाता है, या अपीजमेंट, खुशामद आदि का। इक्यावन और उनचास के मंत्र से जैसे डिमोक्रेसी में यह सन्तोष भी मिल जाता है कि बहुजन-हित की सिद्धि ही है, जिसके अर्थ अल्प-संख्यकों का दमन होता है। यह दबाव और हिंसा की पद्धति इतिहास में इस समस्या से निबटने के काम आती रही है। लेकिन इतिहास उस राह उलझन से निबटा नहीं है। अब उसको क्रमशः हिंसा के सहारे से उबरना और अहिंसक विधियों का अपने बीच विकास करना है।

थोड़ी देर के लिए समूह का विचार छोड़िये, व्यक्ति को लीजिये। वह तो अकेला और अत्यल्पसंख्यक है। वह कैसे जीता और अपने लिए सुविधा और विस्तार जुटाता है। हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति बढ़ते और फैलते जाते हैं। दूसरे अनेक कुण्ठित और अकृतार्थ दीखते हैं। व्यक्ति के प्रति शेष का क्या कर्तव्य है, इसीपर सब कुछ निर्भर नहीं रहता, बहुत कुछ स्वयं उस व्यक्ति पर भी निर्भर रहता है। अर्थात् यह प्रश्न परस्परता का है। किसी सिद्धान्त का नहीं है।

यही अल्पसंख्यक समूहों के बारे में सच मानना चाहिए। आज भी अमुक अल्पसंख्यक वर्ग सन्तुष्ट है और उन्नति कर रहा है। दूसरा उसी प्रकार का वर्ग अपने को रुका हुआ पाता है। ये परिणाम उस सम्बन्ध में से फलित होते हैं, जो एक का शेष के साथ बनता है।

राजकीय तल पर उत्तम यह है कि सब की नागरिक भूमिका हो और सब वहाँ समान हों। सबके एक-एक मत हों और बीच में समुदायों के अलग विचार करने की आवश्यकता न हो। उस देश या परिस्थिति में जहाँ आर्थिक श्रेणियाँ विशेष नहीं है, रहन-सहन का स्तर सब का समान है, नागरिकता का सूत्र आसानी से व्यवहार्य बन जाता है। अल्पसंख्यकों का प्रश्न उठता वहाँ है,

जहाँ समाज में स्तरों की विषमता है और इसलिए किसी वर्ग के लिए विशेष विचार उचित जान पड़ता है।

भारत में एक वर्ग है अनुसूचित वर्ग और दूसरा है पिछड़ी जातियों का वर्ग। इन दोनों वर्गों का विशेष ध्यान इसलिए आवश्यक होता रहा है कि वे अपेक्षाकृत हीन और दलित हैं। बहुसंख्यक लोगों की मानवीय भावना का भी यह सूचक है कि अपने पिछड़े भाइयों को अतिरिक्त सहारा दिया गया। इनके अतिरिक्त दूसरे वर्ग हैं जिनका आधार धर्म है। मुस्लिम और पारसी उस प्रकार भिन्न और हीन स्तर के वर्ग नहीं हैं। पारसी तो अधिक सम्पन्न हैं। अन्तर धर्म का है। पूजा-विधि और धर्म-विधि की हर प्रकार की स्वतन्त्रता और सुविधा देने के बाद राज्य के लिए यदि यह आवश्यक होता है कि उनको संसद्, धारा-सभा या सेवाओं में अलग प्रतिनिधित्व भी दे, तो उस अवस्था को अस्वस्थ, अनुन्नत और गठीली मानना चाहिए। समुदाय दूसरे आधारों पर भी बन सकते हैं। जातिवाद तो नात्सी-दर्शन की बुनियाद ही बन गया था! लेकिन इन सब आधारों पर विशेषाधिकार का दावा हो, तो नागरिकता खंडित हो जाती है। पारिस्परिक व्यवहार का क्रम सहज नहीं रहता और वैधानिक दखल समाज में एक दुराव और तनाव पैदा किये रहता है। अर्थात् अल्प-बहुमत का प्रश्न अस्वस्थ और कृत्रिम हुआ करता है।

स्वस्थ समाज में बहुसंख्यक वर्ग अनायास ही अल्पसंख्यकों का ध्यान रखेगा। अर्थात् अल्पसंख्यक बन्धुओं की ओर से विशेषाधिकार माँगने के बजाय त्यागने का प्रयत्न होते रहना चाहिए। अगर इस माँग में आग्रह-विग्रह की ध्वनि आती है, तो बहुसंख्यक में उसके प्रति अविश्वास और परायापन पैदा होने लगता है। इसमें उसी के स्वार्थ-हित की हानि है। आखिर तो बहुसंख्यकों के साथ रहना है। हिल-मिलकर जितना रहा जायगा, उतनी ही अल्पसंख्यकों की बेहतरी और स्वार्थरक्षा है। एक व्यक्ति असंख्य के बीच में जिस नीति से जीता और बढ़ता है, वही नीति अल्पसंख्यक समुदाय के लिए समीचीन है। व्यक्ति के विशेषाधिकार पर कोई नहीं सोचता। सोचने की आवश्यकता भी नहीं। स्पष्ट है कि अस्वस्थ को, अपंग को, रुग्ण को, विशेष सेवा प्राप्त होती है। इसको किसी विशेषाधिकार से नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं होती। समाज का अन्तरंग स्वास्थ्य अपने आप उपयुक्त व्यवस्था कर देता है। ऐसे ही किसी अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की कानून द्वारा सुरक्षा की अवश्यकता नहीं होनी चाहिए। सामान्य कानून नागरिक को जो सुरक्षा देता है, वह पर्याप्त होनी चाहिए। ऐसा जब और यदि हो सकेगा, तो अल्पसंख्यक का प्रश्न उसी भाँति

नहीं रहेगा, जैसे समुद्र में बूंद का प्रश्न नहीं रहता है।

राजनीति जब तक दबावों द्वारा चलती है, तब तक मानो अल्पमत के प्रश्न का पैदा करने में निहित स्वार्थ बना रहता है। आज यह स्वीकार करना चाहिए कि राजनीति में राज का जोर है, नीति का बिलकुल भी जोर नहीं है। राज का जोर उत्तरोत्तर कम होगा। कारण, जीवन के विकास के साथ प्रकट होता जा रहा है कि राज्य अधिकार कम और कर्तव्य अधिक है। अब ठाटबाट का परिमण्डल शासक के आस-पास से घट रहा है और दायित्व का आरोप बढ़ता जा रहा है। इस तरह राजनीति क्रमशः राजकीय कम होती जायगी और उसे अधिकाधिक नैतिक बनते जाना होगा। यदि नैतिक मूल्य समाज और राज्य के काम-काज में चलन में आ निकलेंगे, तो उसी के साथ अल्पसंख्यक का प्रश्न विलीन होता जायगा। अन्तर हर दो आदमियों में है। लेकिन उस अन्तर के कारण हमेशा परस्पर के डर से उन्हें कानून की शरण ही नहीं खोजनी पड़ती, बल्कि वह अन्तर मैत्री को सरस और सार्थक करता है। सामाजिक सम्बन्ध जितने स्पर्धात्मक होंगे, उतना ही मनुष्य मनुष्य का आखेट बनेगा और पारस्परिक क्षेत्र अविश्वास और संकट से छाया रहेगा। लेकिन जब स्पर्धा की जगह सहयोग और सहजीवन का भाव उदय होगा, तो विभिन्नता और विविधता आनन्द और विनोद की वस्तु होगी और एक व्यक्ति जैसे दूसरे व्यक्ति के लिए, उसी तरह एक समुदाय दूसरे समुदाय के लिए, पूरक होगा। उसमें खतरे का नहीं, बल्कि सहायता और सान्त्वना का कारण दीखेगा। मानना होगा कि आज भारत की परिस्थिति अनेक कृत्रिमताओं से घिरी और घुटी है। इसलिए नैतिक मान चलते दिखाई नहीं देते। मनों में फटाव और तनाव है। इसका उत्तर राजनीति के पास इसलिए नहीं है कि वहाँ राज्य की प्रधानता है। उपचार मानव-नीति के पास है, क्योंकि वहाँ प्रधान मानव है। मानव को लक्ष्य में रखें और दूसरे विशेषणों को उतनी प्रधानता न दें तो हमें अनायास नागरिक भूमिका प्राप्त हो जाती है और वर्गीय और जातीय या साम्प्रदायिक अहंकार बिखरे हुए नजर आने लगते हैं। मुझे हल वहीं दीखता है।

भारतीय परम्परा में अनेकानेक विभेद सह-अस्तित्व में समाते और मिटते रहे हैं। भारत राजनीतिक दृष्टि से कभी एक और संगठित नहीं रहा। अनेकानेक राजा और नवाब एक ही साथ यहां राज करते और आपस में लड़ते-झगड़ते रहे, लेकिन उससे गहरे तल पर सामाजिक जीवन कभी बहुत अधिक उद्विग्न नहीं हुआ। उस तल पर सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया निरन्तर क्रियाशील रही।

उस इतिहास और परम्परा पर अंग्रेजी कम्पनी का राज्य आया। यह एक नयी चीज थी। राज्य के केन्द्र में राजा का व्यक्तित्व इस नए ढंग में उतना नहीं था, जितना कि तन्त्र था। राज्य उस पश्चिम से आयी व्यवस्था में एक बड़ा संगठन था। कहना चाहिए कि अंग्रेज के आगमन से भारत को एक पृथक राजनीतिक राष्ट्रवाद की चेतना मिली। अब तक भारत एक सांस्कृतिक भाव-खण्ड था। भौगोलिक सीमाओं के सैकड़ों योजन इधर-उधर हटने से उस भारतीय अखण्डता पर कोई क्षति नहीं आती थी। किसी राजनीतिक संविधान या शासन में उस अखण्डता को स्वरूप पाने की आवश्यकता न थी। भारतीयत्व लोक-निर्भर था, राज्य-निर्भर था ही नहीं। अंग्रेज के आने के साथ राष्ट्र और राज्य की एक नयी कल्पना भारत को प्राप्त हुई। नयी राजनीति का उदय हुआ। उस राजनीति में बाँटो और राज्य करो की नीति फलित हुई। यह यों राजाओं की भी नीति रही होगी, लेकिन समाज-नीति के तौर पर उसका व्यापक प्रयोग और उपयोग न था। वहां धाराएं और वर्ग अनजाने आपस में घुल-मिल जाते रहे थे। राजकारण में भले ही पहले वे मुठभेड़ में आमने-सामने आये हों, लेकिन शनैः शनै उनमें हेल-मेल बढ़ता और एक सामाजिकता पनपती जाती थी। अंग्रेज के द्वारा जो राजनीति का नया स्वरूप आया, उसने इस एकीकरण में बाधा डाली। तब राज्य में व्यक्तियों या परिवारों का नहीं, बल्कि जातियों या सम्प्रदायों का उपयोग होने लगा। पृथक् प्रतिनिधित्व और चुनाव की धारणा पैदा हुई। मूल हिन्दुत्व में सब प्रकार के मतवादों को समाने की क्षमता थी। कारण, हिन्दू एक संस्कृति थी, मतवाद न था। अंग्रेज न आता तो हिन्दुत्व और इस्लाम का क्या संश्लेष घटित होता, कहना मुश्किल है। लेकिन इतना निश्चित है, कि दो राष्ट्र वाली बात न पैदा हुई होती। वहाँ से हमने इस अल्पसंख्या वाले प्रश्न को विरासत में पाया है।

कांग्रेस और गांधी को जिस परिस्थिति से मोर्चा लेना पड़ा, उसमें यह प्रश्न मौजूद था। नजर अन्दाज उसे नहीं किया जा सकता था। लेकिन इस प्रश्न की ओर गांधी का रुख जब कि धार्मिक और मानवीय था, तब कांग्रेस का राजनीतिक और सांख्यिक था। कांग्रेस गांधी के साथ थी, पर आधी दूर तक। राजनीतिक लाभ जहाँ तक गांधी जी की नीति और शक्ति से मिलता था, कांग्रेस को मान्य था। आगे चलने की वृत्ति कांग्रेस के पास न थी। साम्प्रदायिकता का इलाज गांधी के पास धार्मिकता था। गांधी का आग्रह था कि हिन्दू सच्चा हिन्दू बने, मुसलमान सच्चा मुसलमान बने। स्पष्ट

था कि अपनी-अपनी जगह सच्चा बनने की कोशिश में हिन्दू और मुसलमान सच्चा इन्सान वन निकलेगा और फिर समस्या आसान हो जायगी। लेकिन स्वराज्य से पहले भी नेहरू और कांग्रेस के मन में धार्मिकता के लिए जगह न थी और उसे धर्म-निरपेक्षता (सेक्युलरिज्म) में से साम्प्रदायिकता (कम्यु-नलिज्म) का त्राण आता मालूम होता था। खैर, बंटवारा हुआ। कांग्रेस ने बंटवारे को और भारत के राज्य को स्वीकार किया। गांधी जी ने दोनों ओर से मुँह फेर कर नोआखली की तरफ रुख किया, जहां साम्प्रदायिकता की ज्वाला भयंकर नर-बलि ले चुकी थी। यह सब इतिहास की और जानी-बूझी बात है। लेकिन वह सेक्युलरिज्म अब भी शस्त्र के तौर पर हाथ में है और आशा की जाती है कि वह कम्युनलिज्म को नेस्त-नाबूद कर देगा। कांग्रेस की मुहिम का पहला नारा है "सम्प्रदायवाद का नाश हो।" शायद उसमें कानून की भी मदद की राहें खोजी जा रही हैं। स्वीकार करना चाहिए कि मुझे उसमें से साम्प्रदायिकता के शमन की कोई सम्भावना नहीं दीखती है। धर्म-निरपेक्षता नागरिक-भूमि पर अच्छी चीज है, वहां सब धर्म समान हो जाते हैं। लेकिन हृदय की भूमि पर समान आदर और समान उपेक्षा में बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है। धार्मिक वृति में सर्व-धर्म समादर हैं। लौकिक वृति में उसे सर्व-धर्म अनादर कहेंगे। यह सर्व-धर्म अनादर वाली लौकिक वृत्ति सम्प्रदायवाद को घुला नहीं सकेगी, बल्कि उसे तीखा और तेज कर डालेगी। सम्प्रदाय और धर्म के अनादर से सम्प्रदाय और धर्म से होने वाले अनिष्ट को काटा जा सकता है, यह निरी दुराशा और कल्पना है। यह थोथा अहंकार है। उस प्रकार के नारे या घोष को हाथ में लेकर चलने से होगा केवल यह कि भारत की धर्मप्राणता के बल से कांग्रेस विहीन बनेगी। भारत की काया में सबसे प्रबल प्रेरणा-शक्ति जो सनातन काल से पड़ी हुई है, वह है यही धर्म-भावना। इससे अलग और विच्छिन्न होकर जो राजनीति चलेगी, उसका कोई भविष्य यहाँ नहीं है। राज्य शक्ति उसके हाथ में आ भी सकती है, लेकिन लोक-शक्ति का अन्तरंग बल उसे न होगा और एक दिन उसे गिरना होगा। कारण, वह नीति से हीन राजनीति होगी और उस वोट-संगठन के आधार पर वह अपनी विजय चाहेगी जिसे नैतिकता का सम-र्थन नहीं है। उस प्रकार की दुहाई और वैसे प्रयत्न से सम्प्रदाय उलटे पनपेंगे, इधर मुस्लिम लीग उपजेगी और पनपेगी, उधर जनसंघ और अकाली-दल ताकत पायेंगे। अवज्ञा और उपेक्षा से कोई अस्मिता कभी टूटी नहीं है, बल्कि उसे समर्थन मिला है। अहंकार में कभी नम्रता और ऋजुता आयेगी, तो

सामने के आदर-सत्कार की निरहंकारिता में से आयेगी, कभी किसी दर्पोक्ति में से नहीं आ सकती। जो यह कहने की इच्छा रखता है कि वह हिन्दू है न मुसलमान, और यह कह कर मानों गर्विष्ठ बनता है, वह हिन्दू और मुसलमान दोनों से दूर पड़ता है, दोनों को निकट लाने में असमर्थ बनता है। गहरे आदरभाव में से ही हम दूसरे के मन को पा और जीत सकते हैं।

धर्मभाव अपने अन्तिम अर्थ में सृष्टिमात्र के प्रति निश्छल आदर भाव ही है। यहां गांधी-नीति और गांधी-प्रवृत्ति की याद आती है। हमारा राजकारण उस पद्धति से चला होता तो सम्भव था कि कायदे आज़म जिन्ना से मुफ्ती किफायतुल्ला का अधिक महत्व बन जाता और लीग के बजाय कांग्रेस को जमीयतुल-उलमा से अपनी सन्धि-चर्चा चलाने का अवसर आता। तब प्रश्न का धरातल बदला हुआ होता और आज इतनी विकट स्थिति न होती। नियमित नमाज अगर सही मुसलमान की कसौटी होती, जो कि होनी चाहिए थी, तो कायदे-आजम उस पर बहुत सही नहीं उतर सकते थे। धर्म के स्तर तक पहुंचते तो शक्ति और संख्या के बल पर चलने वाली नीति आप ही गिर जाती। श्री नेहरू के पास वह गहरा दर्शन नहीं है, इसलिए संकीर्णता को काटने और विशालता लाने का उपाय भी उनके पास नहीं रह जाता। सेक्युलरिज्म के नाम पर इसी से कोई धर्मोत्तीर्णता प्राप्त होती नहीं दीखती, बल्कि संकीर्ण-स्वार्थता का ही बोल-बाला दिखाई देता है। हार्दिक धर्म-भाव से भी विमुख होकर चलने से, मुझे नहीं लगता, साम्प्रदायिकता के शमन की दिशा में कोई इष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है। धर्म आज संगठित संस्था-सम्प्रदाय का रव बन उठा है। अत: धर्म से यदि शाब्दिक भ्रम पैदा होता हो तो हम "अध्यात्म" कह सकते हैं। अध्यातम अर्थात् दूसरों में और सब में वही आत्मा देखना। इस तरह अध्यात्म द्वारा सबके प्रति एक गहरा आदर और ममत्व का भाव पैदा होता है। वह अध्यात्म लौकिक प्रयोजनवाद पर नहीं टिक जाता और उसमें से स्वार्थ-लाभ की जगह स्वार्थ-त्याग निकलता है। उस अध्यात्म के स्पर्श से राजपद का महत्व क्षीण हो जाता है और लोक सामान्य के प्रति आस्था बढ़ती है। सेक्युलरिज्म की राजनीति इस वांछित स्पर्श से कोरी रह जाती है। यही रहा, तो इससे सम्प्रदाय को ही नहीं, बल्कि गुटवाद और व्यक्तिवाद को भी बल पहुंचेगा, जो शायद दीख भी रहा है। ●

वर्ग-संघर्ष, अहिंसा और आक्रमण

●

असल में मूलतः मानव-समाज स्त्री और पुरुष नाम के दो वर्गों में बंटा हुआ हैं। कहते है, हर व्यक्ति में दोनों तत्व मौजूद हैं। उनके अनुपात की अधिकता से स्त्री अथवा पुरुष हुआ करते हैं। अब मनोविज्ञान में दो शब्द चलते हैं Sadism और Masochism। इन दोनों शक्तियों के बीज भी हर व्यक्ति में हैं। हमारे काम के लिए, अर्थात् विचार के अवगाहन के लिए, इस मौलिक वर्ग-भेद से चलना अधिक विश्वसनीय होगा।

मान लीजिये, शोषक माने गये वर्ग का एक व्यक्ति है, समझिये पूंजी-पति। उसका परिवार पूरा-का-पूरा शोषक-वर्ग का ठहराया जाता है। लेकिन हमें क्या मालूम कि उस घर की हालत क्या है? वहाँ पति द्वारा पत्नी का शोषण बड़े मजे से चल रहा हो सकता है, बल्कि होता ही है। तथ्य यह है कि जब इस "शोषण" को हम सामाजिक वर्गों में बिठाकर देखते हैं, तो परिणाम राजनीतिक कर्म होता है, अर्थात् वर्ग-विद्वेष की बुनियाद पड़ती है। उस तरह शोषण की जड़ हाथ आ जाती है, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ।

सच यह है कि आदमी अनुभव में उतरे, तो वह ठीक तरह अपने को किसी वर्ग में रख नहीं सकेगा। लखपति एक ओर करोड़पति का बोझ अपने ऊपर अनुभव करता है, दूसरी ओर अपने को सहस्र अथवा अन्य पतियों दीन-हीन जनों के ऊपर बैठा हुआ पाता है। किसी स्तर पर भी कोई उन नीचे और ऊपर के दोनों दवाबों से मुक्त नहीं है। नेता चोटी पर दीखता है, लेकिन अनुयायियों का कितना दबाव उस पर है, यह वही जानता है। वर्गों के बीच में ही इस हिंसा-तत्व को विराजमान बनाकर देखना मानो उसे अपने से दूर डालकर देखना है। उस दर्शन से सम्भव हो सकता है कि शोषण मिटाने की चेष्टावाला दल या व्यक्ति ही स्वयं प्रचंड शोषण का साधन बन निकले! अधिकांश ऐसा ही हुआ है। अमुक दमित वर्ग हिंस्र क्रान्ति के जोर से जब शास्ता-वर्ग बन बैठा है, तब मालूम हुआ है कि कालान्तर में उसी को त्रासदाता वर्ग का रूप अपनाना हुआ है।

वर्गों में और उन स्तरों में ही नहीं है, बल्कि शोषण उससे कहीं अधिक व्यापक है। यानी परस्पर सम्बन्धों की प्रणालियों में, समाज के सारे ताने-बाने में है। उसकी इकाई के रूप में वर्ग या श्रेणी को मानना राजनीति के प्रयोजन के लिए काफी हो, विचार और विज्ञान के लिए काफी नहीं है। वह इकाई सर्वथा ठहराई और मानी हुई है और नित्यप्रति के व्यवहार में उसका सामना लगभग नहीं होता है। जो प्रत्यक्ष और अनुभूत है, वह वैयक्तिक धरातल पर है और व्यक्तिगत सम्बन्धों के द्वारा प्रकट होता है। उनके ऊपर होकर जिन श्रेणी इकाइयों की धारणा हम जमाते और जिन पर फिर अपने सामुदायिक व्यवहार को चलाते हैं, वे सापेक्ष धारणाएँ होती हैं। उनमें सत्यता को पकड़ और बाँध रखने की चेष्टा से हित के बजाय अहित होने लगता है। सत्यता उनकी सापेक्ष है और उस अपेक्षता और मर्यादा को कभी भूलना नहीं चाहिए।

अहिंसा को परम धर्म अंगीकार कर लेने से लोक-जीवन की यह आवश्यकता अनायास सिद्ध हो जाती है। तब श्रेणी और वर्ग की धारणा भी मदद कर जाती है, नुकसान नहीं कर पाती। शोषण के लिए शुद्ध शब्द हिंसा है। वह इतना सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है कि अमुक राजनीतिक क्रान्ति या दूसरे तरह के प्रोग्राम से उसका निदान व समाधान हो जायेगा, यह मानना अपने को सिर्फ बहका व भरमा लेना है। बड़ी कठिन और दुर्द्धर्ष और जीवन-व्यापी साधना है यह हिंसा से लड़ना और अहिंसा की मानव-सम्बन्धों में प्रतिष्ठा करना। जब उस पर चलेंगे, तो मालूम होगा कि शोषण को समाप्त करना कोई निरा आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है; बल्कि उसके अंग में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इत्यादि भी अनिवार्य होते हैं।

अमुक वर्ग या श्रेणी का उन्मूलन, ऊपर की बात के बाद, उतना आवश्यक और यथार्थ नहीं दीखेगा। उन्मूलन जब सचमुच हिंसा का या शोषण का होता है, तो उसमें किसी का नाश नहीं होता है, सिर्फ उनके सम्बन्ध में पड़े हुए जहर को ही समाप्त करना होता है। जहर मिटने पर फिर तो अन्तर और भेद भी प्यारा होने लग सकता है। अन्तर ही बीच में अगर न हो, तो स्नेह और प्रेम के संचार के लिए भी अवकाश नहीं बचता है! प्रेम के नाते बड़ा-छोटा और ऊँच-नीच भी यदि हो तो अखरेगा नहीं, बल्कि जीवन को समृद्ध और सम्पन्न करता जान पड़ेगा। मां को कैसे इससे रोका जा सकता है कि वह बेटे की अपने से ज्यादा चिन्ता करे और उसके सुख के लिए अपने को निछावर करती रहे। प्रेम की अन्यथा गति नहीं है, तृप्ति नहीं है। प्रेम में हम अपने को नीचे और प्रेम-पात्र को ऊँचे पर ही रखकर सन्तोष पाते हैं। इस

तरह किसी का भी उन्मूलन आवश्यक नहीं ठहरता है। बल्कि एक भी विविधता व विचित्रता को कम करना जगत् की शोभा को कम करने जैसा हो जाता है। अहिंसा का आधार यही है। अनिष्ट हिंसा है, मिटाना उसको है। दुश्मनी मिटाने के लिए जब-जब दुश्मन को मिटाया गया है, तो पता चला है कि दुश्मनी बढ़ी है, मिटी जरा भी नहीं है। मिटाने की उस इच्छा में ही भ्रान्ति है, दोष है। अधूरापन है उस दृष्टि में जो रोग के मूल तक नहीं जाती, सिर्फ़ ऊपरी चिह्नों को मिटाने में से गौरव अपना लेना चाहती है। इतिहास बताता है कि ऐसी अधूरी इच्छा को लेकर चलनेवाले क्रान्तिकारी कुछ ही दूर चलने पर फिर पीछे भोगवादी, अवसरवादी, शासनवादी, दुनियाबाज़ हो गये हैं। तुलना में जिसकी क्रान्ति की आग मृत्यु के क्षण तक उसी तरह जलती रही है, उसको हम देखें और समझेंगे तो, यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा।

वर्गहीनता से हमारा क्या आशय है? क्या यह कि कभी सब लोग एक ही काम करेंगे, एक-से मकानों में रहेंगे, एक-सा खाना खायेंगे? तो यह चित्र मनोरमता के लिए हो सकता है, सम्भवता के लिए नहीं। स्पष्ट है कि जीवन के विविध व्यापार रहेंगे। सच्ची वर्गहीनता में किसी व्यक्तित्व की सम्भावनाएं नष्ट न होंगी और सभी अपनी विलक्षणता में खिलने का अवसर पायेंगी। वहाँ जो होगा वह यह कि पैसा रहा भी तो उसमें व्यवहार को सुगम करने की ही शक्ति होगी, उससे अधिक किसी दबाव या अभाव की सृष्टि करने की शक्ति नहीं रहेगी। इसी प्रकार राज्य या शासन यदि होगा, तो व्यवस्था की सुविधा जितना ही होगा, दमन वह नहीं लायेगा। हिंसोपकरणों के सहारे की, जैसे अस्त्र-शस्त्र-सैन्य इत्यादि उपकरणों की जरूरत उसे न होगी। हिंसा की प्रेरणा और उसके साधन उतनी ही मात्रा में जरूरी होते हैं, जितना समाज के पास अहिंसक शक्ति प्रेरणा का अभाव होता है। वर्गहीन समाज वह समाज होगा जो प्रेम की शक्ति से चलेगा और किसी को मानने का अवकाश न होगा कि वह शोषित या शोषक है। सब परस्पर पूरक अनुभव करेंगे और परस्पर की पूर्णता में सहायक होंगे। इस समाज को 'वर्गहीन' संज्ञा देकर यह मानना कि कोई विविधता वहां कम होगी, वर्गहीनता को न समझना है। आज का शासक-या-शोषक-वर्ग क्या चैन से रहता माना जा सकता है? चैन से यदि वह रह सकता है तो तभी जब शेष सारा समाज उसके प्रति प्रीति या विश्वास रखे। और यदि यह प्रीति या विश्वास हो, तो क्या शासक अफसर जैसा रह जायेगा? वह पूरी तरह सेवक ही बना हुआ क्या न दीखने लगेगा?

कहने का आशय यह है कि वर्गहीनता के लिए वर्गों को मिटाना नहीं

है, बल्कि सम्बन्धों में उस सहयोगिता और स्वस्थता को लाना है जिसमें वर्ग-चेतना ही अनावश्यक हो जाय। वर्ग-चेतना जैसी चीज जहां अकारण और असम्भव होगी उसी समाज को वर्गहीन कहा जायेगा।

परन्तु हिंसक क्रान्ति करनेवालों का अधिकार कोई चाहे तो भी कम नहीं कर सकता है। कम इसलिए नहीं कर सकता कि उन्हें एक अन्दर की विवशता चलाती है। लेकिन हिंसक क्रांति हिंसा को दूर नहीं कर सकती, इसको बताने के लिए बड़े तर्क की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परिस्थिति से चेतना बनती और उपजती है; यह मान भी लें, तो परिस्थिति क्या सिर्फ स्थान-भेद का नाम है ? 'अ' ऊपर है, 'ब' नीचे है; तो क्या 'अ' को नीचे लाने से और 'ब' को ऊपर कर देने से मान लिया जाय कि परिस्थिति बदल जाती है? मैं मानता हूँ कि परिस्थिति का सार-सत्य यह नहीं है कि कौन कहाँ है; उसकी वास्तविकता तो इसमें है कि जो-जो जहाँ है, उनके बीच के संबन्धों में क्या तत्व प्रवहमान हैं। उस समूची परिस्थिति का परिवर्तन स्थानान्तरण मात्र से नहीं हो जाता है। राजनीतिक क्रान्ति उसको महत्व देती है और जहाँ जब-जब क्रान्ति राजनीतिक ही रह गयी है, वहां वह होने के साथ बिगड़ भी गयी है। टिकी है तो तब, जब वह राजनीतिक से आगे सामाजिक-आर्थिक होने की ओर बढ़ी है। अर्थात् केवल स्थानान्तरण से आगे उसने मानव-सम्बन्धों पर ध्यान दिया और उनके जहर को काटा है। मानव-सम्बन्धों की भूमिका पर जब भी आप उतरेंगे, तो देखेंगे कि स्थान का विचार ही पर्याप्त नहीं है, मनोभावों का भी विचार आवश्यक है। मानों मन में पड़ा हुआ हेतु तब उतना निरर्थक नहीं रह जाता। कर्म के द्वारा मन की प्रेरणा का बाहर की स्थिति के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कर्म कोई ऐसा हो ही नहीं सकता, जो केवल स्थिति-परिस्थिति से बन जाय और दूसरे सिरे पर मानव-मन से उसका सम्बन्ध आये नहीं। हर इतिहास, हर सिद्धान्त, हर भाग्य मानवों के माध्यम से सम्पन्न होता है और इसलिए मानव-मन के साथ उसका सम्बन्ध आता ही है। परिस्थिति से चलाकर किसी तर्क को नीति से विमुक्त मान लेना चल नहीं सकता, और चलाते हैं तो खतरे से खाली नहीं हो सकता।

हिंसा और अहिंसा के विचार को तात्विक भूमिका पर हम न लें। वहाँ तो उसे टाला जा सकता है। उस टालने से नुकसान भी कुछ नहीं होता। लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में गर्भित हिंसा और अहिंसा की बात को तात्विकता में उलझाकर उस सम्बन्ध में जब हम उदासीन व निरपेक्ष हो जाते और हिंसा को उचित और अनिवार्य ठहरा लेते हैं, तो एक तरह हम नशे का सहारा लेते

और पूरी तरह सचेत और जाग्रत होने से बचते हैं। अपने प्रति और इसलिए दूसरों के प्रति भी अन्याय किये बिना हिंसक कार्यक्रम को अपनाया और उठाया नहीं जा सकता। बहुतेरे ग्रन्थ हैं, जिसमें पूरी सहानुभूति से ऐसी कार्य-योजनाओं को चित्रित किया गया है। उनमें, हर एक में, यह दीखे बिना नहीं रहता कि किस प्रकार क्रान्तिकारियों को अपने प्रति अन्याय करते हुए चलना पड़ता है। नैतिक से व्यक्ति मुक्त नहीं है। हिंसक कार्यक्रमों में जब वह चलता है, तब मानो उसे हठात् उस सब अनिवार्यता से छुट्टी बनाकर ही चलना पड़ता है। परिणामतः विभक्तता का शिकार होकर अन्त में उनके व्यक्तित्वों को टूटना और बिखरना पड़ जाता है। ऐसा नहीं भी होता, तो वे बेहद कस आते हैं और भीतर कसमसाते रहते हैं। इसलिए, हिंसा के उपाय से होनेवाली क्रान्ति को मुक्ति और शान्ति का द्वार मैं नहीं मान सकता हूँ।

इसके सिवा हिंसा का एक और भी रूप है। वह है आक्रमण। आक्रमण का जबाब अहिंसा कैसे दे?

आक्रान्ता से सिर्फ आक्रमण करते हुए व्यक्ति का चित्र मन में उठता है। मानो आक्रान्त आक्रान्ता ये दोनों परस्पर सम्मुख और संयुक्त हो आये हैं तो केवल उस आक्रमण की क्रिया और क्रम से। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता है। आक्रान्त व आक्रान्ता के सम्बन्धों का सदा कुछ इतिहास हुआ करता है। पहले से उनकी सम्बद्धता चली आती है। इन सम्बन्धों में नाना प्रकार की उलझनें हो सकती हैं। अक्सर तो यही होता है, कभी-कभी यह भी हो सकता है कि सम्बन्ध का इतिहास कोई नहीं हैं, अकस्मात् आक्रमण हुआ है। मान लीजिये कि रेल के डिब्बे में आप अकेले हैं और सिर्फ लूट की इच्छा से कोई एकदम अपरिचित आप पर हमला करता है। इन अनेक उदाहरणों में आप की प्रति-क्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है। यह निर्भर करती है पहले तो इस बात पर कि आप क्या हैं, यानी आक्रान्त जिसको कहा गया है, वह क्या है? फिर वह निर्भर करती है आक्रान्ता के साथ उसके सम्बन्ध पर।

अहिंसा के पास हिंसक आक्रमण का कोई जबाव नहीं है, यह मान लेना शक्ति को हिंसा में बन्द कर देना होगा। लेकिन हम देखते हैं कि प्रकृति में मनुष्य जीता है, सिंह हारा है। आक्रमण सिंह करता है और वह उसी एक विधि को जानता है। मनुष्य यदि शेर पर विजय पाता है, तो इसलिए कि वह आक्रान्ता नहीं है, उससे कुछ अधिक है। शेर को खत्म करने के अलावा भी शेर के बारे में मनुष्य कुछ सोच सकता है। यह अतिरिक्तता ही मनुष्य का बल है और यह निश्चय ही हिंसा का बल नहीं है। मनुष्य के पास केवल हिंसा

का बल रह जाता. अगर वह शेर से सिर्फ डर ही सकता। हिंसा वही है और उतनी ही है, जितना डर है। मनुष्य शेर के सम्बन्ध में डर को जीत भी पाता है। परिणाम यह है कि वह शेर को लेकर सरकस में खेल भी दिखा सकता है। सरकस के खेल से आगे की भी कहानियां हैं। वास्तव में घटनाएं हैं, जब मनुष्य ने शेर को मारने की भाषा में सोचा ही नहीं है, बल्कि साधकर उसे अपना साथी बना लिया है।

प्राय: हम यह मान लेते हैं कि बचना जरूरी है, मृत्यु से डरना जरूरी है। इस डर के नीचे होकर विचार करने से जान पड़ता है कि मुकाबिले के लिए हिंसा का बल, अर्थात् प्रत्याक्रमण ही उपाय रह जाता है। डर के रहते सचमुच उपाय वही है और उसे अपनाने में झिझक नहीं होनी चाहिए। वह डर और भी नपुंसक और निकम्मा है, जिसमें से हिंसा की हिम्मत तक नहीं निकलती। निडरता तो बढ़कर है ही, लेकिन निडरता की श्रेणियां हैं। सबसे पक्की निडरता प्रेम में से आती है। गांधी-ईसा की कहानियों में निडरता का वही रूप है। वह कोमल रूप है, उद्धतता का उसमें रंच अंश नहीं है। उससे उतर कर जो निडरता दीखती है, वह कड़ी पड़ती जाती है। कहा जा सकता है कि उसमें उसी सूक्ष्म मात्रा में प्रेम की जगह अप्रेम, अथवा दूसरे शब्दों में भय, मिलता जाता है। इस सिरे पर प्रेम की निर्भयता और दूसरे सिरे पर भय की कातर कायरता के बीच में नाना प्रकार के व्यवहार हैं, जो आक्रमण के उत्तर में सम्भव बन सकते हैं।

आक्रमण डर में से होता और डर पैदा करने के लिए होता है। यह स्पष्ट है कि डर ही है जो उसे जीत या हरा नहीं सकता। निडरता से ही कुछ जबाब दिया जा सकता है, जो आक्रमण को जबाब जैसा मालूम हो। हिंसक प्रत्याक्रमण में भी कुछ अंश में निडरता का समावेश होता है। बारीकी से देखेंगे, तो मालूम होगा कि यह निडरता अहिंसा में से आती है। डर घोर होता है, तो कायर बनता है। नीचे हममें कुछ सप्राणता होती है, तो वह डर को छूकर फिर उसे हिम्मत के रूप में आगे ठेलती है। यह सप्राणता मूल में प्रेम के रूप का नाम है।

स्त्री यों कायर होती है, लेकिन बच्चे की ममता को लेकर वार का जवाब देने की दिलेरी उसमें आ जाती है। बच्चे की जगह व्यक्ति में कोई दूसरा प्रेम भी काम रहा हो सकता है। अर्थात् कुछ ऐसी वस्तु जिसके समक्ष व्यक्ति के लिए अपनी जान की परवाह तुच्छ बन जाती और मौत की बाजी आसान हो जाती है।

आक्रमण लोभ में भी होते हैं। छोटे-छोटे नहीं, बड़े-से-बड़े इतिहास के आक्रमण तक लोभ में हुए हैं। विजेता जिन्हें कहा जाता है वे छोटी प्रेरणाओं से नहीं चलते, महत्वाकांक्षाएं उन्हें चलाती हैं। यहां तक कि यही नहीं कि भय और लोभ उनमें नहीं दीखता, बल्कि निर्भयता और निर्लोभ दीख आता है। अलेक्जेंडर के पास, चंगेजखां के पास क्या कमी थी? किसका भय या किसका लोभ था कि वे दूर-दूर तक धावा बोलते चले गये? उनकी जय-यात्राओं को भय-लोभ से जोड़ना मुश्किल हो जाता है। ओज और तेज है, शौर्य और वीर्य है, जो उन्हें आक्रान्ता बनाता है। महाहिंसा की बाढ़ पर मानो वे ऐसे चढ़े हुए चलते हैं कि हिंसा उन्हें छूती ही न हो! वे जैसे इतिहास से ही प्रेरे हुए हों और पराशक्ति से चल रहे हों।

मैं उन बड़े उदाहरणों के विश्लेषण में नहीं जाऊंगा। उनको अनुभूति द्वारा मैं पकड़ नहीं पाता हूँ। लेकिन लोभ में भय का अंश रहता है और महत्वाकांक्षा के नीचे अहं का हीनभाव शायद दुबका हुआ देखा जा सकता है। आवश्यक नहीं है कि यह हीन-भाव व्यक्तियों को लेकर हो, समष्टि को लेकर भी हो सकता है। महान् चेतनाएं इसी दबाव के नीचे काम करती हैं, उद्दीप्त पौरुष यहीं से जन्म लेता और यहीं से महिम्न दिव्यभाव सृष्टि पाता है।

पहले के प्रतीक हैं रावण, तो दूसरे भाव की प्रतिमा हैं राम। समष्टि के प्रति व्यक्ति में यह जो अगाध व्यवधान है, उसको प्रेम और भक्ति से जो भर पाता है वह भय से उबर जाता है। परिपूर्ण भक्ति में भक्त स्वयं में भगवद्-रूप हो जाता है। इस अन्तराल को भरने के लिए प्रेम का प्रसाद जिसके चित्त को प्राप्त नहीं होता, वह मानो दमित और भयभीत, अपने अहंकार को लेकर इधर से उधर दहाड़ता और पछाड़ता हुआ दौड़ता फिरता है। जाने वह क्यों लड़ रहा है? मानो समय की और विस्तार की अनन्तता उससे झेली नहीं जाती। डर होता है और वह उस डर में ही ये सारे उत्पात करने को विवश हो जाता है।

सूक्ष्म लोभ और सूक्ष्म भय होता ही है उसमें जो अकारण आक्रमण करता दीखता है। इस हिंसा में उसे कोई हिंसा दीखती ही नहीं, जैसे वह स्वप्न में चलता है और व्यवहार की विवशताओं से कहीं उत्तीर्ण ही बना रहता है।

इतिहास की ऐसी निर्वैयक्तिक शक्तियों से बचने का अहिंसक उपाय, प्रत्याक्रमण या बचाव न हो सकता है, न हुआ है। ऐसा लगता है कि नैतिक शक्तियां ऐतिहासिक के आगे बेकार हो गयी हैं और यह अतर्क्य नहीं है।

इन ऐतिहासिक महाशक्तियों को प्रकट करनेवाले व्यक्तियों के तल में जो अपनी ही अनन्तता का डर, और अपने अह की अनन्तता का लोभ, विद्यमान होता है, उस कारण उन्हें अन्त में हारना भी पड़ता है। लोग कहते हैं, भाग्य से वे हारते हैं। पर शायद वे स्वयं अनुभव करते होंगे कि वे अपने से ही हारते हैं। जय उनके लिए जय जैसी रह नहीं जाती। अहं की सीमितता उन्हें काटती और खाती रह जाती है और चारों ओर का यह अगाध विस्तार उन्हें लीलता-सा मालूम होता है। यह हार उनके अन्दर बैठी रहती है और उसी से वे लड़ा करते हैं। लेकिन अलेक्जेंडर के सामने अगर आ जाता है डायोजिनिस, जिसमें चाहे स्नेह न हो पर भय या लोभ तो और भी नहीं होता, तो अपनी ही हार क्षण के लिए उसे रस और समाधान-सा दे आती है!

अलेक्जेंडर कहता है : "मैं यह सम्राट् सामने हूं। बोलो, क्या चाहते हो?"

डायोजिनिस कहता है : "हट कर एक तरफ खड़े हो, धूप छोड़ दो।"

अलेक्जेंडर स्तब्ध रह जाता है। जैसे एक अनुभूति भीतर तक उसे कौंध जाती है। लगता है उसे और कुछ नहीं करना है, बस एक ओर हट जाना है, धूप को दुनिया के लिये छोड़ देना है!

डायोजिनिस का यह निर्लोभ क्या अलेक्जेंडर को परास्त नहीं कर गया? अगर डायोजिनिस में दार्शनिक तटस्थता ही न होती, बल्कि बुद्ध की अनुकम्पामय ममता भी होती, तो अलेक्जेंडर विजेता से विनत बन गया होता कि नहीं, यह अनुमान की बात है। लेकिन परिपूर्ण प्रेम की निर्भीकता और निर्लोभता के समक्ष दुर्दान्त-से-दुर्दान्त आक्रान्ता परास्त हो सकता है और होकर धन्य भी हो सकता है, ऐसा मैं मानता हूँ। ●

अहिंसा और मानव सभ्यता

●

अहिंसा और प्रेम का सपना पूरा यानी खतम कभी न होगा। लेकिन वह सपना संकेत हमेशा और जरूर देता रहेगा। सपना कहकर जब उस संकेत को भी हम टालते हैं, तो संकट को ही निमंत्रण देते हैं।

हिंसा-अहिंसा किसी निश्चित रूप और कृत्य के नाम नहीं हैं। यदि हम मानव की गति और उसके विकास को हिंसा से अहिंसा की दिशा में न मानें तो इसी क्षण सब कुछ व्यर्थ और अहेतुक हो जाता है। सम्पूर्ण अहिंसा का व्यवहार कल्पना तक में यदि स्पष्ट नहीं हो पाता है, तो इसका अर्थ हिंसा का समर्थन नहीं बना लेना चाहिए। मनुष्य में से पशुता घटते रहने के लिए सदा शेष रहती चली जायगी। इसमें से पशुता को समर्थन नहीं मिल जाता है। बल्कि पशुता से निवृत्ति उतनी ही मानवता का लक्षण बनी चली जाती है।

इतिहास में हिंसा का अन्धकार मिलेगा। लेकिन अगर वह अंधेरा थोड़ी देर के लिए भी कटा दीखा, तो उस ज्योति को इतिहास फिर भूल नहीं सकता है। उसे ज्यति के रूप में मानता रहा, इसी में इतिहास के लिए सान्त्वना और आशा के तत्व मिल जाते हैं। अंधकार को ज्योति का अभाव ही हम मान सकते हैं। अभाव नियम नहीं हो सकता। अभाव भरता है, नियम यह है।

स्वयं युद्धों के रूप को ही लें। उनका रूप विशालतर और विकट से विकटतर होता गया। लेकिन सूक्ष्मता में जाने पर देखेंगे कि इस विशालता और विकटता के नीचे कुछ उसके नियम और नियंत्रण भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति में विकास पाते चले गये हैं। युद्ध में ही सही, दुनिया के देश ऐसे एक-दूसरे के परिचय में आये है। विश्व-व्यवस्था जैसी चीज प्रकट हुई है और यह दर्शन सुलभ और व्यापक हो गया है कि सब परस्पर अन्त: प्रभावित और अन्योन्य-निर्भर हैं। सारे विश्व का शरीर अब अपने को एकत्रित और एकात्म अनुभव करता है। एक स्थल पर क्षति प्रकट होने पर जैसे समस्त शरीर में से रक्त उस ओर दौड़ पड़ता है। हिंसा के रक्त-रंजित दृश्यों के पीछे जो हठात् यह एकता

और एकत्रितता घटित और सम्पन्न होती चली जा रही है, उसे हम सहसा देखा-अनदेखा कर देते हैं। हिंसा फटती और फूटती है तब दीखती है। अहिंसा अलक्ष्य भाव से जो हमारी परस्परता को घनिष्ट, व्याप्त और ठोस बनाती जा रही है, सो उसका लेखा हमारी बाह्य-इंद्रियां सहसा ले नहीं पातीं। उसको प्रज्ञा की आंखों से देखना होता है। यह प्रक्रिया अनिवार्य यद्यपि अदृश्य रूप से मानव जीवन के इतिहास में से घटित होती चली आयी है। ऐसा न होता, तो इतिहास कभी का बन्द हो गया होता।

आज अणु-शक्ति प्रकट हुई है और उसकी पहली सार्थकता अणु-बम के रूप में हमने पहचानी है। जाहिर है कि भीषण संहार-शक्ति उसमें है और वह हिंसा का दारुण उपकरण है। लेकिन इस आविष्कार से दुनियां खुली आंखों देख आयी है कि मन की तनिक विकृति किस तरह सारे संसार को ध्वस्त कर सकती है। अर्थात् हिंसा का भाव कितना घातक और अहिंसा का विचार कितना आवश्यक है। धर्मशास्त्र और साहित्य-दर्शन इतने काल से जिसको मानव-मन के निकट-प्रत्यक्ष नहीं कर पाये थे, हिंसक कहे जाने वाले इस आयुध के अविष्कार ने वह पाठ विश्व मानव के मर्म में एक ही साथ उतार दिया है। अर्थात् इतिहास में से हिंसा नहीं निकलती, बल्कि अहिंसा के विचार की अनिवार्यता निकलती है, यह देखना कठिन नहीं होना चाहिए। बाह्य-दर्शन की हिंसा जैसे अन्तर्दर्शन की अहिंसा को पाठ के रूप में प्रस्तुत करने के साधन रूप में ही जनमी हो।

बुद्ध, ईसा, गांधी हमें इतिहास में ज्योति की भांति चमककर लुप्त हुए जान पड़ते है। पर ज्योति उन अवतारी पुरुषों की काया के साथ चली ही गयी होती, तो उनके नाम आज शेष बचे कैसे रह जाते? वह ज्योति मानवता के हृदयों में अपनी किरणें छोड़े बिना अस्त हो गयी होती, तो स्मृति किस सहारे उस ज्योतिर्मयता को संजो सकती? अतीत और व्यतीत मानकर इतिहास में से उनकी वर्तमानता को मिटाया नहीं जा सकता है। यह कि मनुष्य अपनी हिंसा की घोरता से संत्रस्त और भयभीत है, उसकी अहिंसक चेतना को ही दरसाता है। हिंसा का गौरव क्रमशः घटता जा रहा है। उस पर बल्कि अगौरव इतना चढ़ गया है कि हिंसा पर उतरने वाली सत्ता और शक्ति को विश्व-मत के आगे अपनी कैफ़ियत और सफ़ाई देनी होती है। जैसे यह गृहीत हो कि वह जुर्म है, इससे सफ़ाई देना शुरू से ही जरूरी है। इसको मानव-चेतना में अहिंसा के भाव की व्याप्ति से अतिरिक्त दूसरा और क्या कहेंगे।

विज्ञान बुद्धि की वह तटस्थ प्रक्रिया है, जो सागर से बूंद की तरफ

चलती है। अन्वय और पृथक्करण उसकी पद्धति है। इसमें एक को दूसरे से भिन्न पहचाना जाता है। विज्ञान इस तरह सदा भेद-विज्ञान है। इसलिए विज्ञान स्वतः अभेद से वास्ता नहीं रखता है। जितना जो चमत्कार विज्ञान दिखाता है, पृथक्करण द्वारा पाये गये मर्म को फिर लौटाकर जीवन के संश्लिष्ट उपयोग में उतारने के द्वारा ही दिखा पाता है। अर्थात् विज्ञान विश्लेषण है, जीवन की आवश्यकता उसमें से संश्लेषण साध लेती और उसके उपयोग से अपने को संपन्न करती चली जाती हैं।

विज्ञान के उपकरण और आयुध जैसे-जैसे आविष्कृत होते चले गये, वे पहले वासनात्मक वृत्ति के हाथ पड़े। यह भी कहा जा सकता है कि वासना के वेग और दबाव में से बुद्धि की प्रेरणा सचेष्ट हुई और नया-नया आविष्कार करती चली गयी। 'निसेसिटी वाज दी मदर आफ इन्वेन्शन'। यानी आवश्यकता जीवन संबन्धी थी और बुद्धि के विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को जीवन की परिस्थितियां संश्लेषण का संयोग देकर उपयुक्त करती चली गई। विज्ञान युद्ध की आवश्यकता के नीचे चेतता रहा, और पीछे जाकर वही रचनात्मक और विधायक कामों में आया। बुराई में से अक्सर हम भलाई फलित होते देखते हैं पर वह भलाई बुराई को भला नहीं बना देती। फिर भी उस भले फल को अपना कर हम बुराई के कृतज्ञ भी हो लेते हैं। विज्ञान को अपने आप में भला या बुरा ठहराने का कुछ अर्थ नहीं है। हवा को गोरा काला क्या कहा जाय? लेकिन एक को दूसरे से पृथक् करके समझने की विधि तभी सही काम देगी जब साथ ही अभिन्नता की भूमि और श्रद्धा प्राप्त बनेगी। यह भूमि जीवन की ही भूमिका है और उस श्रद्धा से मानव-मन कभी खाली नहीं हो पाता है। यही जीवन का सनातन धर्म है। वैज्ञानिक-संहार में से भी जीवन अपना निर्माण निकाल लेता है और हिंसा में से अहिंसा की ओर गति साथ लेता है। वह जीवन-धर्म, मानव-धर्म, एक क्षण के लिए भी सोता नहीं है। और मानव उसी की चौकसी में अपने सब उत्पातों के बावजूद मानवता में उठता और बढ़ता ही आया है। मनुष्य की ओर से जो अधर्म हुआ है, उसके प्रति कोई समर्थन या समझ का भाव यहां नहीं देखना चाहिये। केवल मानवोत्तर ऐतिहासिक विकास-नियम को ही पहचान लेना और अपनी आस्था में बिठा लेना चाहिए। ●

सभ्यता का संकट और गांधी जी का उपाय

※

गांधी जी के जीवन का काम अधिकांश राष्ट्रीय क्षेत्र का दीखता है। इसी संदर्भ में उसकी महिमा का आंका जाना स्वाभाविक है। पर वास्तव में वह महत्व उससे गहरा है।

स्वयं गांधी जी ने अपने लक्ष्य को सत्यरूपी परमेश्वर का साक्षात्कार बताया है। इसी राह में दूसरी प्रवृत्तियां और राष्ट्रीय के स्वातन्त्रय-युद्ध का कार्यक्रम आ गया। इन प्रवृत्तियों में उनका आग्रह सत्य के और अहिंसा के प्रति यहां तक रहा कि इनसे हटकर हिंसक उपायों से भारत का स्वराज्य आता हो तो वह भी उन्हें मान्य नहीं था। राष्ट्रीय और राजनीतिक पुरुष के लिए यह सम्भव नहीं हो सकता था। अत: स्पष्ट ही गांधी जी के व्यक्तित्व और जीवन की भूमिका राजनीति से अधिक व्यापक और ऊंची थी।

असल में गांधीजी का अवतरण विश्व के ही गति-इतिहास में एक मोड़ सिद्ध होने वाला है। औद्योगिक और यांत्रिक क्रांति के साथ मानव सभ्यता ने जो रूप ग्रहण किया वह अपनी संभावनाओं के छोर तक आया तो देखा गया कि वहां युद्ध उपस्थित है। युद्ध भी ऐसा कि उसे दो दलों का नहीं कहा जा सकता, बल्कि जो समूची मानव जाति को ही अपनी परिधि में समा लेना चाहता है। युद्ध में से फिर युद्ध उपज आता है और पहले से भी विकटतर युद्ध। इस स्थिति से दुनिया अभी पार नहीं हुई है। पर विचारक लोग हर जगह हैरान हैं। खोज जारी है कि चूक कहाँ है। यों तो मानव जाति के मान्य व्यवस्था-पक लोग सभ्यता के उसी वेग में बढ़ते जाने को बाध्य हैं, पर प्रश्न उनके मन में भी उठ चला है।

गाँधीजी का जीवन-कार्य मानवजाति के उसी सभ्यता के संकट में से त्राण पाने के मार्ग का सूचक है। शब्द के सामान्य अर्थ में वह किसी राष्ट्रीय अथवा राजनीतिक क्रांति का मात्र निदेशक नहीं है वरन् उससे कहीं अधिक है। वह वेग के साथ बढ़ती हुई विश्व-सभ्यता के आगे प्रश्नचिन्ह ही नहीं, दिशा दर्शक भी है। मेरी मान्यता है कि गांधी को आधार बनाकर विश्व संस्कृति का

नया निर्माण होने वाला है।

औद्योगिक क्रांति ने उन्नति को बहुत तीव्र गति से आगे बढ़ाया है। विज्ञान इस एक डेढ़ शताब्दी में जितना आगे आया उतना पहले की बीसों शताब्दियों में नहीं बढ़ पाया होगा। वह गति अभी जारी है और विज्ञान के चरण इतनी आश्चर्यजनक तीव्रता से बढ़ रहे हैं कि कुछ पहले स्वप्न में भी उसकी कल्पना नहीं की जा सकती थी। इस काल में मनुष्य की मस्तिष्क शक्ति ने अपरिमित विकास पाया है। अणु का छेदन हो गया है। जड़ और चेतन के बीच का भेद टूट गया है। अधिकांश मानव के तत्व-दर्शन जड़ चेतन की इस पृथकता की बुनियाद पर खड़े हुए थे, वे सब आज बेकार से लगते हैं। सीमा समाप्त हो गई है और पृथ्वी का दूसरे ग्रह-नक्षत्रों से आदान-प्रदान के व्यापार का परिच्छेद कब खुल जाय, कहा नहीं जा सकता।

किन्तु इस अपूर्व उन्नति के साथ एक विपरीत परिणाम भी घटित हुआ है। वह यह कि व्यक्ति सब कहीं अपने जीवन को अस्थिर और असुरक्षित अनुभव करता है। मानव सम्बन्धों के बीच श्रद्धा की जगह शंका ने ले ली है। एक आदमी जैसे हर दूसरे के लिए स्पर्द्धा का विषय बनता जा रहा है। यों तो संघटित इकाइयों का विस्तार बहुत फैल गया है, अब द्वीप और महाद्वीप ही नहीं बल्कि महाखण्ड (ब्लाक्स) की धारणा आ उपजी है, पर इन इकाइयों की आंतरिक संघटना के विश्लेषण में जायें तो मालूम होगा कि उनके खण्डों और घटकों में यदि एकता है तो सामने विरोध और चुनौती को रखकर ही वह टिकती है, अन्यता वहां एकता नहीं है, बल्कि परस्पर रगड़ है। जैसे सारा मानव समाज आपसी सम्बन्धों में सहयोग के आधार पर नहीं बल्कि स्पर्द्धा के आवेश में बढ़ता चला जा रहा है।

यह है आर्थिक सभ्यता। इसके नीचे है जीवन की आर्थिक धारणा और तदनुकूल आर्थिक तत्व-दर्शन। इसमें प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि को धार मिल उठती है कि कैसे वह दूसरे को व्यर्थ कर सकता और लाभ सिद्ध कर सकता है। इस तरह सभ्यता स्वयं को बढाने में है, चाहे इसमें दूसरा मिटे या गिरे। दूसरे के लिए सहारा और आश्वासन बनने का नियम, जो मानव-सभ्यता का लक्षण समझा जा सकता है, इस अर्थ-सभ्यता में क्षीण और जीर्ण होता जा रहा है। यदि सहयोग है तो सामने विग्रह को लेकर। यानि स्थापित स्वार्थ अपने में बड़े से बड़े हो सकते हैं, होते गये हैं, जिनका अपने से बाहर किसी परमार्थ या व्यापक मानव-हित से लगाव नहीं है।

वास्तव में इस आर्थिक औद्योगिक विकास में मनुष्य की बुद्धि ने जो

तीक्ष्णता प्राप्त की वह मानव-हृदय से निरपेक्ष और विलग हो गई । विज्ञान नैतिकता से स्वतन्त्र हो गया । फल यह हुआ कि मूल में संहार और विनाश की प्रवृत्तियों के हाथ में वैज्ञानिक आविष्कारों का योजन-उपयोजन आ रहा । विज्ञान के विशेषज्ञ की हैसियत से वैज्ञानिक नये-नये अनुसंधानों में आगे बढ़ते गये, लेकिन इसकी सुविधा जिस कृपा से उनके लिए जुड़ पाई वहां न विज्ञान था, न नैतिकता थी । वहां विग्रह और मुकाबले का तनाव था, वहां सुरक्षा की तात्कालिक और अनिवार्य मांग थी । अस्त्र-शस्त्र की विकट आवश्यकता के दबाव के नीचे वैज्ञानिक अनुसंधान ने सर्वाधिक प्रगति की । ज्ञान-विज्ञान का विस्तार यदि सबसे अधिक उपयोगी और कारगर हुआ तो युद्ध के क्षेत्र में । अपने को दूसरे के हमले से बचाये रखने और समय आने पर प्रतिपक्षी को परास्त करने में सक्षम रहने की जरूरत मानव जाति पर इतनी सवार हो गई कि समूचा उत्पादन, आर्थिक विनियोजन और व्यापार-व्यवसाय सब उसी के अधीन चलने को बाध्य हो आये । इस होड़ में हार्दिक गुणों के विकास के लिए अवसर सीमित हो गये । समाज की स्थिरता को साधने के लिए जो परिवार नाम की मूल संस्था हमारे पास थी उसका ह्रास हो चला । वह सिमटकर क्षुद्र हो आई और यों भी उसकी जड़ें ढीली हो गईं । उसके नीचे का नैतिक और पारमार्थिक आधार हिल गया । वहां की भी भूमिका आर्थिक हो चली । स्त्री जिसे अपेक्षाकृत मस्तिष्क की तुलना में हृदय के गुणों की प्रतीक कहा जा सकता है समाज में अपनी सत्ता और मर्यादा गंवा चली । वह मनोरंजन की पण्य वस्तु हो चली ।

गांधी जी को पश्चिम की उन्नति के अनेक अंग निश्चय ही प्रिय थे । उसकी कार्यतत्परता, समय की मूल्य-रक्षा, कुशलता, नागरिक स्वच्छता, साहसिकता और गतिशीलता आदि गुणों के लिए उनके मन में बहुत मान था । लेकिन उन्होंने देखा कि नैतिक भावना से हीन हो जाने पर ये गुण ही दोष बन जाते हैं । हित के बजाय वे घोर अहित कर सकते हैं । बुद्धि की विश्लेषकता को, व्यवहार में गणित और विज्ञान की दृष्टि को, उन्होंने किसी से कम नहीं अपनाया । किन्तु धर्म-नीति से दिशा प्राप्त करने के कारण इन सब गुणों का जो गांधी जी के द्वारा प्रयोग और प्रतिफल प्राप्त हुआ वह उन्नतिशील पश्चिम को अपने लिए चुनौती जैसा मालूम हो सकता है ।

ऊपर से समझ लिया जाता है कि गांधी इतने आध्यात्मिक थे, महात्मा थे कि वस्तु जगत् का ठीक-ठीक दर्शन और अंगीकार उन्हें न हुआ । मशीन के प्रति उनका रुख भावनामूलक रहा । काल-विकास के साथ जो पेचीदगियां

हमारे जीवन में पैदा हो गई हैं उनका पूरा आभास उन्हें न हो पाया और जो समाधान उन्होंने दिया वह जीवन को आवश्यकता की जटिलता के मुकाबले बेहद सरल-सा प्रतीत होता है ।

यह बात ध्यान रखने की है कि गांधी जी की सारी जिन्दगी जन-सम्पर्क के बीच बीती । अलग-थलग होकर रहने का अवकाश ही उन्हें नहीं मिला । प्रचण्ड कर्म के वे पुरुष रहे और लोक-नेतृत्व के दायित्व ने उन्हें कभी छुटकारा नहीं दिया । राजनीति के शीर्ष पर पहुंचने और जीवन भर वहाँ बने रहने के लिए भावना से ही काम नहीं चल जाता । वहाँ विभिन्न और विरोधी हितों और स्वार्थों में संधि और सामंजस्य साधने में कितनी तीक्ष्ण और निःस्पृह बुद्धि शक्ति की आवश्यकता हुई होगी, इसका कल्पना से ही अनुमान किया जा सकता है । फिर अपने रचनात्मक कार्यों के लिए जो विभिन्न संगठन उन्होंने खड़े किये उनमें गणित का पूरा उपयोग न होता तो वे कार्यकारी नहीं हो सकते थे । धर्म के प्रत्येक प्रश्न पर उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक रहा । गौसंरक्षण के जो उपाय उन्होंने सुझाये और बरते वे परम्परागत गौ भक्तों को चौंकाये बिना न रह सके । वे प्रत्येक क्षण जागरुक रहे । अपने अन्तरंग के प्रति ही नहीं बल्कि बाह्य वस्तुस्थिति के प्रति भी यह सावधानता वस्तु और व्यवहार के किसी भी व्यवसायी वैज्ञानिक से कम नहीं आंकी जा सकती ।

ऐसा न होता तो गांधी जी को टालना प्रतिपक्ष के राजनीतिज्ञों के लिए सम्भव हो जाना चाहिए था । पर वह असम्भव हुआ तो इसी कारण कि जब आदर्श-श्रद्धा उनमें भरपूर थी तब बुद्धि-साध्य व्यवहार-पटुता भी उनमें कम नहीं थी । अर्थात् विज्ञान और उद्योग की प्रगति में से जो हितकर और स्थायी तत्व थे उन्हें गांधी जी ने सम्पूर्ण भाव से अपनाया और आत्मसात किया । किन्तु मानव मन के भीतर बैठी हुई स्वार्थ वृति ने जो विकार उत्पन्न कर दिये थे गांधी जी अपनी निजता में उन बुराइयों के प्रति एक प्रबल चुनौती और निषेध का रूप बन उठे ।

मानवजाति विज्ञान की उन्नति के साथ कटी-बटी नहीं रह सकती । दुनिया को एक होना होगा । देश की भावना में एक नहीं, क्योंकि उससे स्व-देश-विदेश का विरोध नहीं कटता । बल्कि उससे आगे विश्व-भावना में एक और सही भाषा में कहें तो मानव-भावना में एक ।

इस सच्ची एकता के लिए गांधीजी ने विकेन्द्रित व्यवस्था की कल्पना की । भारी भूल होगी अगर हम समझेंगे कि उस विकेन्द्रीकरण से मानव-समाज

उलटे बिखरेगा, एकत्रित नहीं होगा । सच यह है कि मानव मूल्य की प्रतिष्ठा के बिना मानव-एकता साध्य ही नहीं है । मानव से ऊपर जब हम देश को या सिद्धान्त को रखते हैं तो बल मानवता से हटकर किन्हीं कृत्रिम मूल्यों पर चला जाता है और स्थिति यह उत्पन्न होती है कि मानव दुर्बल होता और द्रव्य (सिक्का) प्रबल हो जाता है। हाथ से मेहनत करने वाला भूखा रह जाता है और कलम से हुक्म देने वाले के कब्जे में उसकी गर्दन आ जाती है । ऐसे कृत्रिम मूल्यों के आधार पर चलनेवाली व्यवस्था कभी युद्ध की आवश्यकता से छूट नहीं सकती । इस तरह देखने में चाहे यह लगे कि स्वावलम्बन की धारणा के आधार पर खड़ी समाज-व्यवस्था ग्राम-ग्राम छितरी हुई होगी और यह कदम आगे ले जाने के बजाय पीछे हटाने वाला होगा; पर तनिक गहराई से सोचने पर प्रत्यक्ष हो जाएगा कि जो अर्थ-व्यवस्था पड़ोसियों को अनिवार्यतया उस रेखा के निमित्त से स्वदेशी-विदेशी के रूप में परस्पर गैर बना देती है जो सुविधा के लिए काग़ज़ के नक्शों पर हमने खींच दी है, वह बढ़ते हुए वैज्ञानिक ज्ञान और घनिष्ट व्यहार का साथ नहीं दे सकती।

गांधीजी ने द्वन्द्वात्मक जगत् में अखंड ऐक्य के व्यहार की विधि बतलाई। हम अध्यात्मवाद से परिचित थे और भौतिकवाद से भी । व्यक्ति की स्वतंत्रता को मान देने वाला पूंजीवाद और समाज की सत्ता को महत्व देनेवाला समाजवाद का भी परिचय था । दोनों हमें पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में सामने खड़े दीखते थे । गांधीजी इनके बीच समग्र और निश्खंड मानव रूप में आविर्भूत हुए । उनसे जगत ने देखा, और आगे देखेगा, कि जीवन में खाने नहीं हैं । अगर तटों में दो-पन दीखता है तो जीवन की धारा वही है जो दोनों को छूती और मिलाती हुई बहती है । व्यक्ति और समाज दो नहीं हैं । न व्यक्ति और विश्व दो हैं । ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है। समस्त सृष्टि को जो धारण कर रहा है वह नियम है यज्ञ । धर्म भी उससे भिन्न दूसरा नहीं । इस तरह समाज, देश या विश्व को बनाने के लिए अपने ही संस्कार के बारे में असावधान नहीं रहना होगा। अपने साध्य के सिद्धि के लिए स्वयं तदनुकूल साधन हमें बनना होगा । इस तरह सचाई और पवित्रता व्यक्तिगत नहीं सामाजिक मूल्य हैं । व्यक्ति के पास होकर जो सीमित है वह इसलिए कि असीम में अर्ध्य रूप उसे होम डाला जाय । इस तरह मृत्यु का भय नहीं रह जाता । भय नास्तिकता है । यदि व्यक्ति हमेशा निडर रहे और हमेशा ही वह स्नेह से भरा रहे तो उसके आचरण से समाज का और सबका सच्चा भला ही हो सकता है ।

मानसिक और वैचारिक क्षेत्र में जो द्वन्द और विग्रह हमें परेशान करता

रहता है, जीवन की इस प्रणाली से वह एक साथ कट जाता है। भौतिक दर्शन और आध्यात्मिक दर्शन जो हमें प्रस्तुत प्रश्नों से दूर खींच ले जाते है अपनी खंडितता खो रहते हैं। दलों और व्यक्तियों की पंक्तियों की शक्ति जो काफी इन बौद्धिक विवाद-विग्रहों में व्यय होती रहती है वह बच जाती है। बुद्धि-भेद और शब्दाडंबर के लिए विशेष अवकाश नहीं रहता। प्राण-शक्ति पूरे तौर पर जीवन्त प्रश्नों पर लगाई जा सकती है।

एक महा प्रश्न जो सब के मनों में शेष रह जाता मालूम होता है वह यह कि प्रहार हो तो प्रतिकार क्या हो? प्रहार न करने का धर्म सब जानते हैं और उसका पालन भी सज्जन सहज करते हैं। पर बुराई का स्वभाव है कि वह कभी निष्क्रिय नहीं होती। बुराई की सक्रियता के उत्तर में जो सज्जनता निष्क्रिय रहती आई है, उससे दुनिया परिचित है। दुनिया साथ ही यह भी देखती है कि उससे काम नहीं चलता। गांधीजी के जीवन ने यह बताया कि जो निष्क्रिय है वह सज्जनता ही सच्ची और सही नहीं है।

गांधीजी का यह दान क्रांतिकारी है। दुर्जनता के लिए कोई क्षेत्र समाज में निष्कंटक रह जाय, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। सज्जनता को सर्व-व्याप्त होना चाहिए। दुर्जनता के लिए सज्जनता जिम्मेदार है। अर्थात् हम क्या करें? हमारा क्या दोष है?— यह कहने का हक ही गांधीजी ने जैसे हर सन्त और हर सज्जन से छीन लिया। गांधीजी ने जो दृष्टि दी वह बुराई के लिए भले को निर्दोष नहीं ठहराती। उन्होंने बताया कि भलों का सहारा न हो तो बुराई का यह वश नहीं है कि वह जी सके। फर्क यह है कि भलों को बलिदान का धर्म सीखना होगा। वह भला ही क्या जो भलाई के लिए मरने से डरता है। यह दृष्टि का भ्रम है जो बुराई में ताकत देखता है। वह ताकत हमारे मोह और डर में से बनती है। जो सज्जनता इस तरह बुरे से और बुराई से किनारा ले लेती है वह बुराई को होने का आधार देती और बढ़ने में सहारा होती है। अधिकाँश यही होता है और तब बुराई के प्रहार से बचने के लिए भलाई जो साधन खड़े करती है वह खुद उस बुराई के हाथ के हो आते हैं। यों हिंसा से हिंसा को काटने की कोशिश निष्फल होती है, फिर भी वह चलती जाती है। नागरिक पैसा देकर फौज को पालता है कि वह उसे सुरक्षित रखे। सुरक्षा का सहज मंत्र इस तरह वह सीख नहीं पाता; फ़लतः नक्ली सुरक्षा के साधन-रूप संहारक अस्त्र-शस्त्र बढ़ते जाते हैं और बढ़ते ही जाते हैं। यहां तक कि नागरिकों के मनों से सुरक्षा का भाव ही समाप्त हो जाता है और वे फिर स्वयं हर संकट सहकर सिपाही को सब तरह की सुख-सुविधा

पहुंचाते रहना जरूरी समझने लगते हैं । यहां तक कि कल्याण-कारी राज के पास भी सिवा इसके कोई उपाय नहीं बचता कि सुरक्षा में फौजी खर्च को प्राथमिकता जाय और सैनिक नागरिक से ऊपर आ जाय ।

यह प्रयोग इतिहास में अब तक नहीं हो पाया है कि सेना अनावश्यक हो रहे। किंतु क्या यह यथार्थ नहीं है कि हर नागरिक ही सैनिक है । गांधीजी सैनिक के गुणों को महत्वपूर्ण मानते थे और इसलिए चाहते थे कि हर नागरिक में उन गुणों का विकास हो । दूसरी ओर पेशेवर सैनिक में नागरिकता का सही उदय नहीं होता । अर्थात् सैन्यवाद में गांधीजी समाज की हानि देखते थे । हानि से बढ़कर इसमें एक भारी खतरा भी देखा जा सकता है ।

अच्छी बड़ी अनुशासित सुसज्जित सैना के बिना कोई देश अपनी स्वतंत्रता कैसे कायम रख सकता है, यह कल्पना किसी के आगे स्पष्ट नहीं है । इतिहास भर में इसका उदाहरण नहीं है । इसलिए गांधीजी की इस दृष्टि को मात्र मनोरथ समझा । जा सकता है । फिर भी आज विज्ञान के योग से अस्त्र-शस्त्रों ने जो भीषणता प्राप्त की है उससे अनिवार्य हो गया है कि इस दिशा में जल्दी से जल्दी कोई कोई कारगर प्रयोग हो । यदि नहीं होते हैं तो मानव जाति के अस्तित्व को ही खतरा है और वह खतरा प्रत्यक्ष है ।

स्पष्ट ही यह काम ऊपर से न होगा । फल बीज से उल्टा नहीं हो सकता । इससे यह कार्य नींव से आरम्भ होना होगा । राज्य पर तो रक्षक की ज़िम्मेदारी है, इससे वह प्रयोग के लिए स्वतंत्र नहीं है । देश के जन-मानस से आगे जाने का न उसे वश है, न हक है । लोक-मानस की शिक्षा और लोककर्म की दीक्षा से इस अनुष्ठान का आरम्भ होना है ।

गांधीजी विश्वसस्कृति के इस विकट संकट के ठीक बीच अपने जीवन और मरण से उसी महद् अनुष्ठान को आरम्भ कर गये हैं । निश्चय ही वह दृढ़ आशा लेकर गये हैं कि उनकी कर्मभूमि और प्रयोगभूमि बनने वाला यह भारत-वर्ष वह देश होगा जो उस प्रारंम्भ को फलश्रुति तक पहुँचायगा । जो मूल से अपनी व्यवस्था का इस प्रकार निर्माण करेगा कि एक दिन मानों पदार्थ-पाठ द्वारा प्रत्यक्ष दिखा सके कि सुरक्षा का विधान और उपाय सज्जनोचित भी है और वह अमोघतर होनेवाला है । ●

अहिंसा, प्रजातन्त्र और राष्ट्रवाद

•

आज की उन्नति स्पर्धात्मक है। हर राष्ट्र उन्नत हो रहना चाहता है और सबकी अर्थ-रचना तदनुरूप है। सबकी कोशिश है कि निर्यात बढ़े, आयात की जरूरत घटे। सब मशीन-प्रधान और उद्योग-प्रधान होना चाहते हैं। सबमें मंडियों को पाने और पकड़ने की होड़ है। सबकी अलग मुद्रा है और सबकी व्यापार-नीति स्वार्थ-हित की धुरी पर घूमती है। इस प्रवृत्ति और आवश्यकता के अधीन राजसत्ता को एक बड़े व्यापार तन्त्र के रूप में उठना होता है। यदि मानव सभ्यता का रुख यही रहा, तो प्रजातन्त्र का कोई भविष्य नहीं है। वह प्रणाली शास्त्र में रहे, शायद मुंह पर भी रहे, लेकिन वास्तविकता में उसे झुठलाया जायगा। वर्तमान सभ्यता में दूसरी गति नहीं है।

मानव को सर्वनाश से बचाने की योग्यता नामधारी प्रजातन्त्र में नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, बल्कि उल्टे उससे विनाश को निमन्त्रण मिल सकता है, यदि अनिश्चतता और मन्दता उसका लक्षण बना रहा।

विनाश को वह प्रजातन्त्र रोक सकेगा जो अहिंसा को अपनी निश्चित नीति मानेगा। तदनुरूप अपनी अर्थ-रचना बनायेगा, शस्त्रास्त्र निर्भरता से तत्परिणाम-स्वरूप मुक्त होगा और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बेशर्त (unilateral) नि:शस्त्रता का संकल्प लेकर आगे आयेगा।

हम देखेंगे कि वह प्रजातन्त्र जगत् के समक्ष स्वयं राष्ट्र-राज्य से भी अधिक मानव-राज्य के तन्त्र का नमूना पेश कर आता है। शासन का रूप वहां प्रशासन नहीं, अनुशासन है। वह केंद्रस्थ संकेंद्रित कर्म-एवं-व्यापार-तन्त्र नहीं है, जन-विश्वास के आधार पर स्थित सर्वथा विकेंद्रित नीतितन्त्र है। राज्य मानो वहां केवल अन्तः करण है, लवाजमा नहीं है। ठोस रूप उसका धीरे-धीरे कम होता जाता है; व्याप्त महत्व उसका बढ़ता जाता है। यहां तक कि शासन-मुक्त समाज का रूप उससे क्रमशः प्रकट हो चलता है।

प्रजातन्त्र इस दिशा में विकास पा सके, तब विनाश ही न बचेगा; बल्कि स्वयं

मानवता को परिष्कार प्राप्त होगा। अन्यथा अश्रद्धा बढ़ेगी, श्रद्धा संज्ञा ही टूटेगी और विश्वास फिर शस्त्र-शक्ति के आधार को ढूंढेगा। आधुनिक स्थिति यही दिखा रही है। हिंसा और प्रजातन्त्र दोनों साथ चलते हैं, तो झूठ चलता है। और झूठ चल नहीं सकता। इसलिए एकदम निश्चित है कि अहिंसा को खुली आंखों अपनाने की हिम्मत से और तत्पर आचरण से ही प्रजातन्त्र भावी का तन्त्र हो सकता है। नहीं, तो नहीं।

जो राष्ट्र अहिंसा को अपनाकर अर्थ-स्पर्धा और शस्त्रास्त्र-संवर्धन के मार्ग का त्याग करेगा वह अपने को ही नहीं, साथ सबको भी बचा सकेगा! लेकिन राष्ट्र को अपने पूरेपन में वैसा होना होगा। सिर्फ राजनीतिक आशावाद में से वह घोषणा नहीं आ सकती। उसको अपना अर्थतन्त्र नीचे से उसी प्रकार उठाना और बनाना होगा। आज के अर्थ-जाल में राष्ट्र परस्पर ऐसे अनुबद्ध हैं कि सच पूछिये तो विश्वयुद्ध में तट-स्थ तक कोई नहीं रह सकता!

ऐसा लगता है कि एक नहीं तो सब चूहे मिलकर बिल्ली को जरूर जेर कर सकते हैं! लेकिन सब कभी मिलेंगे नहीं, अगर मिलेंगे और बिल्ली को कभी काबू कर पायेंगे तो तभी, जब सचमुच कोई एक अकेला चूहा बिल्ली के गले में घण्टी बांधने को बढ़ने का साहस दिखायेगा। भय से भी अधिक साहस संक्रामक होता है।

भय संक्रामक होता है, यह हम सब जानते हैं। लेकिन विश्वास और साहस उससे भी संक्रामक होते हैं, यह भी आप हमको जानना चाहिए। तीली एक और नन्हीं-सी होती है, जलकर भस्म होने वाला जंगल बियाबान और भयानक होता है। तीली की आग क्या अपने पर शरमाकर जंगल के भयानकपन से डरी रह जाय? वह नहीं हो पाता और तीली जंगल को जला डालती है। बिल्ली के सामने चूहा जो भी है, भयानक अग्निकाण्ड की घोरता के सामने तो तिनके की सुलग उतनी भी नहीं है… अरे, अणु के जमाने में एक की और अल्प की सम्भावनाओं से हम अनजान बने रहेंगे? उससे मुंह मोड़ेंगे? अब तक शायद यही होता आया है। 'बहुत' का भरोसा किया है, कण को कम समझा है। आइन्स्टीन के सूत्र ने आंखें खोल दी हैं और समष्टि को अणु में ला दिया है। ब्रह्माण्ड में है, वह पिण्ड में भी है। यह सत्य आध्यात्मिक से भौतिक हो गया है। इस अणु के जमाने में यह कहना पुराना लगता है कि एक राष्ट्र अपनी ओर से पहल नहीं कर सकता। पहल एक की ओर से ही होगी। फिर दूसरों को एक-एक कर उस पांत में आना जरूरी बनता जा सकता है।

आज रूस और अमरीका मानों दो छावनियां हैं। शिखर-सम्मेलन हुए हैं और हो रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की चर्चा निरन्तर है। शान्ति दोनों महा-देश चाहते हैं। अणु-शस्त्रों का निष्प्रयोग चाहते है, विसर्जन चाहते हैं। राष्ट्र-नेता दोनों तरफ अच्छे, सच्चे और बहादुर हैं। लेकिन चलते एक-दूसरे की तरफ शर्त के साथ हैं। "हम करते हैं, अगर तुम भी करो" "हम जितना करें, उतना करोगे ?" "तुम करके दिखाओ, तो फिर देखना, हम क्या कर दिखाते हैं !" इत्यादि। मगर यह शर्त के साथ मानना सच्चा मानना नहीं है। वे बहादुर लोग कुछ मानते ही हैं तो क्यों पूरे और खुले तौर पर नहीं मान पाते हैं ? इस अधूरेपन का क्या कारण है ? कारण है कि वे राष्ट्र-नेता हैं। राष्ट्र का प्रतिनिधि ऐसा हो सके, जो मानवता का प्रतिनिधि और मानव-नेता भी हो, तो क्या वह भी शर्त रखेगा ? शर्त किसके साथ रखेगा ? शस्त्र किसके खिलाफ रखेगा ? आज का हमारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र राष्ट्र-प्रतिनिधियों, राष्ट्र-नीतियों और कूटनीतियों का क्षेत्र है। मानव-नीति और मानव-प्रतिनिधि किसी राष्ट्र में, और उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्र में, प्रमुखता पायेगा, तो दृश्य दूसरा दिखाई देगा। पर शायद उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

आकाश में सूरज है। वह मूर्तिमान् अग्नि है। लेकिन सूरज से हमारे काम-काज नहीं होते। उसके लिए अपने पास से चिनगारी प्रकट करनी होती है। उस चिनगारी को पाने के नाना उपाय निकले हैं। सिगरेट-लाइटर सदा जेब में चलता है। वक्त पर चिनगारी दे आता है, बाकी समय जेब में सोया पड़ा रहता है। तो मैं उस चिनगारी की बात ही कर सकता हूं। अपने दर्प को, अहं को, कामना-आकांक्षा को समिधा की तरह हाथ में लेकर ध्येय की आस्था और उसके प्रेम में स्वाहा करते हैं, तो चिनगारी पैदा होती है। मूलतः वह चाहिए। फिर उस जड़ से वृक्ष फूटेगा, जो समूचे राष्ट्रीय और आर्थिक कार्यक्रम को पुष्पित और फलित करता हुआ उठेगा। शेष उसकी विधि और स्वरूप के चित्र के लिए हमारे पास गांधी जी का उदाहरण और साहित्य है ही।

सच यह है कि समूचा वह जीवन-दर्शन भ्रान्त है, जो जीवन-मूल्य को इस तरह प्रस्तुत करता है कि धन जन से बढ़ जाता है, राज्य ऋषि के ऊपर आ जाता है, शक्ति नीति पर हावी हो जाती है। वहाँ औंधापन है, दृष्टि की चूक है और उस राह कभी निस्तार आने वाला नहीं है। कारण, यदि मूल्य-शक्तिमूलक ही रहे होते, तो पशु से मनुष्य बनने की आवश्यकता कभी न होती। पर मनुष्य बना है, तो स्पष्ट है कि उन मूल्यों का विकास राज्य की

दिशा में नहीं, नीति की दिशा में है, और अन्त में राज्य को श्रेष्ठतम नहीं, ऋषि को श्रेष्ठतर माना जाना है।

राष्ट्र का वाद हमें उस दिशा में बढ़ने से रोकता है, वह वाद नीति को राज्यगत कर देता है। इसलिए वह राष्ट्र विश्व-व्यवस्था के सही विकास में साधक होगा, जो अपने सत्व और स्वत्व को सांस्कृतिक और मानवीय स्वरूप देकर उस आधार पर सर्वथा निःशस्त्र बनेगा, जो अपने भीतर सर्वथा समभावमूलक अर्थ रचना और समाज रचना उठाकर विश्व की राजनीति के आंगन में आयेगा। वह राष्ट्र होगा, जो अपने लिए बोलते समय सारी मानव जाति के लिये बोल रहा होगा और उसका स्वार्थ केवल परमार्थ में अपनी आहुति दे जाना होगा।

मेरी प्रतीति है कि गांधी भारत की राष्ट्रीयता को वही संस्कार दे रहे थे और उस राष्ट्र-सत्ता से फिर वे मानवता की एकता के अभिक्रम की आशा रखते थे। उनको निश्चय था कि निःशस्त्रता का आरम्भ यहां से होगा और भय-संशय का चक्र इस आत्म-निर्भीकता से टूटेगा।

जाहिर है कि इस दृष्टि से राष्ट्र की एक अविरोधी और पूरक भावना हमको प्राप्त होती है। उसको लेकर रक्षा की पांत जरूरी नहीं रह जाती और सीमा रेखा नक़शे की सुविधा ही देती है, मनों को फाड़ने की शक्ति खो देती है।

व्यक्ति को मारकर भी व्यक्तिवाद को बचाया जा सकता है। आखिर प्रेम सम्भव तभी होता है, जब हममें स्व का भाव है। वह भाव ही जब अभाव बन जाता है, कष्ट दे आता है, थोड़ा सूना और एकाकी-सा मालूम होता है, तब स्व का अभिमान ही भार हो जाता है, स्व के अर्पण की इच्छा होती है और पर के प्रति आत्म निवेदन में तृप्ति और पूर्ति प्रतीत होती है। व्यक्ति के होने का अन्त में यही समर्थन है कि इसी प्रकार वह प्रेम की अनुभूति को पाता और व्याप्त होता है। राष्ट्र का राष्ट्रत्व, जैसे कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, आत्मार्पण में से और समृद्ध और सम्पन्न बनेगा। स्व को लेकर, अभिमान और अहंकार को लेकर, जो हम चेष्टाएं करते हैं, वे आखिर अल्हड़पन की समझी जाती हैं। राष्ट्र को लेकर राष्ट्रवादी अभिमान उसी तरह का अल्हड़पन है। राष्ट्रभावना यदि सचमुच परिपक्व होगी तो दर्प की जगह वहां दायित्व दिखाई देगा और शेखी का स्थान नम्रता लेगी।

आज भारत का एक विधान है और एक शासन है। लेकिन क्या कभी पहले यह सुविधा इतिहास में भारतवर्ष के पास हो सकी है? राजनीतिक

दृष्टि से शायद ही कभी भारत एक और अखण्ड रहा है। लेकिन इतिहासकार बतलाते हैं कि आज दुनिया में कोई संस्कृति जीवित है और अपनी परम्परा से अविच्छिन्न है, तो वह भारतीय है। वह कौन भारत है, जो हजारों हजार वर्षों से अटूट और एक बना चला आया है ? जिसके अन्दर निरन्तर टूट-फूट, युद्ध विग्रह होते रहे हैं, फिर भी जो समूचेपन में अडिग और अचल बना रहा है, जो सतत है सनातन है, वह भारत क्या है ? भारत का वह धर्म क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में किसी पुस्तक, विधान या व्यक्ति का उल्लेख नहीं किया जा सकता है। किसी ने उस भारत को बाहर से या ऊपर से एक बनाकर नहीं रखा है। वैसा होता तो एकता छिन्न-भिन्न हो गयी होती, अजस्र नहीं रह पाती। निरन्तर जो वह एकता प्राणवान् और प्रवहमान रही, तो इस कारण कि वह भीतर से आत्मिक गुण की तरह मानव-नीति के रूप में, सहज धर्म के रूप में, स्वीकृत, रचित और अंगीकृत होती चली गयी थी। भारत का भाव आदिकाल से, लगभग अनादि-काल से, लोगों को मनों में अनुभूत और प्राप्त बना रहा, राज्य के रूप में उसे मूर्त देखने की निर्भरता कोई नहीं रही। राज्यों की नीति यहां भी और देशों की तरह खुलकर राजों को आपस में लड़ाती-भिड़ाती रही, मारकाट मचाती और खून खराबा करवाती रही। लेकिन अपनी सनातन धर्म-नीति के अवलम्बन के कारण भारतीयता का कुछ नहीं बिगड़ा। वह अक्षुण्ण बनी चली गयी।

इसलिए यह बात कि राष्ट्र होंगे तो राष्ट्रवाद होंगे, और वे सब वाद होंगे तो विग्रह अवश्य होगा, इतिनिश्चित रूप में मुझे मान्य नहीं है। वादों की स्पृहा और स्पर्धा होने पर विग्रह और युद्ध को टाला नहीं जा सकेगा, यह तो समझ में आता है। पर राष्ट्र अपना एक अलग दम्भ और दर्प पैदा करके उस सहारे ही जीने का उपाय मानते रहेंगे, यह अनिवार्य नहीं जान पड़ता। अल्हड़पन की उमर बीतेगी, तब उत्पात से मन भर जायगा। आंखों में नमी आयेगी और मन में प्रेम फूटेगा। तब उच्छूंखलता की जगह चलन में मर्यादा और शील का प्रवेश होगा। स्वत्व की सार्थकता तब हमें प्रणय और परिणय में जान पड़ेगी। स्पर्द्धा जिनमें है, उन्हीं में परस्परता फूटे और जागेगी। यह मैं सम्भव ही नहीं अनिवार्य मानता हूं। अनिवार्य अपने और सबके इस अनुभव के आधार पर मानता हूं कि स्वत्व को हम सब ही बढ़ाते हैं, बढ़ाते जाते हैं उस हद तक कि जब वह स्वयं व्यर्थ दीख आये और उस सबको किसी के चरणों में निछावर करने का अर्थ ही सार्थक सिद्ध हो आए ! वही स्वार्थ जान पड़े, वही परमार्थ जान पड़े, शेष अर्थ सब कहीं से सर्वथा लुप्त हो जायें ! यह क्षण सबके जीवन में

आता है। राष्ट्रों के जीवनों में भी आये बिना न रहेगा। हो नहीं सकता कि विधाता व्यर्थ हो, विधान व्यर्थ हो और जीवन चलते-चलते प्रेम की गंगा के कूल तक न पहुंच जाय। यही राष्ट्रवाद की वह वयसक अवस्था होगी, जब सिर तानने की जगह वह सिर झुकायेगा। और अपने और दूसरे के बीच के अन्तर पर सुरक्षा की फौज नहीं रखेगा, बल्कि आलिंगन में दोनों ओर की बढ़ी हुई बांहों के बीच फौज लाज में गलकर एकदम शून्य हो जायगी।

सपना नहीं है यह, बल्कि अवश्यंभाविता है। ठीक आज के दिन कांगो की समस्या है और भारत के प्रधान मन्त्री नेहरू ने समर्थन दिया है कि एक भी बेल्जियन कांगो में न रहने दिया जाय। लेकिन इन्हीं नेहरू ने अंग्रजों को राज्य और साम्राज्य के हटने के बाद अंग्रेज सज्जन लार्ड माउंटबेटन को भारत के पहले गवर्नर जनरल के तौर पर रखना प्रिय माना था। कारण थे इसमें गांधी, और गांधी-नीति आसमान में नहीं, ठेठ राजकारण में चली थी, क्योंकि व्यावहारिक थी। आगे की दुनिया की राजनीति जैसे-जैसे कच्ची से अवस्था में पकती और समझ अपनाती जायगी, गांधी-नीति की व्यावहारिकता देख सकेगी और उसको अमल में लेना और उतारना चाहेगी।

उस नीति और उस दृष्टि में व्यक्ति अपने को परिवार के हित में, परिवार को समाज के हित में, समाज को देश के हित में, देश को विश्व के हित में आहुति देने में अपनी उन्नति देखेगा। तब एक की उन्नति दूसरे की अवनति पर खड़ी होकर मुस्कराना भूल जायगी; बल्कि इस कृत्य पर शर्म खायेगी और दूसरे की उन्नति में ही अपनी उन्नति देखेगी। ऐसा राष्ट्रवाद, हो सकता है, आगे होगा। अगर नहीं हो सकेगा, तो मान लेना होगा कि मानव पशु से अलग और विशिष्ट नहीं है और भविष्य जैसा भी कुछ नहीं है। सब ईमान से ही तब हाथ धो लेना पड़ेगा। ●

अहिंसा और सर्वोदय : एक विश्लेषण

●

गांधी जी के बाद सेवाग्राम में जो पहला सरर्वोदय सम्मेलन भरा था, उसके परिणाम पर मुझे आश्वासन नहीं हुआ। सच्चा आश्वासन तो भीतर से आता है, अपने धर्म पालन में से आता है। इसलिए कारण यही रहा होगा कि मैं अपने धर्म में चूक रहा था। पर प्रतीत हुआ कि मैं औरों के साथ हूं, और हमारा सारा समुदाय ही चूका है। जो बड़ी चुनौती है, उसका पूरा सामना करने से जरा हम किनारा ले गये हैं।

तभी स्वराज्य मिला था और हिन्दुस्तान का बंटवारा हुआ था। स्वराज्य को कांग्रेस ने अपना राज्य करके संभाला था और बंटवारे को उस कांग्रेस ने मंजूर किया था। ऐसे एक के दो देश बने थे और मालूम होता था कि सरकारें ही दो नहीं बनी हैं, बल्कि दिल भी दो हो गये हैं। और उन दोनों दिलों के बीच में शक है और डर है। स्वराज्य अहिंसा से मिला हो, पर बंटवारे में अहिंसा नहीं थी। इससे जायदाद का बंटवारा करने के बाद दोनों मनों में कोई मेल नहीं बढ़ा, बल्कि आग फूटी और जलन बढ़ती चली गई। वह कांड मचा जिसकी याद भी थर्रा देती है। विस्थापितों को पुन: स्थापित करने की समस्या दोनों हकूमतों के सिर आई। उस बोझ के तले दोनों देशों की अर्थ नीति डगमगायी रही। दोनों की रगड़ कायमी हो गई। उसके नतीजों से अब भी कोई देश स्वस्थ नहीं हो पाया है। दोनों की विदेश नीति पर इसका पूरा प्रभाव है। सरकारी तल पर ही नहीं सारी हवा में उसके कीटाणु हैं। साम्प्रदायिकता इरादों में न हो, चेतना और भावना में व्यापी है। मानो पाकिस्तान मुस्लिम राज्य है, तो हिन्दुस्तान हिन्दू राज्य होने के लिए ही रह गया है ! हमारी गृह-नीति, व्यवहार-नीति, मानो सबमें यह भाव बसा है। इसे स्वास्थ्य नहीं कह सकते। सच्ची नागरिक दृष्टि से यह अस्वस्थ स्थिति है। क्या यह अस्वास्थ्य कभी मिटेगा ? और कैसे वह मिटेगा ?

सेवाग्राम के सर्वोदय सम्मेलन में से, जान पड़ा, इसका उत्तर नहीं आ रहा है। शायद इस सवाल की चुनौती की अनुभूति ही वहाँ न थी।

गांधी जा के नेतृत्व में देश ने लड़ाई लड़ी और स्वराज्य हासिल किया, लेकिन वह युद्ध और तरह का था। मालूम होता था कि राजनीतिक स्वराज्य लेने तक उसके आशय की समाप्ति न थी, बल्कि उसमें गहरा अभिप्राय था। वह एक नया रास्ता था, जो नये इतिहास को जन्म देगा और बढ़ते बढ़ते दुनिया की काया पलट करने में समर्थ होगा। उसमें हिंसा को जो तरह-तरह के शोषण के रूप में हमारे बीच में चुपचाप फैली हुई है और जो फिर रह-रह कर ललकार के साथ युद्ध के तांडव का रूप लेती रहती है, उस हिंसा को अहिंसा से खत्म करने का तरीका हाथ आने वाला है।

तत्त्वज्ञ तटस्थ रह सकता है, धार्मिक सह सकता है। गांधीजी की प्रकृति में और नेतृत्व में दोनों बातें न थीं। उनकी अनासक्ति और सहिष्णुता अपनी तरह की अलग थी। उसमें प्रतिकार और सत्याग्रह का पूरा अवकाश था। इसलिए अनासक्ति पूरी अनुरक्त हो सकती थी और सहिष्णुता असह्य हो सकती थी। मानो उनकी अहिंसा विकल रहती थी कि हिंसा की लपटों के सामने पहुंचे और कहे कि लो मुझे खा लो, नहीं तो मैं तुम्हें पानी करने आई हूँ।

सवाल है कि क्या अहिंसा में वह ताकत है? वह दृष्टि है? वह अदम्यता है?

यदि नहीं है, तो वह चीज अच्छी है, पर अन्याय, अत्याचार के खिलाफ काम देने वाली नहीं है। इसलिए अन्याय को अन्याय से मिटाने, जंग से जंग खत्म करने, ताकत को ताकत से और इन्सान को हैवान से जेर करने की परम्परा से वह हमें उबार नहीं सकती। कमजोर को वह इस अर्थ में ही मदद कर सकती है कि पहले उसे कायर बनाये और उस रास्ते शायद धनवान् भी बनादे! पर बलवान् और बहादुर नहीं बना सकती।

गांधी जी ने कहा, चरखा। मगर चरखा पहले भी था। ढाके की मलमल मशहूर थी। पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने सिक्के के चलन के जोर से उस चरखे को मिटा दिया। क्या गांधी जी का चरखा भी वही था, जो सिक्के के आगे झुक जाये और टूट जाये? मेरे ख्याल में वह दूसरा था। वह चरखा था जो सिक्के को ताकत दे, नहीं तो सिक्का उसके बिना डूब आये। उन्होंने देखा और दिखाया कि ताकत वहाँ नहीं, जहाँ हुकूमत का किला है और सिक्के की टकसाल है। बल्कि वहाँ है, जहाँ आदमी पसीना डालता और कुछ उगाता बनाता है। लोग वे गलत समझते हैं, जो मानते हैं कि गांधी बीते पुराने युग को लाना चाहते थे। युग वह नया होने वाला है, और सच्चे

भविष्य का वही होगा, जहाँ श्रम स्वाधीन होगा और सिक्का आदमी को, उसकी बुद्धि को, श्रम को और उसकी काया को बेच-खरीद नहीं सकेगा। ताकत आदमी के अपने पास आ जायेगी, हथियारों में वह टंगी न रहेगी। आदमी का अहंकार नहीं (जो दूसरे को दबाता है,) बल्कि उसकी सेवा (जो दूसरे को उठाती है) ताकत समझी जायेगी।

तो गांधी की थी अहिंसा सत्य के साथ। सत्य का आग्रह अनिवार्य था और उसमें असत्य का प्रतिकार अनिवार्य था। अहिंसा इसमें साधन थी। वह स्वतंत्र और निरपेक्ष धर्म न थी, सत्य की उपलब्धि में एकमात्र अपरिहार्य साधन के रूप में उसकी उपयोगिता थी। मात्र अहिंसा सत्य के आग्रह के अभाव में अवसरवादिता हो जा सकती है। तब वह मुक्ति धर्म से अधिक संसार-धर्म बन जाती है। प्रबल के अस्त्र की जगह यह निर्बल की ढाल बन सकती है। ऐसी अहिंसा सचमुच आगे बढ़ाने के बजाय हमें पीछे खींचने वाली हो रहेगी।

तो मुझे प्रतीत हुआ कि रचनात्मक कार्य सब जिसके लिये हैं, उस मूल हेतु की लगन हमारे बीच से कुछ बुझती तो नहीं जा रही है। उन कामों की अनेकता अपने आशय की एकता को खोये तो नहीं दे रही है ? यह जो लाख-करोड़ आदमी उखड़ कर इधर से उधर फिक गये हैं, उस ओर से कहीं एकदम निश्चितता तो हम में नहीं है ?

पन्द्रह अगस्त को जब दिल्ली में रोशनियाँ जगमगा रही थीं और जल से और जश्न का जलूस था, गांधी दूर गांव में आप अकेले पांव-पांव घूम रहे थे। उनकी छाती पर एक राष्ट्र दो बने थे, वे जो कि दो को, सबको, एक चाहते थे। पर उन्होंने ढ़ारस नहीं खोया, मानो अपने से कहा कि 'हुकूमतें तो बना बिगड़ा करती ही हैं; और दो हुकूमतें ही हुई हैं, दिल दो नहीं हो गये हैं और नहीं हो पायेंगे।' और जो लोग उखड़ कर आये थे और गुस्से और बदले के भाव से भरे थे, उन्हें उन्होंने ललकारा कि तुम्हें हक नही है कि सोचो कि जहां से आये हो, वह जगह तुम्हरी नहीं है ! मैं एक-एक से जाकर पूछने वाला हूँ कि बताओ, यह कहां का न्याय है, कहां का कानून है कि अमुक मत का मानने वाला तुम्हारा पड़ोसी नहीं बन सकेगा ? और अगर यह कानून कहीं भी इन्सान का नहीं है—हैवान का फिर चाहे हो—तो क्या यह जिम्मेदारी तुम पर ही नहीं आती कि कल जो पड़ोसी था, वह फिर लौट कर आये और तुम दोनों साथ बसो और सीखो कि पड़ोसी होना किसे कहते हैं ? यह वेदना और यह अरमान भीतर लिये गांधीजी अलख जगाये रहे। टेक उन्होंने नहीं छोड़ी

कि परमेश्वर है और वह घट-घट में है। आखिर इस रट में अपने एक देश-भाई और धर्म-भाई की गोली खाकर वह शांत हो गये।

गांधी जी अथक कर्म के आदमी थे और राजनीति उनके चारों ओर आ जुटी थी। वह परमनिष्ठा के आदमी थे और निष्ठावान साधकों का समूह उनके आस-पास आ जमा था। उनके अभाव में उस राजनीति का उत्तराधिकार प्रखरकर्मी जवाहरलाल नेहरू पर आया। नैष्ठिक साधकों के लिये अखंड संत विनोबा केंद्ररूप हो गये। यह तो होना ही था। पर ऐसा लगा कि वह समग्र दर्द जो कभी गांधी को लंदन के राज-भवन और कभी हिन्दुस्तान के निपट देहात में ले जाता था, यह दर्द क्या कहीं किसी में निधि बन कर बैठ न सकेगा, अशरीरी ही वायु में मंडराता फिरेगा?

बीच में इच्छा हुई कि एक नेहरू-विनोबा धुरी यदि व्यवहार में सक्रिय होकर सामने आये तो क्या गांधी के अभाव की अंशत: पूर्ति का उपाय न हो जायेगा? पर मिलाता तो दर्द है। उसके बिना यों कर्म और तत्त्व में सामान्यतः द्वैत बना ही रहता है।

बात यह कि जमाना बदल रहा है। गति द्रुत है। दुनिया छोटी पड़ रही है। मालूम होता है कि आदमी अधिक काल बिखरा न रहेगा। न देश-प्रांत उसे बांट रख सकेंगे, न अंतर्वृत्तियां उसे सदा फाड़े रखेंगी। इसलिये जीवन के मान तेजी से बदल रहे हैं और मालूम होता है कि तीक्ष्ण विरोधों में भी सामंजस्य साधना अनिवार्य हो गया है।

पहले जमघट इतना न था। खुलासा लोग रहते थे। निकट आकर वे परस्पर ज्यादा रगड़ न खाते थे। इससे एक प्रकार का स्नेह बीच में विद्यमान बना रहता था। हिसाब की बीच में इतनी जरूरत न पड़ती थी और सद्-भावना पर इतना जोर न पड़ता था, वह टिके चली जाती थी। पर शहर उठे कि जहां आदमी फैल कर न बस सकता था, एक-दूसरे के ऊपर, मानो अधर में तल्लों में बसने को मजबूर था। ऐसे नीचे अंधेरी गलियां बन आयीं और सील से सड़ी नालियां। लाखों-लाख आदमी छत्ते के मानिंद थोड़ी सी जगह में भनभनाते से आ इकट्ठे हुये। उस समय जान पड़ा कि भक्ति-भावना का धर्म अशक्य हो रहा है। बेहद निकट होकर आपस की रगड़ में जो लोग आ रहे हैं तो इसमें पड़ोसी दोस्त से अजनबी और अजनबी से दुश्मन बनता जा रहा है। सम्बन्ध निर्वैयक्तिक हुए जा रहे हैं। वे पारस्परिक से ज्यादा सामूहिक और श्रेणीगत बने जा रहे हैं। पारिवारिकता बीच से उठी जा रही है और नागरिकता उदय में आ रही है। हार्दिकता के लिये कम अवकाश है

और हिसाब का बीच में आना आवश्यक है। मालूम हुआ कि आदमी और आदमी के बीच में भगवान् हो कि न हो, पर स्टेट अवश्य है। उसीके कानून और अदालत वगैरह की सहायता से आपा-धापी रुक पाती और व्यवस्था रह पाती है। आदमी समूह में होकर निजता से जितना छूटने को बाध्य हो रहा है, उतनी ही विवशता से वह उस निजता को कवच की भाँति चिपटे-लिपटाये घूम रहा है। दूसरे से डरा सहमा सा रहता है कि कब अवसर पाकर वही उस पर भारी और हावी हो आये। इसमें राजनीति खूब फूल रही और फल रही है और आपस का सौमनस्य सूखता और ठिठुरता जा रहा है।

यह आँखों देखे हो रहा है। अब आदमी-आदमी के बीच में कागज और लिखा पढ़ी है। दस्तावेज रख कर आदमी अपने को सुरक्षित समझता है। नहीं तो भावना पर आश्रित निराश्रित हो आता है। दफ्तरों और लाल फीतों की यही उपयोगिता है। मानो आपसी सम्बन्धों की कुंजी उन कागजों में हो। एक दफ्तर अपने आस-पास अनेकों, अनगिनतियों, को और अनेक पारस्परिक सम्बन्धों को अपने आवर्त में कसा रख सकता है।

इस स्थिति से अरुचि जतलाने का कोई लाभ नहीं है। निंदा और शिकायत अपनी असमर्थता का समर्थन है। उससे कुछ भी होने वाला नहीं है, सिर्फ उच्छ्वास का अपव्यय होगा। करना स्थिति का सामना है। नहीं कहा जा सकता कि मानव-जाति ने अपनी प्रगति की राह में ही यह स्थिति प्राप्त नहीं कर ली है। विकास यदि अवश्यंभावी और अनिवार्य है तो वर्तमान के स्वीकार पर ही भविष्य के निर्माण के मार्ग को बनना है। इससे अलग किसी क्रान्ति-भ्रांति की बात भोली भावुकता हो सकती है।

इसलिये मेरा मानना है कि मुख्य प्रश्न भक्ति और हिसाब का, धर्म और विज्ञान का योग है। भक्ति एकता की आराधना है, हिसाब में अनेकता का सत्कार है। अनेकता को मिटाकर कोई एकता आने वाली नहीं है। अनेक का इन्कार खुद एक-एक का इन्कार हो जायेगा। इसलिये भावना को हिसाब से व्यवस्थित रखना होगा। बेहिसाब भावना कुछ क्षण के लिये कुछ व्यक्तियों को चैन दे सकती है, संकट का निराकरण नहीं कर सकती। इसलिये अर्थनीति के संस्कार का प्रश्न आध्यात्मिक प्रश्न है और राजनीति अध्यात्म से अछूती रह कर जंजाल ही रचने वाली है।

गांधी जी का सदा कर्त्तव्य और भावना पर बल रहा है। किन्तु इससे उन्होंने क्षमता प्राप्त की कि जहाँ अधिकारों की रगड़ और उनका संघर्ष है वहां उन अधिकारों को निर्मम और निरासक्त भाव से देख-परख सकें। हिसाव

पर बारीक निगाह रखी और एक के अधिकार को दूसरे के अधिकार पर भारी होने से बचाने की सूझ-बूझ उनमें इसलिये जगी रही कि उनके स्पर्श के नीचे से कानून की नब्ज कभी न हट पायी। अध्यात्म इसीलिये उनसे इतना अधिक व्यवहार में उतर सका। चरखा उन्हें अहिंसा का प्रतीक था, लेकिन उनका आग्रह था कि कता सूत तार-तार गिना जाये और अंत तक उसका हिसाब रखा जाये।

कठिनाई यह है कि ये दो तट अलग रखे जाते हैं। हिसाब मानो स्वार्थ के हाथ हो गया है और परमार्थ के हाथ केवल भावुक बेहिसाबीपन रह गया है। इस तरह धर्म की संस्थाएं और उस प्रकार के आन्दोलन अधिकांश मुनाफावृत्ति के हाथ हो रहते हैं और वह वृत्ति स्थापित स्वार्थ से अटकी रहती है, जब कि राजनीतिक संगठनों का कार्य प्रार्थनाहीन और ईश्वरहीन भाव से करना आवश्यक समझा जाता है।

यह भेद और इनमें आवश्यक अभेद एक उदाहरण से स्पष्ट होगा। भारत कृषि प्रधान देश है। गोरक्षा और गोसंवर्धन का कर्त्तव्य असंदिग्ध भाव से यहाँ के लिये प्रथम उपयोगिता का है। पर भावुक उसके लिये प्रस्ताव करते या पिंजरापोल खोलते हैं। गांधी जी ने कहा कि मुर्दार चमड़े को बनाना सीखो और उसके कारखाने खोलो और महंगे से महंगे भाव क्यों न हो, सिर्फ गाय का घी उपयोग में लाने का प्रण लो। इस उदाहरण में एक तरफ भाषा है, दूसरी तरफ भावना को अर्थ के तल पर लाने की उत्कट बौद्धिक लगन भी है।

यह जो पृथक्करण द्वारा मूल तत्व की भिन्नता और फिर उसके भी पार जा कर अंतिम अभिन्नता के दर्शन की चेष्टा है, इसे वैज्ञानिक कहा जाता है और धार्मिक नहीं माना जाता। पर वह कम धार्मिक नहीं है। बल्कि संपूर्ण धार्मिकता के लिये विज्ञान की वह शोध-और-प्रयोग-वृत्ति होना आवश्यक है।

अर्थ-नीति को हम परमार्थ-नीति इसी तरह बना सकते हैं। सिक्के की भाषा में और उसी इकाई में चल कर अर्थनीति स्वार्थ नीति बनी हुई है। देखते ही हैं कि उससे आदमी क्षय पाता है और मानव सम्बन्ध क्षीण होते हैं। उस हिसाब को हम आंकिक से मानवीय बनाने का प्रयत्न कर सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति ने, जो काम में निपुण और सावधान है, दिन में सात घण्टे लगकर सूत काता। मानिये कि शरीर धारणा के लिये प्रति व्यक्ति प्रतिदिन दस आना जरूरी है। तो दस आना कत्तिन की कम से कम मजदूरी तय हुई। इस हिसाब से मान लीजिये, खद्दर ढाई रुपया फी गज पड़ता है। दूसरा कपड़ा

मशीन का उसी सफाई और मजबूती का मानिये बारह आने फी गज आ जाता है। नये हिसाब से हम कहेंगे कि कपड़े के ढाई रुपये दाम सही हैं और बारह आने महंगे हैं।

गांधी ने मोटा टाट सा खद्दर अच्छों-अच्छों को पहना दिया। यह चमत्कार अर्थदृष्टि में स्वार्थ की जगह परमार्थ डालने की सफलता में से सिद्ध हुआ। इस पद्धति से श्रम के पास पहुंचा पैसा हक का हो जाता है, उपकार का नहीं रहता। यों कहना चाहिये कि अर्थ की प्रणाली ऐसे उलटी चल निकल सकती है और उस दृष्टि और पद्धति का विकास यहाँ तक हो सकता है कि किसी उद्योग में श्रम डालने वाला अपने को उसका अधिक मालिक समझे और पूंजी डालने वाला अपने को उतना सत्तावान न मान पाये।

अर्थनीति से निरपेक्ष चलने वाले धार्मिक अथवा नैतिक आन्दोलन इसीलिये तनिक सद्भाव उत्पन्न करके कृतार्थ से हुये जान पड़ते हैं; वे सामाजिक क्रान्ति का सा वातावरण उत्पन्न नहीं करते। सामाजिक क्रान्ति का मतलब है कि हीन अपने को समर्थ अनुभव करे, दीन का दैन्य छूट जाये और आदमी स्वेच्छा से काम करे, बिक कर या बेचने के लिये मेहनत न करे। तब सद्भाव उपदेश की या अतिरिक्त भलाई की चीज नहीं रह जायेगा, बल्कि वह लोक शक्ति के रूप में समस्त उत्पादन की प्रेरणा बन रहेगा। उसमें अमित बल होगा। उसके उपयोग से समाज का रूप ही दूसरा हो जायेगा। अफसरी जैसी चीज हमारे बीच से अनावश्यक हो जायेगी और श्रम पर से व्यवस्था-व्यय का भारी बोझ बचेगा : श्रम नीचे से ही व्यवस्थित होगा। बड़ा आदमी होने के लिये उसका सब तरफ से आराम से घिरा रहना जरूरी न होगा, बल्कि खेत में काम करता हुआ भी वह बड़ा समझा जा सकेगा और बड़े-बड़े काम सहज भाव से निपटाता रह सकेगा।

यह जो शस्त्र बल द्वारा संगठित सत्ता है, जो साधारणतया विधान के नीचे रहती और पांच-सात साल में आम चुनाव द्वारा आसन पर चुनी जाया करती है, आमतौर पर आदमी उसके रौब और डर में रहता है। वह खुद उसे चुनने वाला है, यह बार-बार उसे किताब से और प्रचार से बताया जाता है, पर अपनी हर सांस से वह इससे उलटी बात ही सीखता है। हर कदम पर वह अनुभव करता है कि वह प्रजा है और उसके ऊपर वे सब राजा लोग हैं, जिनको इसीलिये ऊँचा वेतन मिलता है कि वे हाकिमपने से अतिरिक्त दूसरी कोई और मेहनत न करें। चुनाव होने से राजव्यवस्था लोकतन्त्र कहलाती है, पर सिर्फ उस चुनाव से लोकतन्त्र का मतलब कितना पूरा होता है, यह देखने

की बात है । हाँ, उससे आदमी का सुख-दुख राज्य से ऐसा बंध गया है कि उसके कानून की तरफ पीठ करके सारा सामना राम के नाम और जाप को ही देना और आशा करना कि राम-राज्य ऐसे आयेगा, काफी नहीं है ।

तो जो कार्रवाई राम की नीति की तरफ ले जाने वाली न हो, साफ तौर पर रावणपने से भरी हो, उसके लिये क्या किया जाये ? यों आदमी तो कोई रावण होता नहीं, रावण तो प्रतीक है । यानी किसी आदमी का स्वभाव अपने से रावणपने का नहीं होता । पर सवाल होता है कि रावणपने का प्रतिकार करना कि नहीं करना, और करना तो कैसे करना ?

यहाँ जान पड़ता है कि भावुकता जो हिसाब को हिसाब में नहीं लेती एकांगी है । अहिंसा, जो हिंसा से केवल विमुखता लेती है और उस पर भारी नहीं पड़ती है, नीति-धर्म जो अर्थनीति पर संशोधन के रूप में आकर नहीं पड़ता, आंदोलन जो प्रतिकार से किनारा लिये चलता है, सत्य जो विसर्जन नहीं मांगता और इसलिये जिस पर आग्रह की भी जरूरत नहीं है, ये सब भी एकांगी हैं और जीवन को संश्लिष्ट समग्र नहीं करते ।

शायद इस समग्रता के लिये समग्र दर्द की प्रेरणा चाहिये । विचार में से प्राप्त होने वाली शायद वह वस्तु नहीं है । यह विरह वेदना तो स्वयं भगवत् कृपा से ही भक्त को प्राप्त होती है । अच्छा है, हम-आप सब इसकी इच्छा करें ।

नहीं जानता कि ऊपर मैं क्या कुछ कहता चला गया हूँ, कि कितना वह काम का है या काम का नहीं है । भूदान-यज्ञ का उसमें कहीं जिकर नहीं है, जो आज का प्रमुख आन्दोलन है । वह जिकर जानबूझ कर नहीं है, क्योंकि उसके गहरे में मैं उतरा नहीं हूँ । पर मैं क्या इतना इंसुलेटेड् (लिपटा और बन्द) हूँ कि बिजली हो और मुझे न छुए ! लगता है कि भूदान में असत् प्रतिकार के सक्रिय तत्व कुछ और अधिक हों, तो रही सही कमी पूरी हो जाये । तब देश भर में एक लहर दौड़ जाये और दूसरे मुल्कों को भी वे संभावनायें चमक कर दीख आयें, जो उसके गहरे में पड़ी हो सकती हैं । ●

स्वतन्त्र भारत की अर्थ-नीति और गांधी

●

···मुद्रा व्यवहार का माध्यम है। धन की गणना उससे होती है। अर्थतः धन उसे ही कहिए। अब बड़े कामों के लिए बड़े धन की आवश्यकता होगी ही। उस धन को या तो धनिक के मन के योग के साथ हम लेते हैं, या कानून के जोर से मन के बावजूद लेते हैं। मन के साथ हम ले नहीं पाये, और रूस की तरह राज्य के कानून से लेने का उपाय अपने वश का और विवेक का नहीं दिखाई दिया!

रूस ने क्रांति के बाद जो भोगा है, वह कुछ कम कटु अनुभव नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि इस अनुभव-प्राप्त दीक्षा के बाद अब यदि दूसरी क्रान्ति का अवसर आये, तो उसका प्रकार वहाँ दूसरा होगा। अक्तूबर क्रान्ति के तत्काल बाद राज-शक्ति और राज-दंड के जोर से काम कराने और करने की मजबूरी में से अनेक संकट मार्ग में पैदा हुए और प्रभूत मानव-रक्त बहाते हुए क्रान्ति को आगे बढ़ना पड़ा। भारत यदि उस राह नहीं चला है, तो यही नहीं कि अफसोस की बात नहीं है, बल्कि बधाई की बात हो सकती है।

गांधी की अहिंसा ही इसमें कारण हुई। लेकिन गांधी की अहिंसा इसलिए कारण बन सकी कि भारतीय रक्त और मानस में से उसको सीधी स्वीकृति और आत्मध्वनि प्राप्त होती गयी। अवश्य वह अहिंसा की नीति अदूरदर्शी और कल्पना-शून्य सिद्ध होगी, अगर हमको हिंसा में से त्राण दिखाई देने लगेगा। दुनिया के बढ़े हुए देशों के उदाहरण से तो यह लगता है कि हिंसा में से श्रद्धा उठ जानेवाली है और उसमें से किसी सुरक्षा या त्राण के आने की कल्पना एकदम मिथ्या कल्पना सिद्ध होनेवाली है। किन्तु भारत जो उतना अभी आगे बढ़ा हुआ नहीं है, शायद समय से कुछ पीछे चल सकता और अब भी यह माने रख सकता है कि हिंसक उपायों का अवलम्बन और उसमें सहायक होनेवाली अर्थ-रचना ही उसके लिए उपयोगी होगी। लेकिन मुझसे पूछिये तो मैं इसको अदूरदर्शी और कल्पनाहीन मनोदशा मानता हूँ।

यदि हम अपने दृष्टिकोण को वही रख सकें, जो स्वराज्य से पूर्व था

और जो भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण है, तो अपनी परम्परा पर हमें खेद नहीं होगा, बल्कि गौरव हो सकेगा। और हम उस निश्चित श्रद्धा के आधार पर वह मनोभाव भी पैदा कर सकेंगे, जिसमें जनता का पूरा श्रम और पूरा धन राष्ट्र-निर्माण के लिए बह निकले। राज्य के बल से यह काम कभी हुआ नहीं है और हुआ है तो अधूरा ही हो पाया है। इसके अलावा यह भी आवश्यक होता रहा है कि रुकावटों को हम तलवार से काटकर दूर करें और इस तरह अपने ही बीच एक अन्तर्विग्रह की परिस्थिति उत्पन्न किये रहें। जनता में राज्य के लिए स्वार्पणभाव यदि हो सके तो कठिनाई दूर हो जाती है। लेकिन यह विसर्जन-भाव तब तक नहीं आ सकता, जब तक राज्य के स्तर पर भी विसर्जन के मूल्य की ही प्रतिष्ठा न हो। स्वराज्य से पहले एक महद्-भाव ने देश का काया-पलट कर दिया था। तब मौत के साथ खेलने में जीवन सार्थक होता जान पड़ता था। आज वह सब यदि भूली कहानी बन गयी है, तो इसलिए कि स्वराज्य के बाद समाज का और जीवन का मूल्य बदल गया है। विसर्जन और समर्पण मूल्य नहीं रह गया है, बल्कि पद-प्रतिष्ठान मूल्य बन गया है। तब जीवन में उभार आया था। उसकी जगह अब यदि ह्रास दिखाई दे और राष्ट्रीय-चेतना को कुचलती हुई दलीय-चेतना सिर उठाती दिखाई दे, तो क्या विस्मय है।

सचमुच निश्चय हो जाने की आवश्यकता है कि कहाँ हमें पहुँचना है और मार्ग की दिशा क्या है। लक्ष्य और ध्येय की ही बात मैं करता हूँ और समझता हूँ कि उस ध्येय को सामने रखकर यदि हम निर्णय करेंगे तो तात्कालिकता के तर्क पर विचलित होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। भारत के स्वराज्य और भारत के भविष्य के सम्बन्ध में गांधी की दृष्टि तात्कालिक ही नहीं थी, वह दूर-दृष्टि थी। उस दूरदर्शिता को श्रद्धा के आधार पर ही थामे रखा जा सकता है। वह अदूर-दृष्टि कहलायेगी जो भारतीय प्रकृति और भारतीय परम्परा का विचार नहीं करेगी। यों भी मेरा मानना है कि अन्तः प्रेरणा में से जितना फल प्राप्त हो सकता है, बाहरी अंकुश में से वह नहीं प्राप्त किया जा सकता। अर्थात् राजनेता से अधिक प्रजा के प्राणों में घुला-मिला जन-नेता जो सम्भावनाएं लोक-जीवन में से प्रस्फुटित कर सकता है, वह अन्यथा सम्भव नहीं हैं। और इस परिपूर्ति के लिए आवश्यक और उचित मुझे यह जान पड़ता है कि हमारी योजनाएं राज्याश्रित और राज्य-केंद्रित न हों, बल्कि वे लोक-सामर्थ्य में से अपना जन्म लें और लोक सामर्थ्य को जगायें।

स्पर्धात्मक संबंधों पर जब तक हम खड़े हैं, तब तक मेरी उन्नति वहीं रहेगी

जिसमें दूसरे की अवनति है। मेरा ऊपर उठना इसी शर्त पर होगा कि दूसरे का नीचे आना हो। सम्पन्न देश सम्पन्न नहीं हो सकते, जब तक मण्डी बनने के लिए वे विपन्न देशों को न पायें। उत्पादन मान लें कि खूब ही बढ़ता जाता है, एक मिनट में दुनिया में जितने बच्चे बढ़ते हैं, उससे ज्यादा मोटरें बढ़ जाती हैं। तो हिसाब बतलायेगा कि जीवनमान भी मानव-जाति का बस खूब उठ जानेवाला है। कारण, जनसंख्या से मोटर संख्या बढ़ गयी है। लेकिन आज भी दुनिया में जितनी मोटरें बन रही हैं, उसके आंकड़े लें, तो विस्मय होगा। लेकिन मोटर से आनेवाली द्रुतता, चपलता, वेग सचमुच कितनों के जीवन को प्राप्त हो रहा है? और भी मोटरें गुणानुगुणित होती जायं, तो उससे अपने-आप में भूख और अभाव मिट जायेंगे, यह मानना बड़ी भारी भ्रांति है।

अन्त में प्रश्न पदार्थ और मन के सही सम्बन्ध पर आकर टिकनेवाला है। इस सम्बन्ध से ध्यान को हटाकर पदार्थ के परिमाण पर ही उसे केन्द्रित कर देने से, मालूम होता है, प्रश्न वहीं का वहीं रह जाता है। सम्पन्नता बढ़ती अवश्य है, लेकिन उसी मात्रा में दूसरी ओर विपन्नता को बढ़ा जाती है।

वह दृष्टि जो कहती है कि पहले सब की जरूरत लायक माल बना लो, बस फिर सबमें बराबर बांटने का काम ही रह जायेगा, कोरी हिसाबी साबित होती है। घर में हम क्या करते हैं? मेहमान आता है, तो जितना है साथ बांट लेते हैं। घर के दरवाजे पर नोटिस नहीं लगाते कि अतिरिक्त की तैयारी की जा रही है, आवश्यकता से अधिक हो जाय, तब तक मेहमान कृपया संतोष रखें। ऐसा करना गृहस्थ-नीति नहीं है, मानव-नीति नहीं है, कोई भी नीति नहीं है। बल्कि आदर्श गृहस्थ वह है जो मेहमान को सुख देने में स्वयं कष्ट पाकर कृतार्थता का अनुभव करता है।

उत्पादन आदि की योजनाओं में इस मानव-नीति और प्रीति का प्रवेश न होगा, तो आंकड़ों के बेहद आकर्षक और सही होने पर भी मानव-समस्याओं का निपटारा न होगा, न होगा।

कम में भी सुख पाया जा सकता है, इस अनुभव को स्वीकृत और सुलभ बनाना होगा। अर्थात् वह मनोवृत्ति पैदा करनी होगी जहां व्यक्ति स्वेच्छा से सामान कम करने में आनन्द पाये। आज तो वह वृत्ति दुर्लभ बन गयी है। मालूम होता है, सुख का सामान के साथ सीधा सम्बन्ध हो गया है। तब क्या कारण रहता है कि हर कोई धन को अपनी ओर न खींचना चाहे? और अगर प्रवाह यही रहा, तो सबसे सुभीते की जगह पर बैठा हुआ शासक-वर्ग फिर क्यों न अपने स्थान का लाभ उठायेगा? इस तरह सारे समाज में

एक तृष्णा का तनाव पैदा होता है, आपाधापी बढ़ती है। माल कितना भी अधिक हो, मानो लूट-खसोट के लिए वह उतना ही कम होता है। मन और माल के सम्बन्ध को जब तक स्वच्छ और स्वस्थ नहीं बनाया जायेगा, तब तक माल की बढ़वारी मन के मैल को बढ़ाने वाली भी हो सकती है।

मुझे लगता है कि अर्थ-रचना का मानवीय आरम्भ हो सकता है। उस आरम्भ के साथ हम देखेंगे कि हमारी मूल आवश्यकताओं की उत्पादन-विधि में विकेन्द्रित या स्वावलम्बी भाव आ गया है। आज पैसे के बल पर अगर मैं सात समन्दर पार के मक्खन-रोटी, बिस्कुट, जैम, कैण्ड फ्रूट्स वगैरह पर बड़े आराम और ठाट से रह लेता हूँ, तो सम्भव हो सकता है कि अर्थ-विचार के मानवीय मोड़ के बाद वह तरीका मुझे व्यर्थ और आडम्बर-भरा जान पड़े। सम्भव है, तब पास पड़ोस के साथ मिल-जुलकर मेरे खाने-पीने पहनने आदि का काम चले और वही अधिक प्रिय भी मालूम पड़े।

हमारे यहाँ सोने का भाव एक सौ चालीस है, वही सोना हांगकांग में पचास में मिल रहा था। अभी फ्रांस में नकद पाँच हज़ार में मोटर-गाड़ी मिल रही थी, जो दिल्ली में तेरह हज़ार से कम में हाथ में नहीं आती। जिन दिनों भारत में अकाल से लाखों टपाटप मर रहे थे, सुना गया है कि अमरीका में नाज समुद्र में फेंका गया था। यह सब इस कारण नहीं कि आपस में दूरी है, यातायात के साधन नहीं हैं, आदि। नहीं, विज्ञान ने दूरी दूर कर दी है और सब साधन सहज कर दिये हैं। लेकिन फिर जो यह तमाशा चलता है, सो इस कारण कि हम लोग सरकारों से चलते हैं, अर्थ-नीति, उत्पादन-नीति, व्यापार-नीति, सत्ता के अधीन होकर चला करती है। उससे व्यवहार में गांठें पड़ जाती हैं और एक का कष्ट दूसरे के लिए अवसर बन जाता है।

हर देश के लिए निर्यात को आयात से बढ़ाये रखना जरूरी है, अन्यथा विकास नहीं माना जायेगा। इस नीति पर चलने से युद्ध की परिस्थिति सदा बनी और बनती रहनेवाली है, कभी कट नहीं सकती। अभाव होगा, तो सब वहाँ अपनी मण्डी बनाने के प्रयत्न में दौड़ेंगे और मरें-मारेंगे। निर्यात सबको बढ़ाना है, माल सबको खपाना है। खपत के लिहाज से तो कारखानों की उपज की नहीं जाती हैं, लाभ के लिहाज से उपज जरूरी होती और अपने आप बढ़ती है। उस माल को कहीं तो ले जाकर बेच डालना है, नहीं तो उद्यम का यन्त्र ही इधर फालतू और बेकार हो जायेगा। अर्थात् यन्त्रोद्योग अभाव-क्षेत्र के मानव के विकास में दिलचस्पी नहीं रख सकता है, उसकी दिलचस्पी मण्डी में है। इस नाते इधर विकसित और उधर अर्ध-विकसित और अविकसित देशों

के आपसी सम्बन्ध खासी पाशविक यानी राजनीतिक, कूटनीतिक और ऋण-शोषण-नीतिक बने रहते हैं। शक्ति का आवर्त इस परिस्थिति में से उत्पन्न होता है और किसी स्थल पर तनिक स्थिति-भंग हुआ कि वहीं अन्तर्राष्ट्रीय संकट की घटाएं उमड़ कर घिर आती हैं।

'अविकसित' देश जो अपने पर लज्जित होते, ग्लानि मानते और हीन भावापन्न बनते हैं, तो शायद इसलिए कि सभ्यता के सम्पर्क ने उन्हें यह बताया है। जीवन-स्तर को उठाने का एक मद-मोह सभ्यता ने पैदा कर दिया है। खूब चलन है इस फैशन का .. पहली आवश्यकता है कि यह माया-जाल टूटे। क्यों साहब, महल में रहने से मैं मैं न रहूंगा, कुछ ऊंचा हो जाऊंगा ? या फूस की कुटिया में रहने से नीचा हो जाऊंगा ? आदमी को आदमियत से तोड़कर हैसियत से जोड़ा कि आदमियत घटी और हैसियत के नाम पर बाकी सब फिजूलियत की कीमत बढ़ी। इस बढ़ती हुई व्यर्थता की कीमत के बल पर सभ्यता का व्यापार फैल रहा और मुसीबत फैला रहा है। सभ्य है वे देश, जो विकसित माने जाते हैं। लेकिन जब प्रकट होगा कि यह व्यर्थवादी सभ्यता सभ्यता थी ही नहीं, बल्कि शायद असभ्यता थी, तो आज के दृष्टिमान अर्थात् मूल्य-महत्व-मान ही बदल जायेंगे। तब क्या अचरज कि पिछड़ा ही बढ़ा दीख आये।

और क्या दीखता है आज भी ? छोटे और विकसित देश आपस में मिलकर हठात् संयुक्त राष्ट्र में बल पकड़ते जा रहे हैं। अजब नहीं कि विश्व-स्थिति का भार-केन्द्र अफ्रीका-एशिया की ओर सरकता हुआ दिखाई दे। यह सब इस कारण कि सब कार्यवाहियों के बावजूद जन को धन से ऊपर आना ही है, सत्ता के भी ऊपर आना है। अर्थात् केवल जन की संख्या के, जनता के, बल परिमाण (क्वांटिटी) से चलने वाली नीति सरकारी हुआ करती है। नहीं, जन के गुण (क्वालिटी) से चलने वाली नीति होगी, जिससे प्रतिष्ठा जन-मन को और मानव-मानों को मिलेगी – तभी शान्ति-सुख-सहयोग आदि प्रवचन से आगे देशों के आपसी सम्बन्धों में स्थान पायेंगे।

अर्थ की धारणा भी हमारी बेढब बनी हुई है। अर्थशास्त्र की बुनियाद में यह मान्यता है कि इन्सान स्वार्थी है। परमार्थ के जैसी कोई कल्पना ही उस शास्त्र के पास नहीं है। मुझे लगता है कि उस नींव पर खड़ा अर्थशास्त्र अपना खेल खेल चुका। समय शायद आया है कि वह तमाशा समेटे और अपनी दूकान उठा ले जाय। नहीं, माल को कहीं ले जाना नहीं है, उसकी मांग है। लेकिन दुकान-दारी को दिमाग में से उठा ले, तब विकास एक दायित्व हो जाएगा और

अविकसित समझे जानेवाले देशों के प्रति विकास-प्राप्तों में जो होगा वह लोभ नहीं, कर्तव्य का भाव होगा। मेरा मानना है कि मनुष्य की गहराई में पड़े इस धर्म-नैतिक भाव की बुनियाद पर नयी अर्थ-रचना का आरम्भ हो सकता है और गांधीजी का प्रयत्न उसी का सूत्रपात था।

धर्म पर आधारित अर्थ-नीति को अव्यवहारिक मैं नहीं मान सकता। घर में उसे हम व्यावहारिक बना देखते ही हैं। सिर्फ प्रश्न इतना है कि घर से बाहर व्यवहार्य वह कैसे बने ? अगर हम यह मानते होते कि जो नीति घर में चलती है, वह घर तक ही बन्द रहने के लिए है, तो हमारा विकास रुक गया होता। विकास का अर्थ ही यह है कि हमारा स्व-भाव बढ़े और इतना हो कि संसार हमारे लिए घर हो जाए। जाने-अनजाने हम उस तरफ गति करते ही जा रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान इसमें हमारी मदद कर रहे हैं। विश्व-मानव और विश्व-कुटुम्ब जैसे शब्द काव्य के नहीं रह गए हैं, बल्कि ठोस व्यवहार के बन रहे हैं। विश्व-नगर तो इस समय भी कई माने जा सकते हैं। कारण, वहां विश्वभर के देशों के लोग रहते-सहते देखे जा सकते हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अर्थनीति में जो आज स्वार्थ और शोषण का भाव देखा जाता है, वह मेरी भावना या किसी की कविता या तीसरे के उपदेश से छूमंतर हो जाएगा। द्रव्य और मुद्रा द्वारा होनेवाला शोषण एक ठोस वास्तविकता है और उसका मुकाबला केवल भावना से नहीं किया जा सकता। इसी से कवि, आदर्शवादी, उपदेशक आदि लोगों की जमात होती रही और अपना धन्धा चलाती रही है। पर उतने से विशेष अन्तर नहीं आया है।

ऊपर जो कहा, उसका आशय अर्थ-शोषण की बुराई को कम दिखाकर बताने का बिलकुल नहीं था। लेकिन यह स्वीकार कर लेना होगा कि अर्थ-नीति अगर धर्म-नीति से मिलकर नहीं चलेगी, तो सच्चा अर्थ सिद्ध नहीं होगा, अनर्थ ही होता रहेगा। इसका तातपर्य यह कि वह अर्थ-दृष्टि बहुत जल्दी अपर्याप्त और अयथार्थ बन जायगी। आज भी उस वृत्तिकी अयथार्थता प्रकट हो चली है, जो अर्थ से विनिमय का ही काम नहीं लेती, बल्कि विभुता और प्रभाव-विस्तार का भी काम लेती है। आज अर्थ-दृष्टि जुड़ी हुई है राजदृष्टि से। इससे अर्थ अनर्थकारी बन रहा है। यह बिलकुल आवश्यक बल्कि अनिवार्य है कि वह अर्थनीति राजनीति के बजाय धर्मनीति से जुड़े। आज का व्यापारी राज-सत्ता की ओर देखता है और वहां से कृपा-लाभ लेता है। पहले का व्यापारी लोक-सत्ता का भागी होकर रहता और उसका प्रार्थी होता था। वह लोकनीति का अंग होकर रहने को बाध्य था। उसे अपने व्यवहार में सामाजिक

और नैतिक होना ही पड़ता था। महाजन और साख यह दोनों एक थे। प्रमाणिकता से हटना या गिरना उसके अपने मन की बात न थी, क्योंकि उसका अधिष्ठान लोकनीति आदि में स्थित था। लेकिन जब अर्थ का योग राजनीति से हो चला, स्टेट ट्रेडिंग आदि में दिलचस्पी लेने लगी, सरकार ने अपना कारोबार बढ़ाना और फैलाना शुरू किया, तो राजनीति धर्मनीति से छूटकर स्वयं-प्रतिष्ठ मूल्य बन गयी। राजसत्ता सर्वोपरि सत्ता हो गयी, तो लोक-मूल्य भी गुणों से हटकर द्रव्य पर आ गये और अर्थ परमार्थ से हटकर समूह-स्वार्थ से आ लगा।

आत्मीयता और पारिवारिकता की सदा एक परिधि होती है। हर एक की पहचान और परख उस परिधि पर ही है। परिधि से केन्द्र की ओर स्नेह का सम्बन्ध होता है और एक-दूसरे में से कमाने और खींचने के बजाय एक दूसरे को देने और परस्पर काम आने की भावना हम रखते हैं। परिधि के पार हममें परायेपन और गैरियत का ही नहीं, बल्कि उससे आगे बढ़कर अनायास द्वेष और द्रोह का भाव तक होने लगता है। यह भाव सिर्फ हो, यहां तक तो सम्भवता और यथार्थता का क्षेत्र मान लिया जा सकता है। लेकिन वह द्वेष और द्रोह मूल्य ही बन जाय, तो संकट का कारण होता है। परम परमार्थ आज ही हमारा स्वार्थ नहीं बन जाएगा। लेकिन इसी दिशा में पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जीवन की साधना में निश्चय ही वह उपलब्धि श्रम-साध्य और समय-साध्य है। लेकिन जो बात आज और अभी हो सकती है, और निश्चय रूप से अवश्य हो जानी चाहिये, वह यह कि परिधि से बाहर भी द्वेष और द्रोह के सम्बन्ध को हठात् उचित न ठहराया जाय. उसे मूल्य कदापि न मान लिया जाय।

ऐसा होने से फिर व्यवहार की त्रुटि के लिए तो आधार रह जाता है, लेकिन मूल्य निश्चित हो जाता है। तो इतने भर से संकट में कुछ समाधान के तत्व हो आते हैं। स्वदेश-विदेश, स्वजाति-विजाति, स्वगत-विगत में किसी भी हालत में परस्पर संहार और विनाश की नीयत और वैसा आचरण उचित नहीं है, यह विश्वास धर्मनीति है। हमारा व्यवहार इस विश्वास से क्यों जुड़ नहीं सकता है ? विश्वास और व्यवहार में अन्तर तो रहेगा ही, न्यूनताएं व्यवहार में अनन्तकाल तक न रहती चली जायं, यह असंभव है। लेकिन वे विश्वास की त्रुटी क्यों बनें ? जब ऐसा होता है, मूल्य की श्रद्धा उठ जाती है, विश्वास शिथिल हो जाता है, तब का संकट मूल्य-संकट हो जाता और वह बड़ा ही विकट होता है। अर्वाचीन अर्थ-

शास्त्र ही उस बुनियाद पर खड़ा है जो अर्थ को सीधे राजनीति से जोड़ती और धर्मनीति से तोड़ती है। समस्त विचार उसी पर बल देता और उसी ओर बढ़ा जा रहा है। इसके विरोध में प्रतिरोधी दूसरा सन्त-दर्शन आता है, जो पैसे को छूना हराम समझता है। यानी अर्थ की वह दृष्टि समाज में दो प्रतिकूल क्रिया-प्रतिक्रियाओं को जन्म देती है। एक ओर नितान्त दिगम्बर मुनि. दूसरी ओर अरबपति बनने के प्रयास में लगा करोड़पति।

मैं नहीं मानता कि पैसे में यह अनिष्टता रहना अनिवार्य है। वह शोषण का साधन ही नहीं, स्नेह का भी माध्यम हो सकता है और अर्थ-प्रणालियों में प्रवहन में क्या तत्व है, स्नेह है कि स्वार्थ है, यह हमारी मानसिकता और मूलनिष्ठा पर निर्भर करता है।

आज खेत में यदि नाज पैदा होता है, तो खेतीहर के पास ही खाने के लिए वह जुट नहीं पाता है। अर्थात् वस्तु मुद्रा के जोर से खिंची हुई वहां पहुंच जाती है जहां श्रम नहीं, सिक्के की शक्ति है। महलों के अन्तःपुर से लगाकर मीलोंमील तक संगमरमर और इसी तरह के पत्थरों का फर्श मिलेगा पर अपार धान्य और नाना व्यंजन वहां मौजूद हैं। पर जिस धरती ने धान्य दिया है, उससे लग कर रहनेवाले श्रमी के पास ही उसका दाना नहीं है! क्यों ऐसा होता है? कारण है क्रय-शक्ति, जिसकी पीठ पर है न्याय-व्यवस्था की सत्ता-शक्ति। यदि मनों में धर्म-प्रवाह हो, तो यह हो सकता है कि महल में रहनेवाली रानी छप्पन की जगह अपने व्यंजनों की संख्या पचपन कर दे और शेष एक भोग को अपने प्रयत्न से वहां पहुंचाना चाहे, जहां भोग है नहीं, नितान्त अभाव है। लेकिन यह भावना का प्रश्न है। पर यदि मूल्य ही मुद्रा से हटकर श्रम की ओर बढ़ चलें, तो श्रमिक को अन्न स्वतः मिलेगा और राजमहल तक उलटे वह उसकी मरजी पर पहुंचेगा।

अर्थशास्त्र, अर्थदृष्टि और अर्थनीति में वह क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता और लाया जा सकता है, जिसमें मूल्य श्रमनिष्ठ हो और तदुपरान्त एवं तन्निमित्त ही मुद्रा का मूल्य हो। मार्क्स ने कुछ वह दृष्टि दी, लेकिन उस भले आदमी ने उपकार-वृत्ति के वशीभूत होकर उसे राजनीति से ऐसा जोड़ा कि परिणाम उसका अधूरा और ओछा ही रह गया। शासनमुक्त समाज की जगह शासनबद्ध समाज का दृश्य उपस्थित हो आया।

राजकारण को दोष नहीं देता हूं। बल्कि उलटे मैं यह मान सकता हूं कि राजकारण के द्वारा संस्कृति अपने को सम्पन्न करती है। वर्तमान के प्रति असन्तोष का मतलब वर्तमान का काट नहीं, बल्कि भविष्य का आवाहन है। राजनैतिक

चेतना में हम विदेशी विजातीय कहकर किसी के प्रति रोष लाते हैं, तो भी यह एक सजीव सम्बन्ध की निशानी है । वह जो अपने ही चक्कर में है, विदेश जैसे किसी देश के अस्तित्व से भी बेखबर है, वह उस रोष के भाव से यदि अपने-आप बचा रह जाता है तो इसलिए उसे उन्नत नागरिक तो हम नहीं कह सकते ! राजकारणी चेतना आगे बढ़ती है और चाहे नकारात्मक सही, अपने से या अपनेपन की परिधि से बाहर आकर कुछ सम्बन्ध तो स्थापित करती है । इस दृष्टि से उन माने गए सज्जन पुरुषों के लिए मेरे मन में प्रशंसा का भाव उदय नहीं होता, जो अच्छे तो हैं, पर अपनी अच्छाई में इतने तुष्ट और बन्द हैं कि बाकी दुनिया से बेखबर हैं । राजकारण की यह चेतना ही है जो उसे अपने में मुंह नहीं गाड़ने देती है, बल्कि उसे सक्रिय रखती और युद्ध तक में उतार लाती हैं । यह सचेष्टता और पराक्रम ही है जो राजकरण के प्रभाव के पीछे है ।

वह सात्विकता, सज्जनता, चारित्र्यशीलता यदि राजनीतिक प्रभाव के आगे मन्द दीखती है, तो इसी कारण कि उसमें विक्रम-पराक्रम के दर्शन नहीं होते हैं । बल्कि राजनीतिक भाव में कुछ आत्मत्रुटि देखने का अवसर है भी, क्योंकि आत्मतुष्टि का वहां अवकाश नहीं है । अतः राजकरण को बुरा मैं नहीं कहता हूं, दोष उसमें नहीं ढूँढता हूं । पर यह तो कहना ही पड़ता है कि राजकारण जितना है, उससे अधिक लगनशील, पराक्रमी और समग्र क्यों नहीं हुआ । मुझे जान पड़ता है कि राजकरण यदि अपने ही प्रति अधिक न्याय करेगा, अधिक दायित्वशील होगा, तो उसकी नकारात्मकता कम होती जायगी । पर इस कारण तेजस्विता घटगी नहीं, बढ़ेगी। मैं मानता हूं कि राजकारण के शीर्ष पर बहादुर ही पहुंच सकता है । साथ ही उसे कुशल होना पड़ता है । जो कुशल है पर बहादुर नहीं है वह चोटी पर नहीं पहुंचता । कुशलता बुद्धि का गुण हो सकता है, पर बहादुरी आत्मा का गुण है । मैं जो कहना चाहता हूं वह यही कि इस बहादुरी को और बढ़ाया जायगा, तो वह स्वयं अहिंसक हो जायगी । अहिंसक होने के साथ कुशलता भी बढ़ेगी, क्योंकि बुद्धि तब आवेश से मुक्त रहकर काम कर सकेगी ।

राजकारण में दिशा-परिवर्तन यदि घटित होगा, तो वह स्वयं उसके भीतर से आयेगा, किसी बाहरी आध्यात्मिक या नैतिक आदि कहे जाने वाले स्तर से नहीं । इसलिए मेरे शब्दों में किसी प्रकार का आदेश-उपदेश देखना बेहद गलत होगा । सच्चाई और अच्छाई ऊपर अलग से राजकारण को कोई संस्कार नहीं दे सकती । राजकारण की अवगणना और दोष-दर्शन की प्रवृत्ति

में से ही अध्यात्म निर्वीर्य और निष्प्राण ही नहीं हो गया, वरंच विरोध में राजकारण का प्रभाव उतना ही प्रबल होता चला गया है । राजकारण जिन समस्याओं से जूझता है, जिन जिम्मेदारियों को उठाता है, उनको संभालने और झेलने की क्षमता यदि धर्मनीति में से ही नहीं आती, तो कोई कारण नहीं कि कि राजनीति धर्मनीति से क्यों न निरपेक्ष और उपेक्षापूर्ण बन जाय । धर्मनीति अपनी जगह पर अपने आप को ऊंचा माने, तो कारण हो जाता है कि राजनीति मुकाबले में अपने को ऊंचा रखे । सच यह कि वह धर्म नहीं जो रहन-सहन की भौतिक समस्याओं और उनसे उत्पन्न विग्रह-वैमनस्य की घटनाओं से मुंह मोड़कर किनारा ले लेता है । धर्म का क्षेत्र समाज है, जंगल नहीं । आप खुले वन में स्वच्छ हवा लीजिये, स्वास्थय और स्फूर्ति वहां से लीजिये । लेकिन उस उपार्जन को उपयुक्त करने का क्षेत्र समाज है । वह आय नहीं है, है तो उसका उपार्जन अनिष्ट है, जो फिर सबके काम नहीं आतो । वह धर्म नहीं है, है तो अधर्म है, जो व्यक्ति को इसलिए उठाता है कि वह औरों के लिए बेकाम हो जाय ।

आज इस संकट से उबरने का यही ठोस उपाय है कि पारमार्थिक श्रद्धा को आर्थिक कार्यक्रम में उतारा जाय । अर्थात् पारमार्थिक रुचि और वृत्ति के लोग आर्थिक एवं सांसारिक समस्याओं में उतरें और वहां अपनी पारमार्थिकता को कसें और उसका तेज प्रकट करें । इस प्रत्यक्ष सृष्टि में से सृष्टा को ढूंढें और पायें । संसार में स्वर्ग सिरजें । एक साथ निश्चय कर लें कि संसार से अलग किसी स्वर्ग को नहीं पाना है और इस प्रत्यक्ष-प्राप्त सृष्टि से विलग सृष्टा को कहीं खोजने-मिलने नहीं जाना है । इस प्रकार का धर्म कर्म से किनारा नहीं लेगा और तब वह धर्म बन्धन रचने के बजाय बन्धन काटता हुआ दिखाई देने लगेगा ।

स्थिति की विडम्बना यह है कि विक्रम-पराक्रम बुराई की विशेषता समझी जाती है । अच्छाई अपने में लीन, निश्चेष्ट, उदासीन और तुष्ट बनी रह सकती है । जैसे आगे बढ़ना द्वेष और वैर को ही है । प्रीति और स्नेह तो रहने के लिए ही हैं । नहीं, प्रेम संक्रमणशील हो सकता है और स्नेह की व्यथा में से भी लोग अपने में से निकलर दूर-दूर जा सकते हैं । यह विरह की व्यथा, प्रेम की वेदना, महत्वाकांक्षा से कहीं तेजोमय और वेगवान हो सकती है । इस प्रस्ताव से ठोस मुझे कुछ और नहीं सूझता है ।

स्वतन्त्र भारत और गांधी

●

कांग्रेस वह संस्था है जिसको गांधी का साथ मिला था और अब भी जो जन-मानस में पूरे तौर पर गांधी के नाम से उतर नहीं गयी है। नेहरू गांधी के उत्तराधिकारी हैं, यह सब मानते हैं। कांग्रेस गांधी की संस्था थी, यह सब को याद है। लेकिन नेहरू के पास अपना रास्ता था, जो गांधी का रास्ता नहीं है। वह रास्ता कांग्रेस के अन्तरंग में से नहीं आया है। नेहरू के कारण कांग्रेस ने उसे स्वीकार किया है।

कांग्रेस देश के लिए समस्या इसलिए है कि देश जान नहीं पाता कि उसे किस रास्ते चलना है। सोशलिस्ट रास्ता कुछ ठीक तरह देश की समझ में बैठता नहीं है। कम्युनिस्ट रास्ता तो भी कुछ-कुछ उसके मन में बैठ सकता है, गांधी का राम-राज्य बौद्धिकों के लिए कितना भी अस्पष्ट हो, देश के मन में सदियों से उतरा हुआ है और उसके सहारे गांधी का रास्ता उसमें दुविधा पैदा नहीं करता। इन भीतरी कारणों से कांग्रेस अपने लिए और देश के लिए समस्या बन जाती है। वैचारिक दृष्टि से वह एक बड़े संगठन के अतिरिक्त और आज क्या है? अगर सोशलिस्ट पैटर्न उसका ध्येय है तो प्रजा-सोशलिस्ट और सोशलिस्ट आदि पार्टियां अलग क्यों हैं? व्यक्तियों के कारण अलग हैं, तो हाल क्या वही न मानना चाहिए, जो मार्क्सिज्म के क्षेत्र में देखा जाता है। मार्क्सिज्म अलग-अलग रूपों और दलों में बंटा है, तो क्या राजनीतिक और व्यक्तिगत कारणों से ही नहीं? कांग्रेस का संगठन भी जो है, और जिस तरह चल रहा है, व्यक्तिगत भूमिका और व्यक्तिगत बलाबल के नाते चल रहा है। वैचारिक अथवा निष्ठा की भूमिका उसके पास नहीं है।

परिस्थिति का संकट काफी कट सकता है, अगर गांधीवाद और कांग्रेस का सम्बन्ध जन-मानस में स्पष्ट हो जाय। यह ही चाहे हो जाये कि गाधी के रास्ते से उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है। गांधी के नाम की पूँजी का उपयोग कांग्रेस अपने व्यापार में आगे नहीं करेगी, तो मैं समझता हूं कि इससे कांग्रेस की ताकत साफ होगी। वह कट-छंटकर जवाहरलाल नेहरू के मान तक आ जाएगी। नेहरू से अनमिल

तत्व झड़ जायेंगे और अनावश्यक स्थूलता कांग्रेस-शरीर की घट जायेगी । इस सबसे आशा है कि कांग्रेस का स्वास्थ्य वढ़ेगा और अस्त्र के रूप में उस पर लगा हुआ जंग धुल जायगा और उसका पानी चमकेगा । राजा जी, कृपलानी, जयप्रकाश साफ़ अपनी-अपनी जगह आ जायेंगे और किसी भी एक को गांधी के नाम के उपयोग की शिकायत या सुविधा नहीं रह जायगी । आज तो उस सब के अवकाश की वजह से बेहद गड़बड़ है । सब गांधी का नाम लेते और दुहाई में उन्हें ऊँचा उठाते हैं । कम्युनिस्ट और जनसंघ इस सम्बन्ध में साफ हैं और उनकी शक्ति इसीलिए बढ़ भी रही है । लेकिन शेष तीनों नारा एक देते हैं, फिर भी एक दूसरे को छीलते-काटते दिखाई देते हैं । और देश बौखलाया रह जाता है, कुछ समझ नहीं पाता ।

यह अनुभव किया जा रहा है कि गांधी का मन देश की धमनी के साथ धड़कता था । वह प्रभाव अब भी देश के अन्तरंग में व्यापक भाव से बसा हुआ है । विरोधी भी यह अनुभव करते हैं । विरोधियों को इस ईमानदारी का लाभ मिलता है कि वे अपनी दूकान उस पूँजी से नहीं चलाना चाहते । दूकान हम अपनी चलायेंगे, पूँजी दूसरे की हो, तो कानूनी न्याय से भी यह जायज नहीं है । उससे वस्तु-स्थिति में पेंच और उलझनें बढ़ती हों, तो इसमें अचरज ही क्या है । यह गड़बड़ की स्थिति यदि आज देश में है और एक गहरी अनिश्चितता व्याप्त है, तो मुख्यता से वह कांग्रेस के कारण है । और कांग्रेस चाहकर भी अगर इस दोष से अपने को बरी नहीं कर सकती तो यह उसकी असमर्थता नेहरू के कारण है ।

देश में दो विदेशी शब्द नाहक चल रहें हैं और उन्होंने बड़ा असमंजस और संकट पैदा कर रखा है । वे हैं राइट और लैफ्ट । गांधी-युग में जैसे ये शब्द अस्तित्व में न थे । मार्क्सिज्म की ओर से ये आये और गांधी के जीवन-काल में भी पूरी युक्ति के साथ इन्हें बोकर और सींचकर अंकुराने की कोशिश की गयी । लेकिन वे उभर ही न पाये । कहीं जबरदस्ती उदय में आते कि वहीं वे अस्त भी हो जाते थे । कांग्रेस-राजनीति में जैसे जवाहरलाल नेहरू के द्वारा ये शब्द पहले-पहल भीतर आये । शायद नेहरू के दिमाग में वे कुछ अर्थ रखते थे और इनके सहारे वह दिमाग काम करता था । गाँधी ने दूसरी भाषा और और दूसरी दृष्टि देश को दी थी । तब हम सत्यता और सज्जनता से आदमियों और दलों की पहचान करते थे । आज नये बांट और नये पैमाने जो चले हैं सो जैसे सभ्यता और सज्जनता की कसौटी पुरानी पड़ गयी है । अब जांच राइट-लैफ्ट से हो जाती है । परिणाम यह है कि आदमी को आदमियत की फिकर

नहीं है, सच रहने या सज्जन बनने की चिन्ता नहीं है। नहीं, उसका काम आदमी को इधर या उधर, दायें-बायें बता देने भर से जो चल जाता है ! मानव-समाज में राइट और लैफ्ट ने आकर शुद्ध दलवाद की सृष्टि कर दी है। इसको रेजिमेण्टेशन या आम बोली में कतारबन्दी कहिये। समाज की वह हालत बना दी है कि राइट-लैफ्ट ! क्विक मार्च ! मानो समाज एक फौज हो। फिर वहां से विग्रहवाद और युद्धवाद ही परम राजनीति और मानवनीति के प्रकार बन जाते हैं। हम लाख चाहें, उस रास्ते शान्ति नहीं आ सकती। उस ढंग से युद्ध का हुनर अवश्य साधा जा सकता और सारे देश को उस स्तर पर सुसज्ज किया जा सकता है।

भारत देश को अगर उधर नहीं चलना है तो उसे खबरदार रहना चाहिए। चलना हो तो संकल्पपूर्वक पूरी साबितकदमी से चलना चाहिए। तब कोई हानि नहीं है कि देश को एक डिक्टेटरशिप में संगठित और एकत्र कर लिया जाय और किरच की नोक से भ्रष्टाचार को नाबूद कर दिया जाय। लेकिन इरादे के साथ। उस राह की तरफ अगर देखना भी हमें बंद कर देना है, तो बिल्कुल जरूरी है कि हमारे विचार ढिलमिल न हों, पंचरंगी और पंचमेल न हों, दिमागी से ज्यदा हार्दिक हों। श्रद्धा का उन्हे पृष्ट-बल हो और वह निरे रोमेण्टिक न हों। गांधी कितने भी अहिंसक रहे हों, पर आग्रह के लिए उनके जीवन में अवकाश था। अवकाश ही नहीं, उस आग्रह का उनके जीवन में सर्वोपरि स्थान था और वहां किसी तरह का समझौता वे कर नहीं सकते थे। यह दृढ़, निश्चित और साफ मनोभाव था, जिससे वे ऐसे नेता बने कि कभी समझौते में गिरकर उन्हें नीचे नहीं आना पड़ा। यह उनकी अरिस्टोक्रेसी उनको एकाकी रखे रही और उसमें किसी का नुकसान नहीं हुआ। लेकिन डिमोक्रेटिक वे रहे सम्पूर्ण राजनीति में अहिंसा को अपनाये रखने के कारण। किसी व्यक्तित्व या किसी मत का खण्डन उनसे नहीं हुआ और राज-कारण में वे अपने व्यक्तित्व को पीछे और अपदस्थ रखकर दूसरे को ऊँचाई और पदवी देते चले गये। नेहरू अरिस्टोक्रेटिक समाज में हैं, डिमोक्रेटिक सिद्धान्त में। इसमें घोड़े और गाड़ी की जगह आपस में अलट-पलट जाती है। नेहरू की सोशलिस्ट श्रद्धा हो तब भी कुछ बन सकता है, मानवीय श्रद्धा हो तो और भी अधिक बन सकता है। लेकिन दोनों का गुलझट हो तो राम जाने क्या बनेगा !

जो साम्यवाद को हौवा बनाकर देखता है, उसकी श्रद्धा सत्ता में है और मानो इस भांति कम्युनिज्म की सत्ता को वह स्वीकार करता है। इस दृष्टि

और वृत्ति को मैं राजनीतिक मानता हूं और मुझे यह भी प्रतीत होता है कि कम्युनिज्म के लिए ऐसा भय अनभीष्ट नहीं है। वह इज्म स्वयं शक्ति के जोर से चलता है। उसकी दृष्टि और वृत्ति भी राजनीतिक है और भय-निर्माण सैन्य-निर्माण आदि-आदि में उसकी भी श्रद्धा है। हिंसक उपायों से बचने का कोई आग्रह उसके पास नहीं है, बल्कि हिंसक शक्ति का उसके पास खूब उपयोग है। पहला उपयोग स्वयं यह भय है। भय और धमकी से आगे कृत्य तक जाने की भी तैयारी रहती है, कोरी धमकी ही उसके पास नहीं है।

दक्षिण और वाम इन दो शब्दों के पीछे मानसिकताएं दो हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। वे दोनों राज्य चाहते और सैन्यशक्ति में विश्वास रखते हैं। अन्तःकरण को बाद देकर लोगों से प्रयोजन साध लेने के तरीके में दोनों का भरोसा होता है। विरोध के नाश में दोनों एकमत और सहमत होते हैं। इस दक्षिण और वाम की भिन्नता सिर्फ राजनीतिक सतह तक है, उसके नीचे उन दोनों में भेद करना कठिन और अनावश्यक है। कम्युनिज्म अगर दक्षिणपंथियों के लिए हौवे के समान हो जाता है, तो स्वयं कम्युनिज्म विपक्ष को दानव और राक्षस के रूप में चित्रित करके अपना काम चलाता है। भय में से घृणा उपजायी जा सकती है। घृणा में से रोष, रोष में से साहस और साहस में से पराक्रम के कृत्य निकाल लिये जा सकते हैं। इस प्रकार का हिंस्र पराक्रम दक्षिण-वाम दोनों ही के लिए अनिष्ट नहीं रहता। इसलिए भय और घृणा से दोनों अपने-अपने लिए लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं।

राजनीतिक तल पर इस तरह कम्युनिस्ट-वर्ग को दूसरे और राजनीतिक दलों में से अलग और विशिष्ट करके मैं नहीं देख पाता हूं तब कम्युनिज्म के पक्ष में यह विशेषता अवश्य है कि उसके पास एक सुनिश्चित वैचारिक लक्ष्य और दर्शन रहता है। दूसरे राजनीतिक दलों के पास उस भूमिका की सुविधा उतनी नहीं रहती। ठीक यही स्थल है जहां मैं स्वयं कम्युनिज्म को महत्व देने को तैयार हो जाता हूं।

विचार और संस्कृति की दृष्टि से कम्युनिज्म से मैं खुद भी डरता हुं। उस डर को मैं अनिष्ट भी नहीं मानता हूं। भगवान का डर मनुष्य की सहायता करता है। पाप का डर मनुष्य को निर्बल या गलत नहीं बनने देता। इस सूक्ष्म ढंग के डर को मैं जीवन-निर्माण में उपयोगी मान सकता हूं। इस दृष्टि से कम्युनिज्म मुझे खुल्लमखुल्ला एक राज्यवाद मालूम होता है। विचार और दर्शन वहां साध्य नहीं, साधन हैं। इस तरह संस्कारिता और मानवता को राज्य-विचार और राज्य-व्यवस्था में सामग्री और समिधा मान लिया जाता है। मुझे

यह क्रम बिल्कुल मान्य नहीं है। राज्य को मैं किसी तरह साध्य मानने को तैयार नहीं हूं। सारी राजनीति साधन होनी चाहिए मानवता के सांस्कृतिक विकास के साध्य में। कम्युनिज्म में यह क्रम उलट जाता है और विचार-सामग्री मानो वहां एक स्वतंत्र कर्मकाण्ड में होमने के लिए तैयार की जाती है। इस तरह तत्व-विचार के साथ वहां जोर-जबरदस्ती होती है और वह सद्विचार न होकर सहेतुक विचार हो जाता है।

मेरा मानना है कि जहां हम किसी भी तत्व-विचार में से हिंस्र कार्यक्रम के अनुमोदन पा जाते हैं, वहां अपने और तत्व के साथ निर्मोह और निष्काम हम नहीं होते, बल्कि जाने-अनजाने रागासक्त हो जाते हैं। हिंसा के समर्थक किसी विचार को मैं सम्यक् विचार मान नहीं पाता हूं। निश्चय है कि उसके नीचे कहीं कोई व्यक्तिगत क्षति, व्यक्तिगत कोई चिंता या चोट काम कर रही होती है। अनुभूतिपरक और निर्भीक विचार किसी तरह प्रेम से बचकर अप्रेम और द्वेष के समर्थन तक पहुंच सकता है, ऐसा मैं सम्भव नहीं मानूंगा।

जहां यह हठात् भी कर लिया जाता है, उस विचार से हम सब को डर लग आना चाहिए।

नियम और तर्क जीवन का चलता है और इस जीवंत प्रक्रिया में शब्दों को निरंतर संशोधन मिलता रहता है। इसलिए असंभव नहीं है कि कम्युनिज्म भारत की आवश्यकताओं के साथ अपना समन्वय करते-करते स्वयं नया ही संस्करण प्राप्त कर ले। भारत की भूमि में तो अक्सर ऐसा होता रहा है। कम्युनिज्म को भी स्वयं में इतनी सामयिक सफलता इष्ट है कि किसी सिद्धान्तवादी शुद्धता के लोभ में वह नहीं पड़ेगा और हर तरह परिस्थितियों के साथ समझौता करता हुआ संपन्न बनना चाहेगा। यह व्यावहारिक निपुणता आज भी उसमें समायी हुई देखी जा सकती है। कम्युनिज्म में आज व्यवहारिक राजनीति का सत्व अधिक है, सैद्धान्तिक मतवाद उतना नहीं है। इन सब कारणों से एक भारतीय अहिंसक साम्यवाद जैसा कुछ निष्पन्न हो जाये, तो मुझे विस्मय न होगा। गांधीजी की आदत आप जानते हैं। वे किसी शब्द का तिरस्कार नहीं करते थे। सोशलिष्ट शब्द आया, तो उन्होंने उसका परिहार नहीं किया, न स्वयं साम्यवाद शब्द का वर्जन-तर्जन किया। उनको आदर से स्वीकार करके जैसे मानो उनमें अपना अर्थ डाल देने का प्रयास किया। ऐसे उनके उद्गार मिल जायेंगे जहां उन्होंने स्वीकार किया हो कि वह सोशलिष्ट हैं, कम्युनिष्ट हैं, किन्तु ··· यही प्रक्रिया है, जिसमें शब्दों की आपसी बनबन दूर होती और उनमें एक विशेष प्रकार की स्वर-संधि बन आती है। उस संगति से साहित्य का जन्म

होता है । भारतीय आत्मा की यदि जय हुई तो मुझे लगता है कि आगे-पीछे यह सामंजस्य सधकर रहेगा । साम्यवाद हिंसा तजकर अहिंसा में रच-रंग जायगा ओर वाद से उठकर साम्य-धर्म हो जायगा ।

भारत में कम्युनिष्ट पार्टी की विफलता का सबसे बड़ा कारण है गांधी, उससे दोयम हैं स्वयं गांधी द्वारा उत्तराधिकार प्राप्त नेहरु । गांधी प्रतीक है राजनीति में कम्युनिज्य से ठीक उल्टी नीति-रीति और सिद्धान्त के। एकाएक सही मालूम होता है यह कि ऊपर की हुकुमत को गिरा दो, क्योंकि उसके कारण अन्याय और शोषण है । जैसे भी वने गिरा दो, क्योंकि यह तो होने वाला नहीं है कि वह स्वयं अपने आसन से उतरे । गिराने के लिए चेष्टा करनी होगी । इसके लिए सर्वहारा जनो, आग्रो, मिल जाओ, और हमला बोल दो । यह ऐसा तीर-सा तर्क था, और है, जो वंचित और क्षुब्ध मन में सीधा उतरता चला जाता है । गांधी व्यक्ति हुआ, जिसने दूसरा ही तर्क उपस्थित कर दिया । वह तर्क अनायास मन में उदय हो नहीं पाता । बुद्धि में से निकलता ही नहीं न बुद्धि में बैठता है । गांधो वह तर्क है जो कम्युनिज्म के विस्तरण में, न सिर्फ भारत में ही बल्कि दूनियाभर में, कभी भारी बाधा सिद्ध होनेवाला है । कहीं उस तर्क में से तद्नुकूल क्रिया भी निकल आयी, तो बहाव उल्टा भी चल सकता है । यानी कि स्वरक्षा की भाषा में सोचना स्वयं कम्युनिज़्म को पड़ जाय इधर से तब ऐसी एक अदम्य चेष्टा और सत्यता जाग सकती है । गांधी के बाद स्थिति में एकाएक ऐसा अभाव आ सकता था कि कम्युनिज्म की बन आती! लेकिन एक तो गांधी के पुण्य से वलशाली कांग्रेस-संस्था मौजूद थी दूसरे उनके आशीर्वाद द्वारा मनोनीत उत्तराधिकारी पण्डित नेहरु मौजूद थे। इससे कम्युनिज्म के लिए उपयुक्त अवसर नहीं आ सका ।

नेहरु कम्युनिज्म और भारत के बीच एक जबरदस्त हस्ती हैं । जबरदस्त इसलिए कि गांधी के नाम का बल उनके साथ है । लेकिन वे ही कम्युनिज्म के बलवर्धन के लिए आड़ साबित हो रहे हैं । क्योंकि नेहरू में और सब है, गांधी-श्रद्धा नहीं है । गांधी की श्रद्धा की आग के बिना गांधी की उदारता बहुत बड़ा खतरा पैदा कर सकती है, इसका शायद नेहरू को पता नहीं है । सहिष्णुता कितनी भी मात्रा में हो, वह गुण है । लेकिन तभी जब अन्याय के प्रति असहिष्णुता की शक्ति भी उतनी ही प्रखर और तीव्र हो । विचार और श्रद्धा के क्षेत्र में ऐसा कुछ भी सम्बल नेहरु को प्राप्त नहीं है । इसलिए यह मानकर भी कि गांधी के बाद दूसरी रुकावट कम्युनिज्म के विस्तार के मार्ग में नेहरु का व्यक्तित्व है, यह भी स्वीकार करना होगा कि जिस मात्रा में

वह व्यक्तित्व गांधी से मुक्त है, उस मात्रा में वह कम्युनिज्म के लिए अनजाने तौर पर ओट और सहारा बन रहा है। इसी से आप देखियेगा कि कम्युनिष्ट तब और तभी कांग्रेस की निंदा कर सकता है जब नेहरू को पहल मानों कांग्रेस से अलग करके अपना समर्थन और बल दे ले। नेहरू का व्यक्तित्व उसे अपने लिए चाहिए। अतः यदि कांग्रेस के संगठन से नेहरू के नाम को एक बार ऊंचा और अलग कर दिया जाता है तो वह नाम कम्युनिज्म के लिए फिर बाधक के बजाय साधक हो चलता है। कम्युनिज्म यह अनुभव करता है कि नेहरू अपने व्यक्तित्व में गांधी से स्वतंत्र हैं, कांग्रेस अलबत्ता उस तरह स्वतंत्र नहीं है। कांग्रेस के लोग देश में से आते हैं और सारा देश गांधी-प्रभाव से अब भी धड़क रहा है। इसीलिए कांग्रेस उस प्रभाव से चाहकर भी मुक्त नहीं बन सकती। इसलिए नेहरू का व्यक्तित्व ही यदि इतना ऊंचा और अद्वितीय बनता है कि कांग्रेस की एकता नेहरू के कारण सम्भव हो, अन्यथा कांग्रेस एक अन्तर्विग्रह में फंसी और बिखरी हुई संस्था बन जाय, तो इतने मात्र से कम्युनिस्ट दल की सम्भावनाएं मजबूत होती हैं। नेहरू के बिना कांग्रेस बेकार हो आती है और कांग्रेस के बिना नेहरू कम्युनिज्म के हाथों बाधा की जगह सुविधा बन जाते हैं।

भारत की अन्तःप्रकृति, उसकी धर्म-परायणता, उसका स्वल्प सन्तोष और अपरिग्रह, उसका ग्रामवाद और कृषिवाद आदि कुछ ऐसे तत्व हैं, जो कम्युनिज्म के अनुकूल नहीं बैठते। गांधी में मानो वे सब तथ्य महदाशयता में मूर्त हो गये थे। कांग्रेस में वे अभी लुप्त नहीं हो गये हैं, और यों नेहरू भी अन्त तक खद्दर ही पहनते रहे, लेकिन उनका मन खद्दर बने रहने की मजबूरी से आजाद और ऊंचा बन गया था। कम्युनिस्ट यह पहचान गया है और स्वयं चाहे भारत उसे अपने अनुकूल न जान पड़ता हो, लेकिन दलगत राजनीति के अलावा नेहरू उसे अपने लिए प्रतिकूल नहीं जान पड़ते हैं। बशर्ते कि उनके व्यक्तित्व को कांग्रेस के संदर्भ से एकबार तोड़कर अलग कर दिया जाय।

दूसरे देशों में धर्म-संस्थाएं प्रबल रही हो सकती हैं। लेकिन तन्त्र में आकार ले रहने से धर्म स्वयं इतना अटूट नहीं रह जाता है। अतः उन देशों में कम्युनिज्म को अपनी राह में उतनी कठिनाइयां नहीं उठानी पड़ी हैं। भारत में धर्म संस्थाबद्ध केवल नहीं है, वह मनों में घर किये बैठा है, इसलिए कुछ अधिक प्रतिकूलता का निर्माण करता है। मुझे लगता है कि एशिया के दक्षिण पूर्व के देश यदि आसानी से गिरते गये, तो भी भारत का कम्युनिज्म की झोली में पड़ना उतना आसान नहीं है।

भारतीय शासन जिन हाथों में रहा है, उनके मन में किसी निश्चित और एकाग्र श्रद्धा की स्पष्टता नहीं है । मुख्य कारण मुझे यही मालूम होता है । अहिंसा स्वयं एक बहुत बड़ा आयुध हो सकती है । लेकिन इस शर्त के साथ कि वह निरपवाद हो और समग्र हो । इस शर्त के बिना अहिंसा राज-व्यवहार में आपको पुष्ट नहीं करेगी, बल्कि नष्ट होने के निकट ला सकेगी । सज्जनता अपने आप में काफी नहीं होती, उसको आगे बढ़कर और ऊंचे उठकर प्रबलता और प्रहार तक बढ़ना होता है, तब उसमें शक्ति आती है । नेहरू गांधी से छूटे नहीं रहे, गांधी के एकदम साथ भी नहीं रहे । इसी से स्थिति में विषमता रहती है और नेक इरादों से किये गये काम अन्त में घाटे के बने देखे जाते हैं । यदि राजनीति में हमको अपना बल रखना है तो या तो हम अहिंसा में से एक नये बल की सृष्टि करें और उससे समर्थ बनें, नहीं तो अहिंसा के बन्धन को खुले मन से एकदम छोड़ दें । साफ हम देखते हैं कि बल से चीजें चलती हैं । या तो हममें श्रद्धा हो कि इस राजनीति को ही नया मोड़ दें और उसका कायापलट करके रख दें । भारत के पास वह श्रद्धा हो सकती थी और हो सकती है । लेकिन नेहरू के दिमाग में उसकी गुंजाइश नहीं, तो ताकत का खुला तर्क उन्हें अपनाना चाहिए और देश को उस भाषा में पहले नम्बर की ताकत बनाने की कोशिश करनी चाहिए । देश का समूचा उद्यम और उद्योग उसी दृष्टि से चले और डिमोक्रेसी आदि शब्दों की रोक-थाम से अपनी गति को देश मन्द न करे । आज भी जनसंघ नाम का दल खुले तौर पर शक्ति में विश्वास रखता है । शक्ति से आशय संख्या शस्त्र आदि की शक्ति । किसी नयी नैतिक शक्ति का तो शायद उसे अनुमान तक नहीं है । वह अनुमान सही तौर से स्वय नेहरू को भी नहीं है । ऐसी अवस्था में सही मार्ग यही होगा कि गांधीजी को पीछे छोड़ दिया जाय और विश्व की राज-नीति जिस बहाव में है, उसके तर्क को खुले तौर पर अपना लिया जाय। विधान को तदनुकूल बनाया जाय और सारा राज्य और राष्ट्र एक सन्नद्ध छावनी के तौर पर संगठित कर डाला जाय ।

मैं नहीं मानता कि किसी सरकार के पास जवाहरलाल नेहरू जैसा खरा, दुर्दम, वीर और पराक्रमी व्यक्ति हो सकता है। कोई दूसरी सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ऐसे व्यूह और भंवर में इतने अडिग भाव से टिकी न रह सकती। किसी भी और देश में देखिये, सरकारें डगमग हैं । भारतीय जैसी स्थिर और दृढ़ सरकार शायद ही कहीं दूसरी जगह आज आपको मिल सके । कितनी कठिनाइयों में उसको काम करना पड़ रहा है, आप समझ सकते

हैं। गांधी को एकदम वह फेंक नहीं सकती और जानती है कि देश के लोग ही नहीं, दुनिया के लोग उसे गांधी के पैमाने से नापेगें और पास-फेल करेंगे। एक ओर यह अनिवार्यता ओर दूसरी और यथार्थ की अनिवार्यता। गांधी की अहिंसा, और राज्य के लिए अनिवार्य हिंसा। मानो इन दोनों सींगों पर संकट को उठाकर कांग्रेसी सरकार को चलना पड़ रहा है। अहिंसा का ही तो नाम था जिससे खिज और चिढ़कर गोडसे ने गांधी को मारना अपना कर्तव्य समझा था ! इतना बड़ा कर्तव्य कि उसने कहा कि गांधी के खून की प्यास मुझ में इतनी थी कि कोई उसकी जान को मुझसे बचा नहीं सकता था। गांधी ने अपने को नहीं बचाया, लेकिन सरकार होकर नेहरू किसी गोडसे या अनेक गोडसों को यह मौका फिर नहीं दे सकते। गांधी की अहिंसा ने निर्णय कर लिया कि प्रार्थना सभा में पुलिस पास तक नही फटक सकेगी। लेकिन सरकार का निर्णय पुलिस को इस तरह अमान्य कभी नहीं कर सकेगा।

इस तरह कांग्रेस सरकार चल रही है। अहिंसा और लोकतन्त्रता का उसके सिर सेहरा है और कन्धों बोझ है। उसी सरकार को नेहरू के नेतृत्व में जल्दी से जल्दी भारत देश को रूस-अमरीका के समकक्ष बना देना है। उद्योगों से छा देना है और देश को मालामाल कर देना है। अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हिन्दुस्तान का सिक्का जमा देना है। इस प्रण-पूर्ति में आप और हम कांग्रेस के विधायक पक्ष को शायद भूल जाते हैं। सचमुच उसने कम काम नहीं किया है। और इसीलिए मैं आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं इस बात पर कि न्याय करने के लिए ही राज्य नहीं होता है, सचमुच शासन करने के लिए उसका निर्माण होता है। कांग्रेस का होकर अगर कोई स्थानीय नेता स्थानीय इन्स्पैक्टर या मजिस्ट्रेट पर अपना आतंक रख पाता हो, तो कांग्रेस की दृष्टि से इसमें कुछ हित भी दिखाई दे सकता है। एक्जेक्युटिव के अवयव-रूप किसी अमुक अधिकारी को यदि यह समझने का मौका नहीं आता कि वह सर्वेसर्वा है, तो क्या यह भी लोकशाही की विजय का ही एक चिह्न नहीं माना जा सकता ?

आपको देखना होगा कि किन विषमताओं के बीच से कांग्रेस को काम करना पड़ रहा है। स्वतन्त्रता के इन चौदह वर्षों में एक सातत्य कायम रखना, कहीं उसमें भंग नहीं आने देना, कोई छोटी सफलता नहीं है। आशा की जा सकती है कि नेहरू की कांग्रेस अगला चुनाव भी जीतेगी। दुनिया के प्रति भारत की ओर से यह इस बात का अनोखा प्रमाण होगा कि देश संयुक्त है और उसके पास कुछ संकल्प है। प्रशासन की त्रुटियों की ओर से यदि आर

न देखेंगे और कुल मिलाकर कांग्रेसी-शासन का लेखा-जोखा लेना चाहेंगे, तो प्रशंसा के भाव आप में हो सकते हैं। एक तरह से वह होने भी चाहिएँ।

लेकिन मैंने खुल कर कहा है और कहता हूं कि मेरे मन में अप्रशंसा ऊपर है। वह इसलिए नहीं कि उसका शासन अमुक विवरण में घट कर है या बढ़ कर है। बल्कि इसलिए कि ठीक यह जमात थी कांग्रेस, जिससे आशा हो सकती थी कि राज्य-दर्शन उसे घेरेगा नहीं। आशा थी कि उसके द्वारा भारत का राज्य मानवता की दिशा में उठेगा और मानव स्वप्नों के लिए मार्ग खोलेगा। विश्व को अपेक्षा थी ऐसे उदाहरण की, राष्ट्र के और राष्ट्र-राज्य के ऐसे नमूने की, जो विश्व के लिए स्वयं गांठ के मानिन्द न रह जायगा, जो एक अलग राष्ट्र-स्वार्थ न होगा, बल्कि जो दुनिया को गांठ खोलने का उपाय दिखा आयेगा। समष्टिगत मानव-स्वार्थ या परमार्थ की कल्पना को जो सांगोपांग कर सकेगा। इस काम में कांग्रेस अगर गाफिल हुई है, उस विचार की गरिमा और अनिवार्यता तक से बेखबर हो गयी है, तो जिसे वह राष्ट्र-पिता कहती है, उस गांधी के प्रति यह भयंकर बेवफाई है। इस कांग्रेस से गांधी की आत्मा को स्वर्ग में तनिक भी आश्वासन नहीं पहुंचता होगा, यह निश्शंक कहा जा सकता है। लेकिन इसको शासन की त्रुटि नहीं, कल्पना की ही त्रुटि मैं मानता हूं। वह बड़ी चीज है, लेकिन अलग चीज है।

अब तक की विदेश-नीति उस लक्ष्य को स्पष्ट सामने नहीं रखती है। या दूसरा क्या लक्ष्य रखती है, यह भी साफ नहीं है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति को हिंसक श्रद्धा से हटाकर कोई नया मोड़ देना उसका लक्ष्य हो, जैसा कि पंचशील आदि से प्रकट होता है, तब तो गांधी का मार्ग ही अपनाने के लिए रह जाता है। लेकिन अधूरे मन से उस राह पर एक कदम भी रखना खतरनाक है। व्यवहार्य यह है कि गांधी को महात्मा कहकर हम आदर्श-लोक के लिए छोड़ दें और राजनीति में भूले-भटके भी न उस नाम की दुहाई दें, न उसकी ओट लें। मैंने पहले भी कहा है कि यह जो मिश्र या ढुल-मुल स्थिति है, यही संदिग्ध स्थिति है और इसी के कारण भारत कोई नवीन और प्रबल शक्ति के रूप में सामने नहीं आ रहा है। नैतिकता की बातें मुंह से करने और क्रिया में झुठलानेवाले-की-सी उसकी स्थिति बन आयी है। आदर होता है उन बातों के लिए, जो सचमुच ऊंची हैं। लेकिन वही आदर शून्य रह जाता है वहां, जहां व्यावहारिक मान्यता नीति की नहीं, शक्ति की दीखती है। नीति ही स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति हो, इस निष्ठा को प्रकट करनेवाला भारत नेहरू से अलग भारत हो सकता है। किन्तु उन सम्भावनाओं में जाने की यहां

आवश्यकता नहीं है ।

अपनी विदेश-नीति में मैं कोई ढोंग नहीं मानता हूं । बाहर और भीतर के व्यवहारों में यदि अन्तर है, तो इसको ढोंग कहना गलत होगा । अन्तर कुछ न-कुछ अभिलाषा और यथार्थता में सदा रहता ही है । जो मुझे कहना है वह केवल यह कि उदारता का व्यवहार अगर पूरे प्राणों में से निकलेगा और पूरे जीवन में समाया रहेगा तब तो चल सकेगा, अन्यथा एक जगह अनुभव हो सकता है कि आप ठगा गये हैं । इसका आशय यह कि उदारता एक जगह गलत नहीं है, बल्कि सब जगह यानी हमारी सम्पूर्णता में वह इतनी समा जानी चाहिए कि आत्मविर्सजन की आतुरता तक पहुंच जाय । तब एक नयी नीति का प्रकाश मिल सकता है । उसमें से ऐसी उदारता भी आ सकती है, जो दीखने में मृदु न हो, बल्कि वज्र की तरह कठोर हो ।

निष्पक्ष और निर्दलीय बनने की आवश्यकता नहीं है । उस भाषा में सोचना ही अनावश्यक हो जायगा, यदि हमारा अपना कोई सत्य का पक्ष होगा। तब हमारी अपेक्षा पक्षों और दलों को सोचना पड़ सकता है । इसी को मैं विधायक और श्रद्धायुक्त पक्षोत्तीर्णता कहता हूं । आज की न्यूट्रेलिटी की स्थिति लगभग उससे उल्टी है । वह परिस्थिति उत्पन्न नहीं करती, केवल परिस्थिति को झेलती है ।

वह रुख, जिसके हाथ में अभिक्रम की पहल नहीं है, कुछ नकारात्मक और निष्क्रिय रुख होता है । सत्याग्रही वृत्ति में उसके लिए तनिक भी अवकाश नहीं है । सच तो यह है कि सत्याग्रही वृत्ति वाला विश्व को, समूची मानव-जाति को, आत्मीय भाव से देखने के कारण लगभग सब समस्याओं को अपनी मानकर उनमें दखल देने का कर्तव्य और अधिकार पा जाता है । इस तरह यह वृत्ति निश्चेष्टता की न होकर प्रखर और प्रचण्ड कर्मण्यता की हो जाती है ।

मैं यह मानता हूं कि परिस्थिति एकदम जब फटने के निकट आ जाएगी, तो आज की न्यूट्रेलिटी चल नहीं सकेगी । तब यदि भारत किसी पक्ष की तरफ झुका तो मुझे विस्मय तो न होगा, पर प्रसन्नता भी न होगी। भारतीयता में इतनी जान होनी चाहिए कि उसमें से दो सन्नद्ध फौजी मोर्चों के बीच एक तीसरा मानवता का पक्ष खड़ा हो जाय, जिसके हाथ में शस्त्र न हो, किंतु सत्य हो ।

वैसे किसी नेतृत्व या प्रकाश के चिह्न मैं भारतीय क्षितिज में कहीं देख नहीं पाता हूं । उसके अभाव में वर्तमान की अनिश्चयता को मैं हितकर नहीं कह सकता हूं । ●

इस नेतृत्व का लाभ अपनाये रखने के लिए। कांग्रेस का कुल लक्ष भारत को स्वतन्त्रता दिलाना था। वहां तक ही गांधीजी का लाभ उसके लिए संगत था। उससे अधिक गांधी की धर्म-नीति, उनके तत्व-दर्शन, आदि में जाने का कांग्रेस के लिए कोई प्रयोजन और हेतु न था। गांधी और कांग्रेस के इस सम्बन्ध का इतिहास अध्ययन की वस्तु है। एक अवसर पर जाकर गांधी जी को अनुभव हुआ कि उनका व्यक्तित्व कांग्रेस के आत्मविकास पर भारी तो नहीं पड़ जाता है—इसमें उन्हें हिंसा का दोष दीखता था। इस अनुभव पर ध्यान जाते ही कांग्रेस पर से उन्होंने अपना बोझ हटा लिया, उसकी सदस्यता से भी अलग हो गये।

किन्तु भारत की यह राष्ट्रीय-कांग्रेस गांधी जी के मार्ग-दर्शन में मानो समस्त राष्ट्र के वर्चस्व, संकल्प और पराक्रम की प्रतिनिधि बन आयी थी। वह दल से कहीं अधिक हो गयी थी, मानो स्वयं में राष्ट्र की ही प्रतीक बन उठी हो। निश्चय ही राष्ट्र की राजनीतिक आशा-आकांक्षा का सेहरा कांग्रेस पर था। राजनीतिक चेतना रखने वाले सभी वर्ग उसमें घुल-मिल चले थे। इस तरह कांग्रेस पर राष्ट्र का नेतृत्व, अर्थात् भारत का राजनीतिक नेतृत्व, दायित्व के तौर पर अनिवार्य होकर आ टिका था।

किन्तु गांधी जी को सत्य के प्रयत्न में ही खपना था। उसमें ही जीना था, उसमें ही मरना था। राजनीतिक नेता का पद इसमें बाधा ही डाल सकता था। यह काम मानो उन्होंने पूरी तौर पर कांग्रेस का मान लिया और समझे गये राष्ट्रधर्म से अपने को अलग कर लिया।

मैं यह समझता हूँ कि स्वधर्म के रूप में उन्होंने मानव-धर्म अर्थात् सत्य-धर्म के प्रति अपना सर्वस्व और दायित्व स्वीकार किया। सारी वफादारी उसी के प्रति मानी। यह नेता से अधिक शहीद का धर्म हो जाता है। कुछ शहीद ऐसे होते हैं, जो आगे नेता और राजा बनते हैं; गांधी जी की शहादत स्वयं में एक मूल्य थी, कोई मंजिल उसमें नहीं थी। उसका अलग से कोई फल और प्रयोजन नहीं था। गीता का यज्ञ उन्हें सर्वस्व था और कभी किसी समय, अगला जन्म हो तो भी, सत्ता और भोग के स्वीकार की सम्भावना उनमें नहीं रह गयी थी।

इन दो स्वधर्मों के अलगपन को समझना बहुत जरूरी है, अगर देश-विभाजन की दुर्घटना के रहस्य को हम भीतर से जानना चाहते हों। स्वयं आगे बढ़कर सन्धि-वार्ता चलाने, अमुक फैसला करने न-करने का दायित्व राष्ट्र की ओर से गांधी जी अपने ऊपर नहीं ले सकते थे। उनकी ओर से वह कांग्रेस का

ही कार्य था और कांग्रेस की ओर से वह जिम्मा पदाधिकारियों पर आ जाता था। वे लोग सलाह के लिए जब तक चाहें और जिस मात्रा तक चाहें, गांधी जी उपलब्ध थे। उससे आगे और अलग वे सर्वथा मुक्त थे। उस दृष्टि से वे राजनीतिक नेता से अधिक भारत की आत्मा के प्रतिनिधि थे। ऐसा इतिहास में क्या कभी हुआ है कि आत्मा का प्रतिनिधि देश का राजनेता या राजनीतिक भाग्यविधाता हो? नहीं हुआ इसीलिए केवल गांधीजी के सम्बन्ध में यह समझने में कठिनाई होती है। कठिनाई इसलिए होती है कि महात्मा से पहले हम उन्हें राष्ट्रनेता और राष्ट्रपिता के रूप में मानते और अपनाते हैं। मानो उपयोगिता के उस सम्बन्ध में से और अपने रागभाव में से हम उन्हें देखते हैं। अतः कांग्रेस के सन्दर्भ में गांधी जी के सर्व-समर्थ नेता रहते हुए भी जो देश-विभाजन हुआ, उसका सारा दोष उन्हीं के माथे डालने से हम बच नहीं पाते हैं। नेहरू, पटेल, आजाद अगर बंटवारा मान भी गये थे, तो कब गांधी जी का यह वश नहीं था कि उस किये को अनकिया कर देते और अपनी बात आत्मसत्ता के बल चला ले जाते? क्या ऐसा कभी सम्भव हो सकता था कि कांग्रेस इन तीनों के कारण गांधी का साथ न देती? न देती तो भी क्या था? गांधीजी को तो अपने ईमान के साथ रहना था। क्या उन्होंने नहीं कहा था कि अगर द्वि-राष्ट्र का सिद्धान्त जिन्ना का है, तो एक-राष्ट्र ईमान मेरा है। फिर भी नेहरू, पटेल, आजाद का यह क्या मोह था कि गांधी ने अपना ईमान छोड़ दिया? गांधी की या तो यह कमजोरी थी, या पहला कौल उनका सच्चा न था, या फिर राजनीतिक सुविधा-वाद के कारण देश-विभाजन में सहारा होना और स्वीकृति देना उन्होंने सही संगत समझ लिया था। इन सब अनुमानों से बचने का साधारणतया मार्ग नहीं रह जाता है। पर उनमें से किसी को अपनाने की आवश्यकता मेरे लिए नहीं है। कारण, उनका स्वधर्म राजनीतिक नेता के दायित्व को अपना कर पल नहीं सकता था। और वह स्वधर्म था जहर पीते जाना, तिल-तिल अपने को आहुत करते जाना, यज्ञ द्वारा ही जीना और इस जगत् का कुछ भी अपना न मानना, सत्य को ही सर्वान्त सर्वस्व मानना! भारत का राजनीतिक स्वराज्य राजनीति की सामयिक आवश्यकता से अधिक भला क्या था? आखिर उसका बोझ अपने कन्धों लेना तो कांग्रेस को था। गांधी को तो मिनिस्टर वगैरह बनना कभी था नहीं। इसलिए राजपद जिनको लेना है, फैसला भी उन्हीं के हाथों रहने देना होगा। यह उनके आगे इतना स्पष्ट था कि सामर्थ्य रहते हुए भी कांग्रेस को उस मार्ग से उन्होंने मोड़ा नहीं। बल्कि उससे आगे समर्थन तक दे दिया उस अनिष्ट को, जिसको उन्हीं के चुने हुए नेता लोग इष्ट मानने लग गये थे!

चाह निकली। दोनों को स्वराज्य कैसे मिलता ? इसलिए एक के दो राज्य बने।

गांधी जी शुरू से सलाह देते गये थे कि मत चाहो, मत चाहो। कर्म को अकर्म बनाकर करो। लेकिन वह बात काम की थी ही कब कि काम-धाम के बीच सुनी जाती ! परिणाम आज के हिन्दुस्तान-पाकिस्तान हैं। क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त काम करता है और उसका हमारे चाहने-न-चाहने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारत में समन्वय सिद्ध होता चला गया, कारण, उसका दर्शन और वर्तन अकर्मक था। गांधी की सारी अथक कर्मण्यता अकर्म से आती थी और इसी से अमोघ होती थी। कांग्रेस ने अपने पास निष्कामता को आने नहीं दिया। उसका कर्म सकाम रहा। अहिंसा भी सकाम रही। हिन्दू-मुस्लिम-एकता भी सकाम रही। तो सकामता के धरातल पर क्रिया के समतुल्य प्रतिक्रिया को भी होना ही था।

क्या कभी कांग्रेस हिन्दू थी ? एक क्षण के लिए भी नहीं थी। लेकिन व्यवहार के लिए कांग्रेस को "हिन्दू" बनना हुआ, क्योंकि लीग को "मुस्लिम" बनना था। हम इस व्याधि से साम्प्रदायिकता के नाम पर ऊपर-ऊपर लड़ना चाहेंगे, जैसी कि कोशिशें होती हैं, तो फल नकारात्मक आयेगा। इस, और ऐसे, प्रयत्नों में ही अपीजमेण्ट आ घुसता है, प्रयत्न सच से दूर हो जाता है। सच से बाल बराबर हटने पर भद्रता, सभ्यता, शिष्टता आदि सचमुच दुर्बलता के ही नाम हो जाते हैं। अगर हम सच को अपनाने की हिम्मत न रखें, तो अहिंसा में खतरा ही खतरा है। इसलिए जीवित राजनीति को मानो दिखाई देने लगा है कि अहिंसा एक छलना है, वह निर्वीर्यता है, पराजय को अपनाना है। लेकिन अगर मृत्यु के प्रति निर्भयता हो और हर हालत में सच को अपनाने का हौसला हो, तो उनके साथ शर्त के तौर पर चलने वाली अहिंसा से बड़ी कोई राजनीति नहीं है, कूटनीति नहीं है। एक तरह सारी नीतिमत्ता उसमें समा जाती है। आज जिसे 'पीछे बन्द मुक्का, सामने मीठी मुस्कान' की नीति माना जाता है, जिसे कूट और सफल कहा जाता है, मानो वह सहज हो आती है, कठिन नहीं रहती। कूटता में मुक्के और मुस्कान में मेल जो नहीं है, भीतर कपट जो रहता है, सो मुक्के को छिपाकर पीछे रखना पड़ता है। गान्धीवाली निष्कपटता में सारी बाजी सामने खोल दी जा सकती है और मुस्कराहट के साथ बंधे मुक्के को भी समक्ष रख दिया जा सकता है। अर्थात् जीवित राज-नीति का तत्व गांधीनीति में अविद्यमान नहीं रहता, बल्कि सर्वथा स्पष्ट और

प्रत्यक्ष होता है।···और वह है ध्रुवबल ! सत्य के बल से क्या कोई भी बड़ा बल हुआ है ? हो सकता है ? संकल्प के रूप में उसी को सामने और साथ लेकर चलने से फिर अहिंसा में निर्बलता की प्रतीति का अवकाश किसी के लिए नहीं रह जाता। सत्य से विरहित अहिंसा ही है जो निर्बल हो सकती है, अतः जो राजनीति के क्षात्र क्षेत्र के लिए अनिष्ट और त्याज्य समझी जा सकती है।

पाकिस्तान और हिन्दुस्तान आज दो हैं और अपने पड़ोसपन के प्रभाव से उनकी राजनीति और विदेश-नीति मुक्त नहीं हो सकती। दोनों की वे राष्ट्रनीतियाँ, जो अपने-अपने बल में विश्वास रखती हैं, दोनों को बेचैन बनाये रहेंगी। कभी वह समय आये कि पड़ोसी इतने मित्र हों कि एक अनुभव करें, तो वह समय अपने-अपने सैन्य बल की बात को भूल जाने से ही आयेगा। केवल एक बल को साथ रखने से वह आयेगा और वह सच के साथ चलने-वाला सहानुभूति और प्रेम का बल होगा।

ऐसी राष्ट्रनीतियों को मैं परस्पर के प्रति शुभ मानूँगा। हिन्दुस्तान के लिए पाकिस्तान स्वयं में शुभ या अशुभ क्या होगा ? — इस प्रश्न में कुछ अर्थ ही नहीं है। भविष्य निर्भर करता है उनके परस्पर सम्बन्धों पर। परस्परता में ही इष्ट या अनिष्ट की सम्भावनाएँ प्रगट होती हैं। भारत की और पाकिस्तान की परराष्ट्र-नीतियाँ सही नीति पर चलीं और बड़े गुटबन्द स्वार्थों से उलझी-अटकी न रहीं, तो शायद दोनों अनुभव करें कि वे एक-दूसरे के लिए संकट से अधिक संबल भी हो सकते हैं। दोनों के द्वैत का आरम्भ अवश्य इतना अशुभ हुआ कि भविष्य में दूर तक उसके परिणाम शायद घुल नहीं पायेंगे। लेकिन प्रेम की शक्ति अपरम्पार है और बरसों की भ्रान्तियां क्षणभर में कटती देखी गयी हैं।

गांधी जी को मूलतः मैं सच्चा आदमी मानता हूँ। सच से डिगना किसी कीमत पर उन्हें स्वीकार नहीं हो सकता था। सत्य के प्रयोग की राह में ही राजनीति उनके जीवन में आयी। राजनीति आयी, राजनेता का दायित्व और धर्म नहीं आया। भारत के जीवन में अनायास उन्हें ऐसा राजनीतिक नेता बनना पड़ा कि अप्रतिम, उससे अन्य उपाय ही न था। किन्तु इस सारे प्रयोग में उनके लिए धर्मनीति ही प्रधान रही। उन्होंने साफ कहा भी कि मैं धार्मिक आदमी हूँ, राजनीतिक नहीं हूँ; राजनीति धर्म के श्वांस के बिना निरा छल छद्म है।

भारत का राजनेतृत्व उन पर यदि आता ही चला गया, तो वह कांग्रेस के परामर्शी होने के निमित्त से। कांग्रेस ने बहुत कुछ त्याग किया, गांधी के

देश-विभाजन और गांधी

●

कांग्रेस एक राजनीतिक संस्था थी और उसको भारत का स्वराज चाहिए था। सन् १९२० से उसने गांधी जी को अपनाया और गांधी-नीति उसकी नीति बनी। लेकिन जो गांधी के लिए नीति से अधिक था, सिद्धान्त था, अवसर-साधन का उपाय-मात्र न था, कांग्रेस के लिए वह प्रयोजन-साधन की युक्ति तक ही रह गया। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गांधी जी ने आगे जाकर कांग्रेस की सदस्यता तक से अपने को अलग कर लिया और केवल परामर्श का सम्बन्ध रखा। इस परामर्श के नाते नेतृत्व का काम फिर भी उनके कन्धों से उतरा नहीं।

इन परिस्थितियों में भारत का स्वराज्य आया। घोर वेदना का वह काल था। गांधी सत्यरूपी परमेश्वर के लिए ही जीते थे। उनका वचन था कि दो भाइयों में जैसा बंटवारा होता है, वैसा हो तो ठीक है; नहीं तो देश का बंटवारा मेरी लाश पर से होगा। क्रिप्स-मिशन से अधिकारतः बात करने वाले कांग्रेस-नेता थे, गांधी जी उन्हें अनिवार्य अपने केवल अस्तित्व के कारण थे, वैधानिक स्थिति उनकी नहीं थी। यह अ-स्थिति गांधी जी ने जान-बूझकर अपनी बना रखी थी। देश को फाड़ने और चीरने की बात पर उनका कलेजा ही जैसे चिरता था। क्या हलाहल की घूंट उन्हें उस वक्त पीनी पड़ी, यह धीरे-धीरे खुले इतिहास में आता जा रहा है। यह उनकी मनोवेदना आगे जाकर अमोघ बनेगी और लोगों के दिलों को हिला देगी। कांग्रेस की राजनीति ही अहिंसा थी, इससे आगे वह कोई धर्मनीति तो न थी। गांधी जी अहिंसा के साथ जीने और उसी में मरने वाले थे। लेकिन गांधी की यह अहिंसा सत्य के साथ थी, इसलिए वह तनिक भी अपीजमेण्ट न थी। मन रखने का लोभ उसमें रंचमात्र न था। वह शक्ति का एक नया रूप था—नंगी और बर्बर शक्ति के सामने मानवीय और भव्य शक्ति का रूप! लेकिन भव्यता के कारण वह शक्ति कम नहीं, अधिक ही प्रखर और अमोघ थी। कांग्रेस के हाथ उसका राजनीतिक रूप ही जो आया, सो जान पड़ा कि कांग्रेस के पास अपीजमेण्ट की

नीति ही है ।

सब जानते हैं कि कांग्रेस के वैधानिक नेताओं को उस समय गांधी जी का मार्ग और गांधीजी का परामर्श रुचा और पचा नहीं । पाकिस्तान कांग्रेस के नेताओं ने स्वीकार किया । कांग्रेस की जनता ही शायद नेताओं के इस निर्णय को न मानती । नेताओं को स्वयं यह संशय था । गांधी जी की वे शरण गये और आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी में हिन्द भंग का प्रस्ताव गांधी जी के 'आशीर्वाद' से पास हुआ । क्या गांधी जी उस समय अपना कौल भूल गये थे ? मेरे विचार में नहीं भूले थे । मुझे विश्वास है कि उस प्रस्ताव पर जो गांधी जी में से आशीर्वाद गया था, वह स्वयं उन्हें शव बनाकर ही छोड़ गया था । उनका वचन झूठा नहीं हुआ, सचमुच सच्चा हुआ कि उनकी लाश पर से हिन्दुस्तान आरी से चीर कर दो बना ।

अपीजमेण्ट ! निरी-निपट अहिंसा सचमुच अपीजमेण्ट रह जाती है । सत्य के साथ, और सत्य के आग्रह के साथ, वह एक ऐसी शक्ति का आविष्कार है, जो विज्ञान के क्षेत्र के अणुशक्ति के आविष्कार से कहीं महत्व का है । वही शक्ति है जो आगामी मानव-इतिहास को संभालने और बनानेवाली होगी । अब तक शक्ति का जो रूप हम देखते और परखते आये हैं, वह यथार्थ में मानवोचित नहीं रहा है । यह नयी शक्ति सर्वथा मानुषी होगी । व्याघ्र-सिंह जैसे नख-दन्तवाले हिंस्र पशुओं से दुर्बल और स्वल्पकाय मनुष्य बुद्धि-शक्ति के योग से जिस प्रकार जीतता रहा है, वैसे ही शस्त्रास्त्र-सज्जित सैन्य-शक्ति से आगे जाकर यह प्रेम-और-नीति-शक्ति कहीं विजयिनी सिद्ध होगी ।

पाकिस्तान क्यों बना ? उसके पीछे अवश्य जीवन का और विज्ञान का तर्क काम कर रहा होगा । हम आगे दौड़ते हैं तो कैसे ? तैरकर बढ़ा जाता है तो क्यों ? यान धरती से ऊपर उठता है और आगे भागता है तो किस कारण ? इन सभी में फल-श्रुति कृति से उल्टी दीखती है । यान के पंख हवा को नीचे दबाते हैं और यान ऊपर उठता है; पांव धरती को पीछे धकेलते हैं, आदमी आगे बढ़ता है; हाथ पानी को पीछे फेंकते हैं तो ही तैराक आगे जाता है । अर्थात् धन के प्रयत्न में ऋण का फल आप ही प्राप्त हो जाता है । कांग्रेस को राज्य चाहिए था । गांधी जी के नेतृत्व में तप-त्याग से बल की सृष्टि हुई । स्वराज्य उस बल से तनिक निकट आता दीखा तो मालूम हुआ कि कांग्रेस के समकक्ष होकर इधर से लीग उठती आ रही है । काम कांग्रेस ने किया था, फल लीग को भी मिलता गया । ताकत कांग्रेस की बढ़ती, तो ठीक उतनी ही लीग की बढ़ जाती थी । कांग्रेस को स्वराज्य चाहिए था । लीग भी स्वराज्य

सब जानते हैं कि गांधी जी ने कांग्रेस को सलाह दी कि वह एक ही आग्रह रखे, यह कि अंग्रेज लोग अपनी प्रभुता को लेकर भारत से फौरन हट जाएँ; इसमें बिलकुल देर न लगाएँ। फिर इसमें यदि यह प्रश्न पैदा होता है कि राज्यव्यवस्था आखिर किसको सौंपकर वे जायँ, और कांग्रेस लीग के बीच इस बारे में कोई मन-मनाव हो नहीं पाता है, तो कांग्रेस को कह देना चाहिए कि सत्ता की बागडोर लीग के हाथों वे छोड़ जाएँ। हर हालत में अंग्रेजी प्रभुता को यहां से फौरन अपनी छुट्टी कर लेनी चाहिए। पूरी मिनिस्ट्री लीग बना ले तो भी कोई हर्ज नहीं है। लीग से सुलझने-उलझने की बात फिर घर की घर में ही रह जायेगी। विदेशी साम्राज्य को विदा हो ही जाना चाहिए। यह सलाह कांग्रेस की बृहत्त्रयी के गले नहीं उतरी।

लेकिन इनसे उतरकर कांग्रेस के दूसरे कुछ नेता लोग भी थे। वे राष्ट्रभंग के स्वीकार से तब भी सहमत नहीं थे। गांधी जी ने अपेक्षा की, पूछ टटोलकर मालूम किया कि क्या वे अपने विश्वास पर दृढ़ हैं ? क्या वे हिम्मत करेंगे और कांग्रेस के नेतृत्व को हाथ में लेकर आगे बढ़ेंगे ? अगर कांग्रेस की आल इण्डिया कमेटी उनकी बात रख ले और राष्ट्रभंग अस्वीकार कर दे, तो क्या वे उच्च कमान हाथ में लेंगे ? कांग्रेस के भीतर से वैसा आश्वासन गांधी को किसी ओर से नहीं प्राप्त हुआ। तब खून की घूंट पीकर उनके लिए क्या शेष बच जाता था, सिवा इसके कि कांग्रेसी राजनेता जिस राह जाना चाहते हैं, गांधी उसका द्वार खोलकर कहें, 'एवमस्तु' और मुँह मोड़कर आप अकेले अपनी सूनी बिहड़ राह पर पांव-पैदल चल दें ! वही उन्होंने किया। आपको याद होगा कि इसके बाद एक नया सूत्र उनके मुँह से निकला। वह था कि "हुकूमतें ही दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हो गये।" उस दिल की एकता पर वे इतने दृढ़ और अडिग थे कि उन्होंने बैरिस्टर होते हुए भी कह दिया था कि "अपने मुसलमान भाइयों से मिलने जाऊँगा, तो क्या मैं पासपोर्ट पर रुकने वाला हूँ ? वे तो मेरे भारत के मां-जाए हैं।"

मैं मानता हूँ कि इसके प्रकाश में यह समझना आसान है कि कैसे गांधी जी का समर्थन विभाजन को मिला और कौल भी नहीं टूटा। समर्थन मानवीय अहिंसा में से मिला, कौल ईश्वरीय सत्य में निभा और सच्चा रहा। इसका प्रमाण स्वयं हिन्दू के हाथों उनकी हत्या है !

आजादी मिलने के बाद हर राजनीतिक समस्या पर कांग्रेस को गांधी जी की जरूरत नहीं हुआ करती थी। पर कश्मीर पर हमले का प्रश्न अवश्य ऐसा था, जिसमें गांधी जी के नैतिक समर्थन का बल कांग्रेसी सरकार के लिए

जरूरी था। गांधी जी ने भारतीय सेना को कश्मीर-कूच के समय अपना आशीर्वाद दिया, कहा कि वहाँ रक्षा में मर जाना, लौटना नहीं। सेना और सैनिक के व्यवसाय का समर्थन जब कि उनके मन में नहीं था, तब यह वहां स्पष्ट था कि सशस्त्र-सैन्य का स्वधर्म रक्षा में आगे बढ़कर बलि हो जाना है। जिन्होंने शस्त्र लिया है, उनके लिए शस्त्र का उपयोग है तो यही कि वह रक्षा के काम आये। अपना स्वधर्म गांधी किसी पर लाद नहीं सकते थे। कश्मीर के सवाल को संयुक्त राष्ट्र-संघ में भेजने के खिलाफ उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी थी।

किसी विशेष समस्या पर गांधी जी क्या करते, क्या न करते, इसकी चर्चा से बचना चाहिए। वे ऐसे राज्य की कल्पना कर सकते और करते थे, जहाँ सशस्त्र सेना अनावश्यक हो जाय। उस हालत पर पहुँचने तक वे स्वयं कांग्रेसी सरकार को यह सलाह देने को तैयार नहीं थे कि वह अपनी सशस्त्र सेना को बखेर दे। अर्थात् वह मानते थे कि यह हालत ऊपर से नहीं आयेगी, बल्कि भीतर से अनुकूल सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था पनपायेंगे तो उसके परिणाम-स्वरूप ही यह इष्ट फलित हो सकेगा। उसी बुनियादी काम में वे लगे हुए थे।

भगवान की सृष्टि में अनुचित कुछ होता नहीं है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहिये कि जो होता है, उसे अनुचित मानकर समझ से परे हटा देने के बजाय समझ के द्वारा उसके कारणों में जाने का धैर्य चाहिए।

गांधी जी को लोग महात्मा और इस लिहाज से कोमल-हृदय मानते थे। हिन्दुओं को लगता था कि मुसलमान के प्रति वे पक्षपात रखते हैं, रियायत करते हैं। उनका मन रखने के लिए ऐसी राह चल जाते हैं, जो हिन्दू-विपक्ष और मुस्लिम-पक्ष में न्यायतिरेक की होती है। ऐसा उनकी अहिंसा-नीति के कारण होता है। इसी से समय पर वे दुर्बल बनते और झुक जाते हैं। ऐसा व्यक्ति दुनिया के काम-काजी मामलों में नेता हो, तो खतरा ही तो है। राष्ट्र और जाति का स्वाभिमान उसके हाथ में सुरक्षित नहीं रह सकता।

गांधी जी की हत्या हुई, तो यह जानने पर कि हत्यारा हिन्दू है, लगभग सभी के मन में हुआ था कि अवश्य वह कोई पंजाब का शरणार्थी होगा। पर निकला वह नाथूराम विनायक गौडसे।

शरणार्थी लोगों ने जो कष्ट उठाये थे, उसके क्षोभ और रोष में से जो भी घोरता निकलती कम मान ली जा सकती थी। उन्हीं विस्थापितों में से कोई गांधी का हत्यारा निकलता, तो बात सीधी दीखती। लेकिन ऐसा जो नहीं हुआ, वह मेरे विचार में इसलिए नहीं हुआ कि दिल्ली में गांधीजी को पास से

देखने-जांचने का अवसर शरणार्थियो मिल गया था। इस जरा से अवसर में भी उन्होंने शायद पहचान लिया था कि महात्मा समझे जाने वाले अहिंसक गांधी के अन्दर क्या आग जल रही है ! उसके प्रकाश में गांधी जी को निर्बल और कायर मानने की सम्भावना कहीं उनमें नहीं रह जाती थी।

लेकिन गांधी जी को केवल दूर से और दिमाग से जाननेवालों का जो वर्ग था, उसकी गलतफहमी दूर कैसी होती ? वे गांधी के पास इसलिए नहीं आते थे कि गांधी के भूत से डरे रहते थे। वह भूत उनके अपने दिमागों में से तैयार होता था। भूत उनके लिए असली था, असली गांधी नकली था। गोडसे ने भूत को मारा था और इसलिए वह हत्या खुद गोडसे के मन में हत्या थी ही नहीं, बल्कि एक पुण्य कर्म था। मरनेवाला काया का सचमुच का गांधी निकल आया, इससे उसका पुण्य-कृत्य अगर हत्या का कृत्य बन गया, तो इसमें गोडसे क्या करे ? गोडसे ने जो अदालत में वक्तव्य दिया, उससे भी साफ हो जाता है कि हत्या द्वारा उसने तो पुण्य-कर्तव्य करना चाहा था। कानून हत्या समझे तो समझे और अपना काम करे। कानून ने अपने हिसाब से गोडसे को फांसी दे दी और गोडसे अपने हिसाब से शहीद होकर मर गया।

गांधी-हत्या का कारण शायद इस तरह स्पष्ट हो जाता है। राजनीतिक हत्या का औचित्य जब तक जन-मानस में रहेगा, ऐसी हत्या असम्भव न बनेगी। कारण, यह साधारण क्रोध या बदले के भाव से होने वाला कत्ल-खून नहीं है। यह तो वह है, जिसके बारे में दिमाग एक पुण्य-कृत्य का भाव बना ले जाता है।

उस हत्या का परिणाम तत्काल तो यह हुआ था कि हिन्दूवाद का मूल्य गिरा था। पर हिन्दू-साम्प्रदायिकता को तो अपने समर्थन का तर्क पाकिस्तान के जन्म में मिल जाना है। इसलिए गांधी-हत्या की बात पुरानी पड़ने पर हिन्दूवाद का उदय रुक नहीं सका। कांग्रेसी सरकार का काम भी कुछ उस ढंग से चला, जिसमें उस अभ्युदय को अवकाश मिला। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के सम्बन्धों का प्रभाव साम्प्रदायिक-भाव पर पड़े बिना नहीं रहता। उन सम्बन्धों के हृदय तक मीठे बनने की सम्भावना स्थिति-तर्क के कारण ही बहुत अधिक नहीं रह जाती है। किसी एक ओर से, शायद भारत की ओर से ही, आशा हो सकती है कि राजनीति पूरी तौर पर मानव-नीति तक उठ जाये। तब तो तनाव शान्त हो सकता और पूरा सौमनस्य सम्भव बन सकता है। पर उसमें समय लगता दीखता है।

गांधी-हत्या का प्रभाव शुभ हुआ। दुनिया भर में, और पाकिस्तान में,

लोगों के दिल हिल गये थे और गांधी-जीवन का सन्देश जैसे उनके मनों को हठात् छू गया था। वैसी गहरी तितिक्षा फिर किसी कारण जागे, तो बात दूसरी है; अन्यथा जिस ढंग से चीजें चल रही हैं, उसमें खाई को पाटनेवाली कोई सम्भावना प्रगटतः दीखती नहीं है।

जिन्होंने गांधी को मुसलमानों का दोस्त और हिन्दुओं का दुश्मन माना, ऐसा मानकर खुद संशय-निवारण के लिए गांधी के पास नहीं आये और दूर से अपनी मान्यताओं को कट्टर बनाते चले गये, गोडसे को उन सबके मानस का खण्ड ही कहना चाहिए।

किसी भी प्रकार के बन्दपन का समर्थन मेरे पास नहीं है। वाद स्वयं में एक बन्द भाव है और जिस शब्द के साथ लगता है, उसके अर्थ को भी कुछ बन्द बना देता है। राष्ट्रवाद, जातिवाद, मतवाद में वाद के कारण राष्ट्र, जाति, मत आदि सब शब्द मानों कुछ कटकर अलग और संकरे बन जाते हैं, सामान्य भाषा-प्रवाह के वे नहीं रह जाते। अभी एक प्रगतिवाद शब्द चलता था। वह प्रगति सामान्य भाषा की नहीं थी, उसकी अपनी विशिष्ट परिभाषा हो गयी थी। इस तरह वादपूर्वक राष्ट्र मानो कुछ बन्दपने 'एक्सक्ल्यूजिविज्म' को अपना लेता है। हिन्दू-राष्ट्रवाद तो जैसे उसको और भी सीमित घेराबन्दी दे देता है। हिन्दू शब्द में आरम्भ में कोई घिरा भाव नहीं था। भारत-राष्ट्र या हिन्दू राष्ट्र उस समय एक अमुक लोक-जीवन का नाम था। आज राजनीति बहुत मुखर और प्रबल हो गयी है, तो उसने राष्ट्र की भौगोलिक सत्ता को प्रधानता दे दी है। वाद जोड़कर मानो उसे और भी ऐकांतिक बना दिया जाता है। इसलिए कुल मिलाकर हिन्दू-राष्ट्रवाद वह भाव देता है, जिसके लिए मेरे मन में तनिक भी स्पृहा जग नहीं पाती है।

किसी भी कार्य का कारण सदा द्विमुखी होता है। अद्वैत इसी द्वन्द्व द्वारा प्रकट और सिद्ध होता है। अर्थात् आन्तरिक चेतना और बाह्य परिस्थिति इन दोनों दबावों के बीच में से घटना और क्रिया फलित हुआ करती है।

राष्ट्र स्वयं एक राजनीतिक भाव और शब्द है। शासन में उसकी आकांक्षा रहती है और वहीं से तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया भी जन्म लेती है। अर्थात् विदेशी शासन ने भारत में राष्ट्रवाद के लिए कारण उपस्थित किया और उसको प्रबलता दी। भारत का स्वराज्य सामने आता दिखाई देने लगा, तो मुस्लिम राष्ट्रवाद और हिन्दू राष्ट्रवाद की उत्पत्ति का कारण बन गया। जब शासन का सपना दूर था, स्वराज्य के भोग की कल्पना भी न थी, केवल उसके लिए बलिदान की बात ही ध्यान में आती थी, तब वह स्वराज्य हिन्दू-या-

मुस्लिम नहीं दीखता था। उस समय दोनों ही, बल्कि सभी, बिना भेद-भाव के उसके लिए अपनी कुरबानी देने आगे आते थे।

...अपने बीच में ही हम प्रेम पाते हैं, जिसमें स्व में पर के लिए समर्पण का भाव होता है। साथ ही वैर भी पाते हैं, जिसमें स्व में पर के नाश की इच्छा होती है। ये दोनों भाव हमारे भीतर से आते हैं और बाहरी दबावों के अनुसार अदलते-बदलते हैं। राष्ट्रवाद के जन्म में इन बाहरी दबावों को राजनीतिक इतिहास में से खोजा-परखा जाता है। लेकिन चेतना के क्षेत्र में विनम्र धर्म-भाव, जहां आत्म-विसर्जन की प्रेरणा काम करती है, संस्कृति की सृष्टि करता है और सदर्प कर्मभाव राजनीति की रचना रचता है।

अंग्रेज जाति अंग्रेज व्यक्ति की तरह कोई एक घटक नहीं है। अर्थात् जातीय अन्तःकरण जैसा कुछ स्पष्ट सामने नहीं है। पार्लियामेण्ट को ही वह स्थान दे सकते हैं, या पार्लियामेण्ट के भी प्रतिनिधि रूप प्राइम मिनिस्टर को। तो यह भारत विभाजन लेबर-पार्टी के प्रधानमंत्री एटली के काल में हुआ था। उनके मुंह के शब्दों को या किसी भी दूसरे प्रधानमंत्री के मुंह के शब्दों को लिया जाय तो वहां सब भला ही भला दिखाई देगा। अर्थात् सचेत मन ऊँची भाषा और ऊँचे हेतुओं को सामने रखकर काम किया करता है। उसके पीछे बहुत कुछ पड़ा रहता है, जो शब्दों की पकड़ में नहीं आया करता और अव-चेतन कहा जाता है। इसलिए अंग्रेज जाति के हेतुओं को बांध देने का काम मुझको या किसी को करना नहीं चाहिए। एक भगवान् ही है जो सब जानता है।

इसीलिए यह घटना इतिहास में सिवा भारत के कहीं नहीं मिलती कि अंग्रेज राज हारकर हटा, तो भी एक अंग्रेज लार्ड माउण्टबेटन को इस देश ने स्वेच्छा से अपना पहला "राष्ट्रपति" बनाया। यह अचम्भा सम्भव हुआ गांधी के कारण। भारत का स्वराज्य-युद्ध गांधी की अहिंसक नीति से जो लड़ा गया, उसका ही यह आश्चर्यजनक परिणाम आया। शासक अंग्रेज में क्या अनिष्ट और कलुष काम करता रहा था, इसमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हम सब अपनी छोटी-मोटी सम्पत्ति बनाकर स्वत्व-गर्व में रहा करते हैं। सम्पत्ति और स्वत्व छूटता और छिनता है, तो सब अनुभव कर सकते हैं कि उस पर क्या बीतती है। उस स्वत्व-सम्पदा को बचाने के लिए हम जाने क्या-क्या तर्क और उपाय नहीं रच डाला करते! वह सब खेल शासक अंग्रेज ने खेला हो और युक्तियाँ चली हों, तो कुछ भी असंगत और अनहोनी बात नहीं है। वह राग और मोह जाते-जाते भी न मिटा हो, स्वयं देश-विभाजन में भी वह काम कर

रहा हो, तो भी कुछ विस्मय नहीं होना चाहिए। राजनीतिक तथ्य तो ऐसे भी सामने आये हैं कि स्वराज्य के बाद भी वह दुष्प्रवृत्ति छिपे-छिटके अपना काम करती ही रही। उस सबके ऊपर यदि जातीय रूप में अंग्रेज ने अपना पांव वापस खींचा और एक तरह स्वेच्छा से भारत को स्वराज्य दिया, तो इस 'प्रदान' की अहिंसक-पद्धति में अवश्य गांधी-नीति का प्रभाव रहा। यह भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि उस नीति के कारण शासन-हस्तान्तरण में विधि का और मन का सौन्दर्य चाहे रहा, पर उस कृत्य और घटना की अनिवार्यता केवल नीति में से नहीं बन आयी, वह तो सचमुच शक्ति में से ही फलित हुई। अर्थात् भारत देश में से वह शक्ति प्रकट हो सकी थी जिससे उसके राजनीतिक स्वराज्य को रोकना अंग्रेज के बस का नहीं रह गया था। उस शक्ति के प्रादुर्भाव का अभिन्न सम्बन्ध राजनीति में गांधी-नीति के आविर्भाव से रहा, इसे किसी तरह इनकार नहीं किया जा सकता। गांधी इसीलिए महात्मा के अतिरिक्त समाज-शास्त्रियों और लोक-नेताओं के लिए अध्ययन और अनुगमन के विषय हो जाते हैं कि नीति ही उन्होंने नहीं दी, बल्कि शक्ति भी प्रकट कर दिखाई और शक्ति ही प्रगट नहीं की, बल्कि समग्र कार्यक्रम की एक संगत श्रृंखला भी दी। केवल नीति से नहीं चलता, केवल शक्ति से भी नहीं चलता। तद्नुकूल व्यवस्थित कर्म भी चाहिए। ये तीनों आवश्यक तत्व गांधी जी से मिलते गये। इसका यह परिणाम हुआ कि अंग्रेजों के अवचेतन में और भारतवासियों के अवचेतन में भी कितना ही मैल चाहे पड़ा रहा हो, स्वराज्य के आगमन की विधि अभूतपूर्व रूप से सुन्दर सद्भावमय रही!

गांधी मार्ग द्रष्टा थे, आत्मनेता थे, राजनेता नहीं। राजकर्म के लिए उनके निकट माध्यम बनी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस। तब कांग्रेस के अवचेतन में पड़ा हुआ जो कुछ था, वह रंग लाये बिना कैसे रहता? उस स्वराज्य के साथ मुस्लिम-हिन्दू-राज्यों की कल्पना बनी और उन कल्पनाओं पर नर-हत्या हुई तो भीतर पड़े हुए उस विष के कारण हुई, जिसको गांधी का अमृत काट नहीं सका था। काट इसलिए नहीं सका था कि आत्मिक गांधी को शायद हमने व्यर्थ किया था और राष्ट्रीय और कार्मिक गांधी तक ही अपने स्वार्थ को सीमित रखा था। उस सीमा के पार हमारे मन के जहर तक अमृत का प्रभाव नहीं पहुँच पाया, तो यह हम पर है कि चाहें तो उस प्रभाव को दोष दें, और चाहें तो अपने को, अपने स्वार्थ-राग को, दोष दे लें कि उसने हमारी दृष्टि को इतना ओछा और नेता के प्रति हमारे समर्पण को इतना अधूरा क्यों कर दिया? ●

गांधी और विश्व-व्यवस्था

●

गांधी जेल में हैं, और एक वर्ष से ऊपर हो गया उनकी कोई सीधी आवाज हमें नहीं मिली है। कल एक बन्धु वर्तमान महापुरुषों को गिना रहे थे। गांधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगत् व्यवस्था में उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। शेष नाम, जो उनकी गणना में आये, आज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों के थे।

उन भाई की कठिनाई आज के आलोचक की कठिनाई है। शासन के और युद्ध के मैदान से गांधी अलग हैं और बन्द हैं। विश्व का भाग्य तय हो रहा है, देशों की सीमाएँ बन मिट रही हैं और भावी व्यवस्था की दागबेल डाली जा रही है। यह सब गांधी को बिना लेखे में लिये हो रहा है। इससे क्यों न कहा जाय कि कर्म के धरातल पर गांधी अनिवार्य नहीं हैं!

प्रकटतः यह सच है। युद्ध में दो ही पक्ष हैं। तीसरा कोई पक्ष नहीं है और यह युद्ध समूची मानवता का है। विश्व का भाग्य पलड़े में है और सभ्यता के अगले कदम का निर्णय होना है। ऐसे समय जो किनारे पर है और इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व विचार की दृष्टि से शून्यवत् ही समझना चाहिए। शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है। पर जो यह है न वह, ऐसा व्यक्ति हिसाब में आने योग्य नहीं ठहरता!

किन्तु युद्ध में असल में दो पक्ष नहीं हैं। युद्ध त्रिभुजात्मक है। तीसरी भुजा मुखर नहीं है; किन्तु वही शेष दो की आधारमूल है। शायद वह भुजा नहीं है, भूमि है। उस भूमि पर रह कर ही दो लड़ते हैं।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान और इटली एक ओर हैं, ब्रिटेन, अमरीका, रूस, चीन आदि दूसरी ओर। भाव होता है कि वे देश लड़ रहे हैं। पर युद्ध-घोषणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक है, यह ठीक है। लेकिन यह भी विदित हो कि एक देश की सरकार और उस देश की जनता, यानी शासक और शासित, राजा और प्रजा, पूरी तरह एक नहीं होते हैं। अनुशासन और

कानून में वे एक हों; हृदय में और यथार्थ में दोनों अभिन्न नहीं होते। इसी से सरकारें बदला करती हैं, विद्रोही शासक हो जाते हैं और शासक दण्ड पाते हैं।

यह पक्ष अधिकांश अव्यक्त रहता है। वह असंगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दल और वर्ग ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूल पक्ष किसी गहरी व्यथा से उभार पाता है तब घहराकर विस्फोट फूटता है और देखते-देखते साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

ऊपर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्सन्देह नीचे जन-सामान्य में से पहुंचता है। प्रजा ही लड़ती और लहू बहाती है। परिणाम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहाकर शासकों में परिवर्तन लाया जाता है। परिवर्तन से शान्ति आती है, फिर उस शान्ति के ऊपर होकर शासन चलता है, शासकों में फिर स्पर्द्धा होती और फिर युद्ध होता है! और फिर प्रजा कष्ट सहने को आगे आती है!!

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतन्त्र, या अधिनायकतन्त्र, या क्या फिर पुराना छत्रतन्त्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहाँ से आते हैं, धन वहाँ से आता है और अन्न वहीं से आता है। बड़े युद्ध उन्हीं के बूते, उन्हीं के हाथों, और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं।

इस भाँति प्रत्येक युद्ध में दीखने में दो भुजाएं आती हैं, पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। वह तीसरी भुजा जो स्थायी है धरती में बिछ कर रहती है। श्रम उसका धन है, पर वह मूक है क्योंकि व्यस्त है, और सहना उसका काम है।

गांधी? वह इस युद्ध में तीसरी भुजा है। उनका जेल में होना प्रमाण है कि वह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहा रह गई है। गांधी को भी राष्ट्रीय समझना भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गांधी मानवीय है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फिर कूट राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गांधी के साथ वह भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय चालों के पार उसका शुद्ध मानव पक्ष है।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना बताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में देखते हैं; क्योंकि उन्हें ऐसा देखने की शिक्षा दी गई है। उन्हें अपनी रक्षा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का भय है, अपने स्वत्वों का लोभ है, विस्तार की आकांक्षा है—क्योंकि यह सब उनमें परम्परा से बोया गया है।

पर क्या उन्हीं देशों में लोग नहीं है जो जानते हैं कि श्रम से धन उत्पन्न होता है, और लड़ाई में समय और सब बर्बाद होता है ? क्या अन्दर ही अन्दर लड़ने वाले तक नहीं जानते कि दुनिया-हम सबकी है, और परमात्मा एक है, और मिल बाँटकर हमें रहना चाहिए ?

लेकिन वैर चेता दिया गया है और लोगों को अपने ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि होकर उसकी अन्तस्थ आशा आकांक्षाओं को वाणी देने वाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुने रहते हैं, या फिर उन्हें बलात् चुप कर दिया जाता है।

गांधी मानवता की वही अन्तस्थ वाणी है। उसे पहचान लिया गया है। वह जागरूक है और मन्द नहीं होगा। बीच के राजकारण के चक्रों में भी वह नहीं घिरेगा। वह स्पष्ट और दृढ़ और ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। और उसे जेल में रोका जायगा तो यह कृत्य ही स्वयं उसकी जगह बोलेगा।

अगामी विश्व-व्यवस्था की इस समय चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन, अमरीका या किसी और देश का शासक, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचता और चलता रहा है, क्या विश्व-शान्ति और विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी दूसरी बुद्धि या वृत्ति प्रस्तुत कर सकेगा या व्यापक दृष्टि से निर्णय ले सकेगा ? आज अंग्रेज है, अमरीकन है, जर्मन है, जापानी है—वह कहां है जो आदमी है? सब अभ्यासी हैं कि अपने को इस-उस देश का मानें और बाद कहीं अंत में आकर अपने को आदमी मानें। वह व्यवस्था क्या विश्व-बन्धुत्व लाने वाली होगी जिसकी रचना में भाग लेने वाला हर व्यवस्थापक अपने देश के स्वार्थ का प्रतिनिधि हो ? क्या इस प्रकार की मन्त्रणा बड़ी शक्तियों को और मजबूत और छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायेगी ? क्या ऐसी परिषद् में से शान्ति या समीचीन व्यवस्था आ सकेगी ?

ऐसे समय गांधी ही है जो प्रकृत-मानव का पक्ष लेकर खड़ा है। क्या गांधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलने वाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिये ? ऐसा स्व-राज्य जन-जन का स्व-राज नहीं होगा। आत्म-शासन नहीं, किसी-न-किसी रूप में वह पर-शासन ही होगा। क्या गांधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कर्म देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है ; और वह राजनैतिक नहीं धार्मिक हैं ?

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश आपस में निबट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सौंपना होगा। या तो युद्ध के परिणाम स्वरूप साम्राज्य महा-साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगना जकड़बन्द होगा

या फिर राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचने वालों को विश्व-परिभाषा में रहने वालों के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर हालत में इस द्विभुजात्मक युद्ध की विजयी भुजा को, अब नहीं तो फिर, शेष तीसरी भुजा से निबटना होगा।

यह तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करने वाले दो हाथ हैं। दुःख उसका बल है। वह धरती से लगी हैं, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँचा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ धरती पर पाँव रखता है, आखिर वह भी धरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन धरती वालों का बल अहिंसा है। कारण कोई उनसे पर नहीं है, सब अपने हैं। इसलिए उनमें वैर नहीं है, पक्ष नहीं है। क्या इङ्गलैंड और क्या जर्मनी—ये अलग-अलग नाम तो काम चलाने भर के लिए हैं। धरती माँ को सब एक हैं। उसे इङ्गलैंड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं, इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों धरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है—वह है श्रम। ऊपर वालों के विलास के और वैर के सब खेल धरती से लगे लोगों के सतत श्रम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते रहना है।

गांधी और कुछ नहीं है, मानवता के इसी अन्तरस्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य जाति का अन्तर्मन है, वाणी है, अंतर्ध्वनि है। उसे कुचलकर लड़ा जा सकता है, उसको टाला जा सकता है, अनसुना किया जा सकता है। पर अन्त में उससे सुलटना ही होगा। उससे अपना हिसाब साफ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें, पर होनहार यही है।

बात कुछ बड़ी मालूम होती है। पर यह भूल है कि गांधी मर कर मर जायेगा। शायद अशरीरी होकर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं में लुप्त और जनता के अन्तर्भावों में व्याप्त होकर एक ऐसी शक्ति बन उठेगा वह कि यदि उससे पहले शासकों ने अपना निबटारा न कर लिया होगा तो फिर वह शक्ति, अप्रतिरोध्य और दुर्निवार्य, अटक न सकेगी ओर किसी की सुनेगी भी नहीं। गांधी-पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की प्रकृति से मिलकर वही उद्धत और दुर्द्धर्ष हो उठेगा। तब जो न हो जाए थोड़ा है। जन-मन तब एक अन्धे वेग से उभरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या न तहस-नहस हो जायेगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह संभावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति आयेगी। आवेग तो नवीन बन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गांधी के जीवन के प्रभाव के

दो पक्ष हैं। एक ओर उन्होंने लोक-चैतन्य को जगाया है, तो दूसरी ओर उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्मी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक रोष की अग्नि विवेक की शान्ति बन नहीं गई है, गांधी ने उसे बाँधा ही है।

राजनीतिक वर्ग के लिए यह अनहोनी बात है। जिस शक्ति को चेता कर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गांधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्पर्द्धा, द्वेष आदि भड़काकर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संगठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ अकेले गाँधी ने ऐसे सब दलों को विजित करके भी जीवित किया है। शासकों के लिए गांधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत कीमती है, यद्यपि राजनीतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ अभिन्न और उसका परम-प्रिय होकर भी गांधी उसका शास्ता है। शासकों की भाषा में वह शासकों के साथ निबट सकता है। यह सुविधा गांधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता लोक-शासित भी होते हैं, और शांति चर्चा में वे विशेष सहायक नहीं हो सकते। गांधी पूर्णतया आत्म-शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों और नायकों की मंत्रणा में गांधी सिद्धान्तवादी नहीं जंचेगा। आधुनिक राजनेताओं से गांधी इसी जगह अलग है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है और उँगलियों से काम करना जानता है। वह श्रमिक है और काम-काजी है। वह मुद्दे की बात लेता है और बौद्धिक घुमावों में नहीं पड़ता। वह आदर्श की चर्चा से काम की बात को अलग कर सकता है। अमरीकी विलसन की तरह आदर्शवादी योजना में उसका बहकना, या उसको बहकाना, संभव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी होकर भविष्य के लिए वर्तमान को नहीं टाल सकता, न स्वल्पदर्शी राजनीतिज्ञ की तरह वर्तमान के लिए भविष्य को कीमत में दे सकता है।

उसकी नीति सीधी है। अहिंसा के लिए उसे चर्चा नहीं, चर्खा चाहिए। मानव के विषम सम्बन्ध भावना मात्र से सम और शुद्ध न होंगे, उसके लिए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम को केन्द्र मानकर हमें अपने लिए नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होगा। इससे धन केन्द्रित न होगा। एक ओर दरिद्रता का प्रमाद और दूसरी ओर विलास का आलस उससे समाप्त होगा। संगृहीत धन से औरों में दैन्य और संग्रहाधिपति में दंभ बढ़ता है। इस तरह लोभ और द्वेष का चक्कर चल पड़ता है। तब अस्त्र-शस्त्र तैयार

होते हैं, जिससे सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी की जा सके। इस सम्पत्ति को मूल में लेकर शासन-संस्था का जन्म होता है। अपने और प्रजा के बीच छोटे-मोटे सम्पत्तिशालियों और अधिकारियों की श्रेणी पैदा करके शासन अपने को अनिवार्य बनाता है। विभाजन हकूमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर श्रम की कीमत लगभग समाप्त हो जाती है और चाटुकारिता और चतुराई की कीमत बढ़ जाती है। श्रमिक दलित होता है और हुक्काम के स्वार्थ में साधनभूत होकर श्रमहीन अपने लिए प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समय काटने और खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं और श्रमिक को पसीना बहाकर भी समय और खाना जुटता नहीं है। यह वैषम्य जीवन के प्रकृत मूल्यों को भूलाने से पैदा होता है और गांधी का प्रयत्न उन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा है।

गांधी के जीवन में कोई जटिलता नहीं है। वह सहज और स्पष्ट है। दूसरे की बुद्धि उस पर अपने लिए गोरखधन्धा रच सकती है, लेकिन उसमें उलझन नहीं है। उसका मूलभाव है श्रम और प्रम। श्रम के बिना प्रेम विलास हो जाता है, यज्ञ नहीं रहता। वह ऐसे अकृतार्थ भी होता है। जो प्रेम भोग है वह श्रमहीन है और स्वार्थमय है। वही योग होकर कर्म-रूप और परमार्थमय होता है। श्रम से चेतना स्वाधीन होती है और व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब वह अपने को इन्कार करने की लाचारी में नहीं पड़ता और अपने भीतर के सत्य के स्वीकार में बाहरी किसी बलके भी प्रतिकार को उद्यत रहता है। ऐसा प्रेमी, यानी अहिंसक, सत्याग्रही होकर क्रान्ति का विधाता होता है।

यह प्रकृत मानव-मान का पक्ष शासकों के विचार में कदाचित् ही कभी उपस्थित होता है। वे दफ्तरों द्वारा नक्शों और अंक-गणनाओं से मानव जाति की अवस्था का अनुमान जमा कर अपनी व्यवस्था किया करते हैं। जनता उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दुःख के साथ उनके मन के आन्तरिक सूत्रों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पक्ष की ओर ही उनका ध्यान जाता है, और तब या तो लोभ देकर या दमन द्वारा उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में, अथवा युद्ध में, व्यक्ति एक अंक होता है और गणित के सूत्र से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी ओर भावुक लोग हैं जो समक्ष के व्यक्ति में विश्व देखते हैं और वहीं अपने राग का केन्द्र बना बैठते हैं। यह राग द्वेष पर पलता है। अधिकांश जन इसी गणना में आते हैं। ये ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में समसामान्य रूप और सत्यरूप, शासकों में शासक और साधारणों में साधारण, हैं गांधी। जन-मन के साथ उन्होंने एकता सिद्ध की है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार कहीं ऐसी आन्तरिकता पर है कि दायें-बायें असंख्य मरते हुओं, बिलखते हुओं, के बीच भी उनकी गति, या उनकी मुस्कराहट, मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निर्मम है। शासक के समान बुद्धि की तटस्थता और भक्त के समान हृदय की सहज द्रवणता—गांधी एक साथ स्वयं में दोनों का समन्वय हैं।

गांधी अपने अकेले व्यक्तित्व में दोनों तटों के संयोजक हैं। आदर्श और यथार्थ, स्वप्न और श्रम, धर्म और राजकारण, और विश्लेषण-संश्लेषण। इससे इस युद्ध के अनन्तर जब कि विश्वशांति परिषद् हो, या जगत् व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार हो, गांधी की उपस्थिति वहाँ अनिवार्य है। गांधी न हुए तो उनकी नीति तो होगी ही। उस दृष्टि और उस नीति से अलग किसी दूसरी तरह मानव-हित-साधन और स्थिर शान्ति का विधान हो सकेगा, यह सम्भव नहीं दीखता। ●

गांधी और जनतंत्र

●

जीवन की गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। सामाजिक जीवन की भी सार्थकता इसमें है कि वह जिस शक्ति से चलता और नियंत्रित होता है वह स्थूल कम रहे और उत्तरोत्तर सूक्ष्मता का आकलन करती जाय। इसीको दूसरे शब्दों में यों कहें कि वह हिंसा से अहिंसा की ओर बढ़ती जाय।

विज्ञान का विकास यही है। वह नई-नई शक्तियों का आविष्कार करता जाता है। हर नई शक्ति पहले से सूक्ष्मतर होती है। इसीलिए उसमें अधिक वेग और प्रभाव होता है। पहले ठोस भारपन में शक्ति को कूता जाता था। अर्थात्, शक्ति का अनुमान परिमाण होता था। जिसका जितना वजन, उतना ही वह सशक्त। इसी को अंग्रेजी में 'मॉस' कहते थे। लेकिन यहाँ से आरम्भ करके विज्ञान बढ़ता ही गया है। भाप की शक्ति का हमने आविष्कार किया और उससे एक नये युग का अविर्भाव हो गया। उसके बाद विद्युत्शक्ति का हमने पता लगा लिया। उस कारण जीवन एक साथ तीव्र और विस्तृत हो गया। अब विज्ञान उससे भी सूक्ष्मता में उतर रहा है। जान पड़ता है मनुष्य के हाथ में उस कारण अमित सत्ता और विभुता आ जाने वाली है। चन्द्र-सूर्य और नक्षत्रमण्डल से अब पृथ्वीवासी मानव का सजीव संबंध पैदा हो जायगा। थोड़े दिन बाद लोग वहाँ आने-जाने लगेंगे और जो सीमा मनुष्य को अपने लिए अनिवार्य मालूम होती थी वह मिट चुकी होगी। वह भूवासी से प्रवासी और आगे सौर-मण्डल-वासी बन जायगा। सच ही ज़बतक मनुष्य असीम से अपने को अभिन्न नहीं पा लेगा, उसी प्रकार अनुभव और वर्तन नहीं करने लगेगा, तब तक वह चैन न लेगा और उन्नति करता ही जायगा।

पुरानी धर्म और अध्यात्म की भाषा में हम जानते थे कि शरीर से मानव ससीम हो, अन्यथा वह असीम है। आत्मा की ओर से वह अनन्त है, मुक्त है, निर्बन्ध है। चिन्तन और मनन की भाषा में, काव्यादर्श के रूप में यह मानते हुए भी अनुभव हम अपनी सीमितता का और स्वल्पता का ही करते थे। विज्ञान को हाथ में लेकर आज जैसे पूरी यथार्थता और वास्तविकता के साथ

मनुष्य कह सकता है कि वह ब्रह्ममय है, ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नहीं है, बल्कि पूरी तरह तत्सम है। पुरुष और परमेश्वर के बीच की एकता जो रहस्यवाद और इस तरह एक आदर्शवाद का विषय थी, अब विज्ञान की भूमिका पर आ उतरी है। मनुष्य प्रत्यक्ष देखता है कि अणु में वही सब है जो ब्रह्माण्ड में है। दूसरे शब्दों में अणु स्वयं में कुछ है ही नहीं, जो इस चराचर ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वह उस मूल शक्ति का अंकरूप-ही है।

विज्ञान की खोज जारी है कि वह मूल शक्ति है क्या? यह खोज निरन्तर जारी ही रहेगी, कारण जाननेवाला स्वयं भिन्न जो नहीं है। ज्ञेय के रूप में वह आदिशक्ति सदा अगम ही रहनेवाली है। इसलिए उस अगम और अज्ञेय के प्रति ज्ञान की यात्रा अटूट चलती जायगी और उसमें से मनुष्य अनेक विकास और विस्तार पाता जाएगा।

तो यही अवस्था हमारे सामाजिक जीवन की है। आदिकाल से चलते-चलते हमारा सामाजिक जीवन उस जगह तक आ गया है जहाँ यह पहचाने बिना हम रह नहीं सकते कि एक राष्ट्र के हृदय में कुशंका, भय या हिंसा हो, और यदि उसका स्फुलिंग फूटकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आ पड़े तो विश्व में प्रलय ही आ जायगी। राष्ट्ररूप में संगठित और एकत्रित मानव-समुदाय के भीतर सुलगती हुई हिंसा का कण कितना भयंकर है, इसका अनुभव प्रत्येक को आता जा रहा है। अबतक हिंसक बल के आधार पर हम अपनी उलझनों को काटते आये हैं। जब राजनीति-कूटनीति उलझ गई और आपस में किसी फैसले पर आ नहीं सकी, तो हम झट से लड़ लेते रहे हैं कि अच्छा, हो जाय फैसला – या तुम (सही) या मैं। माना जाता रहा है कि जिसने दूसरे को हरा दिया, मार गिराया वह पक्ष सही था, दूसरा गलत था। इस निर्बल की हार या प्रबल की जीत को हम प्रकृति का नियम मानते रहे थे। प्रकृति से आगे हमने सभ्य जीवन का भी अन्त में वही नियम स्वीकार किया था। आज तक वही नियम चलता आया है। उसी नियम के अधीन राष्ट्र-राज्यों में अब भी फौजें बन रही हैं और अस्त्र-शस्त्र तैयार किये जा रहे हैं। भारत कोई अलग देश नहीं है और वह भी उस सभ्यता के महारोग का अंग ही है। गाँधीजी की बात दूसरी थी। वह रोग के भाग नहीं अपने में 'औषध' रूप थे। इसीसे उन्होंने अपने को राष्ट्र से अथवा राष्ट्र-राज्य से अभिन्न नहीं माना, भिन्न भी माना। उस ज़माने में जब कि स्वराज्य की मांग बेहद तीव्र थी गांधी ने कहने का साहस रखा कि हिंसा से मिलनेवाला भारत का स्वराज्य मुझे नहीं चाहिए। आगे उन्होंने बताया कि जो स्वराज्य हिंसा के जोर से मिलनेवाला होगा वह

जल्दी ही साबित हो जाएगा कि भीतर से स्वराज्य था ही नहीं। ऐसा स्वराज्य कम से कम भारतीय तो नहीं होगा। राजनीतिक स्वराज्य से किसी और का काम चल जाय तो भले चल जाय, भारत का काम उससे गहरा है, आंतरिक है। वह उसी स्वराज्य से सही तौर पर पूरा होगा जो अहिंसा के बल से प्राप्त होगा और आगे भी अपने संचालन के लिए बल के रूप में अहिंसा को ही स्वीकार करेगा।

यह श्रद्धा गांधी की थी, कांग्रेस की नहीं थी। कांग्रेस राजकाजी संस्था थी और उसका दायित्व था कि अंग्रेज जाय तो वह देश का राजकाज हाथ में लें। देश की भाषा से आगे जाना उसे उपलब्ध न था। इसलिए यद्यपि कांग्रेस को गांधी का आशीर्वाद था तो भी यदि वह उस श्रद्धा पर न चल सके, या न चलना चाहे, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

लेकिन यह स्पष्ट है कि अहिंसा के प्रवर्तन को धर्म के और नैतिकता के क्षेत्र से आगे बढ़कर समाज और राज्य के क्षेत्र में आना होगा। अगर राज्य और समाज की भूमिका पर प्रबल का ही बोलबाला रहनेवाला है, निर्बल समझे जानेवाले को भय में दब-सिकुड़कर ही रहना बदा है, तो यह हालत ज्यादा देर तक टिकनेवाली नहीं है। विज्ञान ने, हमारे अपने मस्तिष्क और अनुभूति के विकास ने, हमको परस्पर इतना निकट ला दिया है कि शरीर, संख्या, सेना, शस्त्र के बल का आधार हमें ही झूठा मालूम होने लगा है। फिर उसका खतरा भी सामने आ गया है। उस आधार पर अब जीतनेवाला कोई बचेगा ही नहीं, वह बल अन्त में स्वयं जितानेवाले को हरायेगा। वह बल आत्मघाती बल है। उसके सहारे जो उठेगा वह उसी के सहारे अन्त में मरेगा भी। इस तरह हिम्मत बाँधकर किसी समाज और राष्ट्र को उस बल के भरोसे के त्याग को संभव कर दिखलाना होगा। सामनेवाला निःशस्त्र होना स्वीकार करे तो हम भी शस्त्र समाप्त करने को तैयार हैं—इस वृत्ति से तो हम चल ही रहे हैं। सब चाहते हैं कि हमें अस्त्रशस्त्र का प्रयोग न करना पड़े—सभी चाहते हैं कि ऐसी स्थिति बने कि अणुशक्ति से बम न बनाये जायँ बल्कि वह विधायक और रचनात्मक कामों में आ सके। पर इस चाह के बावजूद बमों के अतिरिक्त और किसी काम के लिए अणुशक्ति खाली नहीं है और उससे भीषण से भीषणतम अस्त्रशस्त्र बनाने की होड़-सी लगी है। स्वयं इस होड़ से ही छोटे देशों को प्रकट हो जाना चाहिए कि सुरक्षा अब मामूली बारूद वाले हथियारों पर निर्भर नहीं है, न वह सैन्य-संस्था पर निर्भर है। वे देश आसानी से अपने सैनिकों में कमी कर रहे हैं जिनके पास आधुनिक शस्त्रास्त्र हैं। अमुक संख्या में 'मैन-पावर (मनुष्य-शक्ति) मिल

कर एक 'हार्सपावर' (अश्व-शक्ति) बनती है और एक मशीन में असंख्य हार्स-पावर (अश्वशक्ति) हो सकती है । इस तरह हजारों-लाखों आदमियों से एक मशीन बढ़ जाती है। जहां एक आदमी एक बन्दूक संभाल सकता है वहां एक दूरमारक अस्त्र की तुलना में हजार-लाख आदमी नगण्य हो जाता है । इस होड़ में मनुष्य अन्त में हारता है और पशु-पावर (अश्वशक्ति) जीतती है । यानी, मनुष्य को समाप्त करके पशु ही रह जाने को शेष रहता है ।

समाज का जीवन जिस शक्ति से चलता हो, अन्त में वही शक्ति कार्य संचालन और सुरक्षा के लिए राज्य के पास रह जाती है । यों अहिंसा राज्य की ओर से नहीं आ सकती । लेकिन यह भी सही है कि राज्य जितना हिंसा के बल पर आधार रखेगा समाज में भी उस बल की उतनी ही प्रतिष्ठा होगी ।

आज भ्रष्टाचार की बहुत शिकायत है । आदमी अनुभव करता है कि हाथ में हथकण्डा हो, कुछ तिकड़म हो, पहुँच हो, तो समाज में नीचे से ऊँचे की ओर उठा जा सकता है । पास में अगर सिर्फ़ भलाई है, परिश्रम है, नेकनीयती है तो इन चीजों के भरोसे नीचे ही रहकर संतोष मानना होगा । यदि समाज की हालत यह है कि नेक और परिश्रमी नीचे रह जाता और चतुर-चालाक ऊपर चढ़ जाता है तो यह अवस्था पुलिस और न्यायालय के जरिये सँभल नहीं सकती । राज्य को पहचानना होगा कि यह संकट व्यवस्था का, तंत्र का नहीं है, मूल्य का ही संकट है । डिमाक्रेसी या जनतंत्र जो मतसंख्या को प्राप्त कर निश्शंक हो जाती है, जनमत के दावे पर ही जनमत से मुक्त और स्वतंत्र हो जाती है, अन्त में तानाशाही की आवश्यकता को प्रकट कर आती है । यही क्यों, स्वयं वह तानाशाही होती है । इसमें व्यक्ति और उसका चरित्र गौण हो जाता है—समूहता को प्रधानता मिल जाती है । गुट होना चाहिए, फिर उसका स्तर चाहे कुछ भी हो, बस आपका स्थान समाज और राज्य में बनता चला जाता है । यदि समाज-जीवन के चलन और नियमन का मूल्य यह दल एवं गुट-संगठन हो जाय तो क़ानून और उपदेश क्या मदद कर सकता है !

गांधीजी के काम का निशाना वही था। वह मूल्य-परिवर्तन चाहते थे । राज्य-परिवर्तन तो अपने-आप में कोई बड़ी चीज ही नहीं है । उसको क्रांति समझना धोखा खाना है । इतिहास में ऐसे धोखे लोगों को बहुत मिले हैं । राज्य क्रांतियां हुई हैं और तत्काल बाद उनसे निराशा हो चली है । गांधीजी ने इन कुशल राजनीतिक मानस रखकर चलने वालों को बताया कि वे धोखे में न रहें, न धोखा दें । राजनीतिक शब्दावली के हेरफेर से यथार्थता बदल नहीं जाती

है। इससे उस शब्द-जाल की माया में समय उतना न दें। कारण, वह समय छल में जाता, छल का वातावरण रचने में लगता है। हाथ के से मंच का काम महत्व का बन जाता है। तब जीवन में विषमता न आए, मुसीबत न बढ़े, तो क्या हो। ऐसा होना तो स्वाभाविक ही हो जाता है। गांधीजी से इसलिए राजनीति में रचनात्मक पक्ष का उदय हुआ। मंच पर बोलने से ज्यादा हाथ की मेहनत को महत्व मिला। राजनीति में एक नये प्रकार के नेतृत्व का उदय हुआ। यह व्यक्ति सीधा-सादा था, उसकी अपनी जरूरतें कम थीं। इसके पास पैसा नहीं होता था। मामूली खर्च में उसका काम हो जाता था। नीचे आदमी के समकक्ष होकर चलने मे वह गौरव मानता था। वह तीसरे दर्जे में चलता था। मामूली से मामूली घर में रहता था—नौकर रख नहीं सकता था। सब काम सफ़ाई धुलाई का अपने हाथ से करता था और यह आदमी समाज में आदर पाता था। उसके कारण सादगी, संयम, त्याग अपरिग्रह का मूल्य समाज के शरीर में रचता जाता था। देखा जाता था कि सद्गुण ऊपर आ रहा है, दुर्गुण स्वयं दब रहा है। अपराध की संख्या उससे अनायास कम होती थी और उपद्रव उत्पात उतने न होते थे। विद्यार्थी-समस्या, यूनियन-समस्या इतनी विकट न थी। न धनिक की ऐश्वर्य-समस्या उतनी दीखती थी। जीवन में उत्साह, उत्कर्ष काम करता था। स्पर्धा की काट की जगह सहयोग की मिठास थी। वह हालत आज नहीं है। तंत्र तो बहुत फैल गया है—सरकारी कर्मचारियों की संख्या कई-कई गुनी हो गई है। कानून भी सख्त बन रहे हैं। कोशिश भी भ्रष्टाचार को मिटाने की पहले से ज़ोरशोर से की जा रही है। पर फल इष्ट नहीं हो रहा है तो इसीलिए कि रोग गहरा है—सामाजिक मूल्यों में विषमता आ गई है।

उन्नति में अनिवार्य गर्भित देखा जाएगा कि वह स्थूल से सूक्ष्म के महत्व की ओर जा रही है। मनुष्य को उन्नति की जाँच आखिर क्या है? वह यही तो है कि उसके सम्बन्ध दूर-पास कितने विस्तृत और सामंजस्य पूर्ण हैं। धन की बहुतायत से तो सीधे मनुष्य की सफलता को नहीं नापा जा सकता। धन सफलता का लक्षण इसलिए है कि वह आदमी की सामाजिक साख का द्योतक है। यदि धन हो और साख न हो, तो वही धन काटने लग जाता है। मनुष्य के बारे में जो सच है वही देश के बारे में भी सच होना चाहिए। देश का बढ़ा-चढ़ा उत्पादन उसका बल है, अगर उसकी साख भी बढ़ी-चढ़ी हो। भारत देश को अवश्य गौरव प्राप्त है कि उससे आशाएं ऊँची हैं। इस संदर्भ में उसकी पंचवर्षीय योजना के अधीन उसकी व्यापार-नीति को सफल गिना जाएगा। लेकिन उसकी आन्तरिक साख निरन्तर कच्ची पड़ती जा रही है!

मैं यह मानने की अनुमति चाहता हूँ कि भारत की अन्तर्राष्ट्रीय साख ऊँची इसलिए है कि वहां हमारी नीति भरसक न्याय औरऔर अहिंसा के प्रति तत्पर रही, आन्तरिक साख यदि ऊंची उतनी नहीं कही जा सकती तो उसका कारण भी यही है कि वहाँ वह उतनी स्वच्छ नहीं रही। वैदेशिक सम्बन्धों में हम गुटबन्दी में नहीं आये हैं। आन्तरिक सम्बन्धों में हम गुटवन्दी से बाहर और ऊपर नहीं जा रहे हैं।

सहयोग और स्नेह के सम्बन्ध किस को प्रिय और मान्य नहीं हैं। लेकिन देखते हैं कि सम्बन्धों में स्नेह और सहयोग का माप रखना आसान नहीं हो पाता—अर्थात् यह केवल भावना का प्रश्न नहीं है। उस में स्थिति ओर परिस्थिति का हाथ रहता है। इसीलिए गांधीजी नैतिक और आध्यात्मिक भूमिका पर कहीं ऊंचे नहीं बने रहे, बल्कि युद्धात्मक और राजनीतिक भूमि पर अधिक कर्मशील दिखाई दिये। इन गांधी को लोगों ने कर्मवीर कहने से आरम्भ किया। लेकिन आगे जाकर दीखा की वह महात्मा अधिक है—कर्म से अधिक उनकी महत्ता आत्मा में है। अर्थात् दूसरे सन्तों और महात्माओं से उनमें यह अन्तर था कि उन्होंने एकांत मन और भावना पर ही ध्यान को केन्द्रित नहीं किया, बल्कि उनके अनुबन्ध और सन्दर्भ को, स्थिति और परिस्थिति को भी आध्यात्मिकता का संस्कार देते जाने की सावधानी रखी।

गांधीजी की आध्यात्मिकता का यह पक्ष अत्यन्त वैज्ञानिक है। समाज-नेता और नेताओं के लिए वह बहुत ही विचारणीय और मननीय होना चाहिए। परिस्थिति में क्रांति लाने की बात नेताजन करते हैं और उसी प्रयत्न में लगे रहते हैं। वे कुछ कर जाते भी हैं। लेकिन फिर इतिहास द्वारा भुला दिये जाते हैं। कारण, मूल्यों में वे तनिक भी परिवर्तन नहीं कर पाते। दूसरे, वे लोग भी हैं जो सूक्ष्म में अर्थात् मूल्यों के क्षेत्र में काम करते हैं। ऐसे दार्शनिक ऋषि-मनीषी पुरुषों को याद रखा जाता है, लेकिन पुस्तकों और शब्दों में अधिक। अपने समय के दीन-दुःखी त्रस्त जनों के प्रति वे कुछ नहीं कर जाते, वहां वे असमर्थ और नगण्य ही बने रहते हैं। गांधी का ध्यान मूल्यों में रहा, साथ ही परिस्थितियों की नब्ज पर से उनका हाथ नहीं हट पाया। वहां से उन्होंने एक नई अर्थ-रचना और समाज-रचना का दर्शन दिया।

जब हम उस सहयोग, स्नेह और सत्याग्रह की शक्ति से ही समाज के काम चलाने का आग्रह रखेंगे तब देखेंगे कि एक नवीन प्रकार की राष्ट्र-नीति और राष्ट्रीय अर्थ-नीति हमको प्राप्त होती है। आज राष्ट्र आपस में एक कँटीली रेखा बीच में डाल कर अपनी सुरक्षा बाँधते हैं। इस तरह पड़ोसी राष्ट्र के

सम्बन्ध में स्पर्द्धा और शंका छूट नहीं पाती। सीमा-रेखा के दोनों ओर चौकी-पहरा रखना पड़ता है। व्यापार भीं इसी नीति के अधीन चलाया जाता है। हर राष्ट्र आयात घटाने और निर्यात बढ़ाने की भाषा में सोचने को लाचार होता है। तब उसकी अर्थनीति विदेशी मुद्रा से इतनी जुड़ जाती है कि उत्पादन का उपभोग से सम्बन्ध टूट जाता है। यानी, आवश्यकता के हिसाब से हम उत्पादन नहीं करते, बल्कि मुद्रार्जन के हिसाब से करते हैं। ऐसे चलकर सारे देश की अर्थनीति औंधी और उल्टी तक बन जाती है। तब निपट गरीबी और घोर अमीरी दोनों साथ-साथ चलती देखी जाती हैं। उत्पादन अधीन आ जाता है सुरक्षा की आवश्यकता के। तब जी-तोड़ मेहनत करनेवाला किसान भूखा रह सकता है, बन्दूक चलाने के सिवा कुछ न करनेवाले सैनिक के लिए हर किस्म की सुख-सुविधा का सामान सजा रहता है!

जब तक हम अपनी रसोई का काम लकड़ी-कोयले से चलायेंगे तब तक वहां धुआँ भरे, तो हम किसी से शिकायत नहीं कर सकते। वह डिमोक्रेसी या जनतंत्र जो जन-मन से अलग सिर्फ़ गिनती के जनमत से अपना काम चलाती है, बार-बार पुलिस और फ़ौज की ज़रूरत में पड़े तो इसमें कुछ अनहोनी बात नहीं है। सच्चे जनतंत्र की बुनियाद गहरी चाहिए। केवल संख्या-बल की नहीं, बल्कि नैतिक बल की। मत की नहीं, विश्वास की। गणना की नहीं, श्रद्धा की। ऐसे जनतंत्र में शासक उत्तरोत्तर सेवक होता जायगा। शक्ति, जिससे काम होगा, स्पर्द्धा से दहकती और भभकती हुई नहीं होगी, बल्कि हार्दिकता से स्निग्ध और मधुर होगी। उसमें से धुवाँ नहीं निकलेगा। गुटबन्दी कम होगी और आधार जीवन के असल मूल्यों का अर्थात् स्नेह और सेवा का होगा। तब सम्बन्धों में तनाव की जगह सद्भाव बढ़ेगा और वह केवल व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं बल्कि अन्तर्देशीय क्षेत्र तक में। तब माना जायगा कि गांधीजी को हमने शब्द से नहीं कर्म से भी मान दिया है। ●

गांधीवाद और साम्यवाद

●

आपका सवाल है कि क्या कभी होगा कि कोई शोषित न होगा और इसलिए शोषक न होगा ? कोई अधिपति न होगा और दास न होगा ? यानि सब बराबर होंगे और सब में सद्भाव और प्रेम भाव होगा। और क्या ऐसा गांधीवाद से हो सकेगा ?

तो मेरा ख्याल है कि नहीं, ऐसा गांधीवाद से नहीं हो सकेगा। क्योंकि ऐसा किसी वाद से नहीं हो सकता। वाद से काम नहीं होते, सिर्फ शब्द बनते है ! गांधी ने खुद गांधीवाद से काम नहीं लिया। यानि गांधीवाद से जब ऊपर की बात पूरी नहीं हो सकेगी, तब यह न समझा जाय कि साम्य के या समाज के किसी दूसरे वाद से इस काम को पार डाला जा सकता है।

यहाँ यह भी बात ध्यान रखने की है कि शोषक या शोषित अमुक व्यक्ति या वर्ग नहीं होता। जैसे मध्यवर्ग के औसत आदमी की बात लीजिये। दो सौ-ढ़ाई सौ रुपए मान लीजिए वह क्लर्की में कमाता है। घर पर उसके महरी बर्तन मांजती है, और सफाई के लिए महतर आता है। यानि एक तरफ वह यदि शोषित है, तो दूसरी तरफ शोषक भी है। एक ओर से दबता है, तो दूसरी ओर से दबाता है। सबका यही हाल है। ओर-छोर की कल्पना ही की जा सकती है। उन ओरों-छोरों पर बैठा हुआ कोई अमुक आदमी नहीं है। यानि हर आदमी अपनी जगह पर शोशित है और शोषक है। शोषण समाज के शरीर में व्यापा हुआ रोग है। अमुक व्यक्ति या वर्ग में इसे मूर्त बना देखने से हमारी समझ को चाहे कुछ सुभीता हो जाता हो, लेकिन वह वैज्ञानिक-यथार्थ दृष्टि न कहलाएगी।

अधिकांश होता यही है। मान लीजिए मैं हज़ार रुपए मासिक खर्च की जिन्दगी बिताता हूँ। मुझे यह जिन्दगी चुभती है, क्योंकि इस दिल्ली में दो-तीन-चार-पाँच हज़ार रुपया महीने के मयार पर भी जीने वाले लोग हैं। मैं अपने को शोषित अनुभव करता हूँ, और शोषण दूर करने के शोर में शामिल हो जाता हूँ। इसलिए दृश्य दीखता है कि सब हाकिम शोषण दूर करने के शोर

में शामिल हैं। वे कपट नहीं करते बल्कि सचमुच अनुभव करते हैं कि शोषण चक्र से वह बाहर नहीं हैं। मैंने केन्द्र के एक मिनिस्टर की दुःख-गाथा उसके मुंह से सुनी है। उसे अपना वेतन काफी होना चाहिए था। फिर भी हैसियत रखनी पड़ती थी। परिणाम कि हर महीने उस पर कर्ज़ चढ़ जाता था।

सारांश कि समाजवाद या गांधीवाद वाद के रूप में दल बनाने का आधार देते हैं, अन्यथा वे हमारी विशेष सहायता नहीं करते। साम्यवादी आज कह सकता है कि हुकूमत गांधीवादी है, क्योंकि मंत्री अधिकतर गांधी टोपी लगाते हैं। इसलिए उस साम्यवादी को यह लग सकता है कि गांधीवाद शोषण को दूर तो करता ही नहीं, बल्कि भावना का लेप देकर उसे और कायम करता है। खद्दर अर्थात् शोषण।

साम्यवादी अगर ऐसा कहे तो हम उसे समझदार नहीं कहेंगे। ऐसा अगर वह कहेगा तो तभी जब साम्य के वाद की उसकी नासमझी ने उसकी समझ को छा लिया होगा।

असल में घट-बड़पन और छुट-बढ़पन तो रहने वाला है। रूस में स्टालिन की हाज़िरी में अगर एक से अधिक कार रहती होंगी, तो क्या जब तक उस देश में हर ऐरे-गैरे के पास कार न हो तो क्या हम यह कहें कि वहाँ वैषम्य का वाद है और साम्य का निषेध है। साम्यवाद को यह समझने में कठिनाई नहीं होती और न होनी चाहिए कि स्टालिन के पास दर्जनों कारों का सुभीता हो सकता था जबकि उसी देश के लाखों-करोड़ों को कार की सवारी तक नसीब न हो। ऐसा होना बड़ी बात नहीं है। पर सिर्फ़ इस ऊपरी बात में से वास्तविकता और यथार्थता को सीधे नहीं समझा जा सकता। ऐसी समझ भोली और भूल भरी है। यानि समस्या को ओवर-सिम्पलीफाइड "बेहद सीधा" बनाकर देखना गलत होगा।

यहाँ मुझे प्रतीत होता है कि साम्यवाद में समाजव्यवस्था के सुधार का हल बेहद सीधा है। ऐसा सीधा जैसे गुणा-भाग का गणित। बस देर इतनी है कि संगठन कैसे किया जाय। और ताकत हाथ में लेकर तख्ता कैसे पलट दिया जाय! फिर तो सब साधन और सब उत्पादन एक अधिकार में होंगे और वहाँ से सबमें यथानुपात सम वितरित कर दिये जायेंगे। किसी के पास ज्यादा नहीं हो पाएगा। इससे स्पष्ट है कि सबके पास काफी हो जाएगा। अपना किसी का कुछ न होगा और सब सबका होगा। इसलिए कठिनाई न होगी और कमी न होगी। और इन दोनों अभावों के कारण, यानि तृष्णा और आपाधापी की वृत्ति के कारण जो दूसरी आधि-व्याधि उपज आती हैं—वे न

होगी। मानव समाज देव समाज होगा और धरती स्वर्ग होगी।

इस नक्शे में कहीं कोई चूक नहीं है। सिर्फ़ एक अटक है। वह यह कि कुछ काल के लिए समाज की सत्ता-प्रभुता के प्रतीक के रूप में एक संस्था आवश्यक रहेगी। वह स्टेट अर्थात् राज्य। यह संस्थान स्वयं में कुछ न होगा, सर्वहारा का प्रतीक भर होगा। सर्वहारा अर्थात् जनता, अर्थात् सभी जन, सिर्फ उन गिनती के लोगों को छोड़कर जो अपने को कुछ अलग और बड़ा समझते आए हैं और अहम्वादी हैं। अहम्मन्यों के लिए वह सर्वहारा की स्टेट कठोर और निर्मम बनेगी। इस तरह अपने बाहर और अपने भीतर के तृष्णावादी, दूसरे शब्दों में पूँजीवादी, तत्वों के प्रति निर्मम और निठुर बने रहकर यह संस्था शेष के प्रति अत्यन्त ममतामय होगी और समस्त विश्व में और मानव जाति में प्रीति का संचार करेगी।

प्लोरेतारियन डिक्टेटरशिप फिर स्टेटलेस सोसाइटी की अवतारणा में सिर्फ एक बीच की मंज़िल है। धीरे धीरे यह संस्था अनावश्यक हो कर स्वयमेव विघटित होती जायेगी।

इस तत्वदर्शन और कार्यक्रम के अनुसार कुछ देशों की शासन-व्यवस्था में उलट फेर हुए। शायद यह हाल की बात समझी जाय और इतना अन्तर न दीखे कि उस परिवर्तन के परिणाम पर निर्णय के साथ कुछ कहा जा सके। तो भी फल सामने है, और उससे विचार के लिए सामग्री मिल सकती है। कुछ लोग उस फल से अनाश्वस्त हैं और घबराते हैं। दूसरे कुछ उधर आशा और आकांक्षा से देखते हैं।

सभी तरह के लोग हैं। इन दोनों तरह के हैं और इनसे अलग दूसरे भी बहुत हैं जो न उधर आकांक्षा से देखते हैं न भय से। बल्कि वे एक अपनी विशिष्ट श्रद्धा रखते हैं। राजकीय दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत निष्पक्ष देश है। दुनिया का राज-प्रकरण मुकाबिले की दो शक्तियों में बँट गया है और उनके बीच तनाव है। समझा जाता है कि युद्ध होगा तो इसी तनाव के टूटने या फट पड़ने से होगा। अत: शान्ति का प्रश्न जैसे इन दोनों महाशक्तियों के आपसी राजनयिक समझौते के हाथ का प्रश्न बन बैठा है।

इस व्यवस्था में क्या तीसरा भी कुछ है? क्या कहीं तीसरा आयाम है? तीसरी शक्ति है? क्या इनसे अन्यत्र कहीं कुछ संभावना है? कोई सहारा है?

कुछ विचारशील मानते हैं कि नंगी शक्तियों के आपसी तनाव या बनाव के हाथ ही मनुष्य जाति का भविष्य नहीं हो सकता है। यह तो केवल संगठित सत्ताएँ

हैं जो मानव जाति के नाम पर बोलने का अवसर पा गई हैं, अन्यथा मान-वात्मा का स्वर उनके साथ नहीं है। वह अंतर-व्यथा गम्भीर है, गहरे में है। वह सांस्कृतिक स्वर राजनीति के घमसान में सुन नहीं पड़ता है, इसलिए वह नहीं है या बेकाम है, ऐसा समझना खतरे की बात होगी। राजसत्ताएँ अन्त में मुट्ठी भर लोगों की ही हैं, मानव-जाति असंख्यक है। वे मुट्ठी भर लोग अलबत्ता संगठित हैं। इसलिए सब कहीं व्यवस्था, वितरण और विनाश के साधन उन्होंने हथिया रखे हैं। लेकिन नित्य प्रति अपने श्रम के पसीने से वस्तुओं का उत्पादन करने वाले श्रमीजन और प्रजाजन की इतनी अधिक बहुतायत है कि यदि वे जग जायें और सहयोग और आत्मानुशासन की कला सीख जायें तो जान पड़े कि व्यवस्थापक के हाथ में चतुराई के सिवा कारगुजारी नहीं थी। कारीगरी तो सब उनके अपने पास है, इसलिए शक्ति का स्रोत और सुख-शान्ति का मार्ग भी उनके अपने अधीन ही है। तो नैष्ठिक दृष्टि उस ओर देखती है, अत: श्रम की प्रतिष्ठा में और श्रम के स्वेच्छित अंगीकार में उसकी श्रद्धा है। निष्ठा के लोग उस दिशा में तीसरे मार्ग की सम्भावना मानते हैं।

भारत का स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयोग भी इतिहास में औरों से भिन्न रहा है। सन्त-महात्मा तो सब देशों और सब कालों में हुए हैं, किन्तु ऐसे राजनेता को इतिहास कम जानता है जो सन्तोपम नीति से अपने राजप्रकरण को चला कर देश को आजादी तक ले आए हों आजादी। युद्ध के बिना और रक्तपात के बिना नहीं मिलती। इस नई तरह के महात्मा राजनेता ने युद्ध भी किया और रक्तपात में से भी वह गुज़रा। लेकिन उसकी अपनी ओर से युद्ध वह था जहाँ दुश्मन को प्यार किया जाता है और जो निहत्थे होकर लड़ा जाता है। जहां खून बहता है तो इस शर्त के साथ कि दुश्मन का खून एक बूंद भी नहीं गिर पाएगा। मनचाहा खून अपना और अपनों का खुशी से बहने दिया जाएगा।

एकाएक गांधी का वह तरीका भावुक आदर्शवाद का मालूम होता है। बौद्धिक को लग सकता है कि उसमें वैज्ञानिक विचार की रीढ़ नही है। वह आर्थिक और सांसारिक पर्याप्त नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक और नैतिक ज्यादा है। लेकिन अब उस गांधीयुग के बीत जाने के बाद लगने लगा है कि महात्मा का करिश्मा कहकर उसको टालना जल्दी करना होगा। वह सिर्फ शगूफा न था बलिक उसके अन्दर कारण-कार्य-परम्परा की एक अबाध्य शृंखला थी। लोग उधर इससे अब देखते ही नहीं हैं, बल्कि अध्ययन के लिए उसमें गहरे भी उतर रहे हैं।

गांधीवाद कहकर उसको पुकारना ठीक नहीं होगा। वह वाद सधी-बंधी

चीज़ है। उस कारण वह चौकस और साफ भी दीखती है। वाद दिमागी होने के कारण सीधी और साफ लकीरें पहने रहता है। गांधी जीवन की यथाथताएं गहरी थीं और गहरी हैं। वाद से वे ज्यादा हैं। इसीलिए किसी वाद से उसे बहस नहीं है, और हर वाद के लिए वहां स्वागत और आशीर्वाद है। वह जीवन बात पर नहीं काम पर ज़ोर देता है। इसलिए वाद उसके लिए सब एक-से सही और एक-से गलत हो सकते हैं। वह विचार ज़िन्दगी के स्रोत से तल तक जाता है। इसलिए निरे बौद्धिक का उस पर स्वत्व और प्रत्यय नहीं जम पाता।

उसमें चलने और करने पर ज़ोर है। उसमें श्रद्धा की मांग है। इसलिए साध्य पर बहस कम है, साधन की सावधानी अधिक है। साधन में विग्रह है, तो परिणाम में संग्रह नहीं आ सकता। युद्ध में से शान्ति नहीं आ सकती। स्टेट की शरण जाने से और उस पर मानव की बलि देते चले जाने से स्टेटलेस सोसाइटी नहीं आ सकती। यहां यह सीधा सच सदा के लिए समझ रखने को कह दिया जाता है। इसमें विशेष झमेला नहीं है और यह आम आदमी की बात है। बुद्धि झमेला रचती है, लेकिन आम किसान सहज श्रद्धा से जानता है कि बोया जो जाता है फल में वही आता है। आरम्भ स्वयं से है और पर के प्रति है, इस स्व-पर की समंजसता में से ही समाज बनता है। स्व-त्व-से और पर के प्रतित्व से स्वतन्त्र होकर कोई समाज की कल्पना नहीं बनती। इसलिए समाज का वाद स्व के संस्कार और भाव-प्रेरणा की शुद्धि से अलग होकर एक व्यर्थवाद का जंजाल ही हो जाता है।

यहां तक तो बात पुरातन अध्यात्मवाद और निवृत्ति-वाद से मिलती-जुलती लगेगी, जिसको सब लोग जानते हैं। धार्मिक लोग उसको लेकर बैठे रहे हैं और अपने लिए सुख सुविधा जुटाकर शेष के दैन्य-दारिद्रय के प्रति विमुख बने रहे हैं। लेकिन गांधी की आत्म-शुद्धि किसी एकान्त में नहीं सिद्ध हुई थी। ईश्वराराधना के उपकरण, माला-कण्ठी, से अधिक आग्रह उनका चर्खे पर रहा। चर्खा जिससे रूई का सूत बनता है, जिससे फिर कपड़ा बुनता है। यानि जपन-मनन नहीं जो अपने आप में रहकर सम्पूर्ण हो जाता है, बल्कि कर्म-श्रम जिससे दूसरे के साथ रिश्ता बनता है। वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और आदान-प्रदान में योग जिनसे सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं और उनके संगठन का निर्णय होता है। गांधी का अध्यात्म उस सबसे दूर नहीं रहा। मानो मानव-सम्बन्धों का यही क्षेत्र था जहाँ उनकी अर्थनीति और राजनीति, धर्मनीति और समाज-नीति अभिन्न अखंड भाव में रची जाती रही।

अर्थात् प्रश्न परस्पर सम्बन्धों का है। सम्बन्धों की स्वच्छता हृदय से निरपेक्ष होनेवाली नहीं है, न सर्वथा वह वस्तु से निरपेक्ष ही हो सकती है। यानि आदर्श समाज की अर्थ-रचना ऐसी होगी कि जहां उत्पादन में भी प्रीति होगी और उत्पन्न वस्तु के विनिमय की प्रणालियों में भी मानव-प्रीति का संचरण होगा। मानव से अन्यत्र कहीं यन्त्र में अथवा तन्त्र में जीवन का अथवा शक्ति का केन्द्र हो जाने से मानव क्षीण होगा, उसके आपसी सम्बन्ध तिक्त और विकृत बनेंगे। उत्पादन के प्रभूत और वृहद् हो जाने से सुख शान्ति का संबंध नहीं है। वह तो सम्बन्धों की स्वच्छता और आत्मीयता पर निर्भर है।

अपने बीच वस्तु सम्बन्धी अभाव को देखकर सहसा जोड़-बाकी की सीधी अंक गणना हमें याद आती है। इसी हृदय-निरपेक्ष तन्त्र-श्रद्धा से लोगों ने माना कि कल के ज़ोर से जो जल्दी और बहुत सा माल पैदा हो जाता है, सो उससे सुख भी ढेर इकट्ठा हो जायगा। बात झूठ नहीं है और बाज़ारों में तरह-तरह का माल अटा पड़ा है। पर कल-कारखानों में पूंजी और महनत डालने वाले दोनों वर्गों में बराबरी नहीं है और सहानुभूति नहीं है। ये मानव-निरपेक्ष आर्थिक सम्बन्ध समाज को स्वस्थ्य और सुखी कैसे बनने दे सकते थे। वैसे उद्योगवाद ने सम्पन्न तो शायद बनाया, लेकिन भीतर से उतना ही विपन्न भी बना डाला।

गांधी के उस भारतीय प्रयोग की तरफ दुनिया की आंख है। विचारक ठहरे हैं और टटोल रहे हैं। उनको लगता है कि यहाँ कुछ मूलभूत जीवन-नीति है, जिसमें से उज्वल भविष्य का मार्ग मिल सकता है। यहां उन्हें जीवन के उन मूल्यों का आभास मिलता है जो टिकाऊ हैं और व्यापक हैं। वे बुद्धि से घड़ लिए गए नहीं हैं, प्राणाहुति में से परखे गए हैं।

गांधी ने गरीब की तरफ निगाह की और उसको दरिद्र-नारायण कहा। साम्यवाद की निगाह भी मजूर और श्रमिक पर है। पूंजी का बटोरना या पूँजी को सिर चढ़ाना दोनों ही को अमान्य है। इत्यादि समताओं से दोनों को एक देखना ठीक न होगा। एक सांस्कृतिक और संग्रहात्मक है दूसरा राजनीतिक और विग्रहात्मक है।

साम्यवाद आंकिक और बौद्धिक-वैज्ञानिक विचारणा का फल है। इससे वह निर्वैयक्तिक और तान्त्रिक हो जाता है। उसमें मानों जीवन का और समाज का भार-केन्द्र मानव से हटकर सत्ता में आ जाता है। मानव सम्बन्धों के लिए स्वेच्छित और सहृदय बनने का वहां कम अवकाश बचता है। वे मानों तन्त्र की अपेक्षा से सधे हुए रहते हैं। साम्यवाद में साम्य का बहुत ध्यान है, इतना कि प्रेम

के वर्त्तन के लिए अवकाश नहीं है। प्रेम साम्य चाहकर नहीं रह जाता। वह सदा दूसरे को बड़ा और अपने को छोटा रखकर कृतार्थ होना जानता है।

गांधी का तरीका यह दूसरा रहा। वह प्रेम का था। निरे साम्य पर उसे सन्तोष न था। गरीब से गरीब को अपने से बड़ा और अपने को गरीब से गरीब के समकक्ष पाने के लिए मानों वह प्रेम छटपटाता रहता था। यही उसकी आध्यात्मिकता थी। अर्थात् दरिद्र जो है नारायण है। दयनीय वह नहीं है, हम हैं जो कि उसके भाग पर जीकर अपने को अमीर समझ बैठे हैं। पाप हमारा है, फल वह भोग रहा है! इस दोहरे पाप का प्रयाश्चित करने के लिए हमें उसे उसका प्राप्य देना है। इस तरह गांधी-नीति केन्द्र को मानव से स्थानान्तरित नहीं होने देती और किसी भी हालत में मन्त्र को अथवा तन्त्र को इतना महत्व नहीं मिलने देती कि मानव उसकी ओट में पड़ जाय। तदनुसार उसकी अर्थनीति भी मानवनिष्ठ है, अंक-प्रधान नहीं है। उसका समस्त विवरण हृदय से स्वतंत्र नहीं है और सहानुभूति से सम्पृक्त है। इससे वह मात्र बौद्धिक नहीं है, प्रत्युत संयुक्त और जीवन से तद्गत है। अर्थात् उस विचार का कोई बस पण्डित नहीं हो सकता, न भावुक उपासक भर हो सकता है। कोई भी शब्दाचार्य उसका दावेदार नहीं बन सकता। हर एक के लिए वह सुलभ है, और उसके अभ्यास और प्रयोग से अलग कोई उसका स्वतंत्र शास्त्र नहीं है। परिणामतः कोई उसका अनुयायी या अनुगत नहीं हो सकता। सब स्वतंत्र और स्वाधीन भाव से उसके प्रयोक्ता ही हो सकते हैं।

प्रश्न आज व्यक्ति और समाज का है। फिर समाज और राज का है। इन सबके स्वच्छ और समीचीन सम्बन्धों का है। जान पड़ता है कि साम्यवाद का शास्त्र इस समूचे प्रश्न को नहीं छूता और नहीं खोलता। वह एक पन्थ की भांति है जो अपने को इतना सही जानता है कि उसी कारण द्वन्द्व उपजाए बिना नहीं रहता है। वह रेखायित हो रहता है—कि रेखा के अन्दर तो सच है, बाहर सब झूठ है। इस प्रकार एक गहरा और तिक्त द्वित्व उससे पैदा हो रहता है और अब दुनिया का उससे काम नहीं चल सकता। कारण, दुनिया बहुत निकट हो आई है। लोग आसपास आ गए हैं और ऐक्य से कम अब कुछ उन्हें नहीं रोक सकता। द्वन्द्व और द्वित्व से आगे साम्यवाद स्वयं नहीं देखता, न देखने की अनुमति देता है। गांधी की आँख अखण्ड ऐक्य पर थी। इसी को राम का नाम देकर वह जीवन के हर क्षण भजता रहा। राम जो सब में रम रहा है। उसी परमैक्य में श्रद्धा गाड़कर उसने कहा कि सत्य पर कितना ही आग्रही रहूं, उसके लिए मर भी जाऊ पर उस सत्य से कोई बाहर नहीं है।

इसलिए अहिंसा से मैं डिग नहीं सकता। सब मुझे आत्मीय है। इससे मैं चाहे मरूं और गिरूं, किसी और को मरने नहीं दूंगा, गिरने नहीं दूंगा।

इस श्रद्धा और वृत्ति की दृष्टि से साम्यवाद और गांधीवाद में, यदि वाद कहने की भूल की जाय तो, मुझे मूल का मिलन नहीं दीखता। यों देखें तो गांधीवाद मिलन-वाद ही है। फिर चाहे साम्यवाद कितना भी विग्रहवाद क्यों न हो! ●

गांधी, नेहरू और हम

नेहरू अब नहीं रहे। सन १९४७ से अब तक के काल को नेहरू-युग कहा जा सकता है। आरम्भ उसका उस भारत से हुआ जिसमें से पाकिस्तान कटकर अलग हो चुका था। भारत का कटा-बटा स्वराज्य तब आया ही था। गांधीजी राजनीतिक क्षेत्र से मानो विचारपूर्वक हट चुके थे। बटवारे के कारण से हिन्दू और मुस्लिम संज्ञाओं के बीच जो गहरा घाव बन आया था वह उसके उपचार में लग गये थे। असल में यह काम उस बुनियाद का था जहाँ से स्वयं राजनीति को आधार मिलता है। खासकर अगर राजनीति को मानव नीति से स्वतन्त्र न रहना हो, युद्ध की विवशता से उसे उत्तीर्ण होना हो, तो वह बुनियादी काम प्रथम महत्व का हो जाता है। कहना चाहिए कि इस कटे-फटे स्वराज्य के दुर्योग के क्षण से ही गांधी जी उस स्वराज्य को सच्चा, संयुक्त और सम्पूर्ण बनाने के जड़ के काम में जुट गये थे। यह शक्ति की राजनीति से दूर हटा हुआ काम मालूम होता था और स्वराज्य का जश्न अगर धूम-धाम से दिल्ली में मनाया जा रहा था तो उस वक्त गांधीजी पांव-पैदल दूर नोआखाली के वीराने में घूम रहे थे। हकूमतें दो भले हो गयी हों, हिन्दू और मुस्लिम के नाम पर हृदय दो नहीं हुए हैं और नहीं हो पायेंगे इस अपने दावे को सच्चा करने में वे लग गये थे।

गांधीजी के बाद वह काम छूट गया और सन् ४७ से ६४ तक क नेहरू युग गांधी जी के छूटे हुए अधूरे काम को आगे नहीं ले जा सका। वैसे वह मुख्यता से रहा उस समस्या से ही व्यस्त और त्रस्त। नेहरू के मन में हिन्दू-मुस्लिम का कोई भेद न था। उनके लिए यह आन की बात थी कि भारत देश और भारतीय शासन धर्म-निरपेक्ष रहेगा, मुस्लिमों का किसी भी लिहाज से यहाँ हिन्दू से दोयम स्थान न होगा। लेकिन कांग्रेस विभाजन मान चुकी थी और नेहरू विभक्त राष्ट्र के प्रधान मन्त्री बने हुए थे। इस तरह वह पाकिस्तान के लोकमत या उसकी शासन-नीति पर किसी प्रकार का प्रभाव डालने में मानो असमर्थ-हो गये थे। भारतीय स्वराज्य के सत्रह वर्षों का यह

नेहरू युग उस प्रश्न से परिणामतः निरन्तर इस प्रकार आक्रान्त बना रहा कि विरसे के रूप में वही प्रश्न आने वाले उत्तराधिकारियों के समक्ष भी दीवार की तरह अड़ा खड़ा दिखाई देगा। पूर्वी बंगाल से लगातार आने जाने वाले विस्थापितों का सवाल है, इधर कश्मीर का सवाल भी खासकर शेख अब्दुल्ला साहब के बाहर आने पर दहकते अंगारे के मानिन्द बन गया है। दो अलग कौमों के रूप में हिन्दू और मुस्लिम को न तो गांधी जी ने माना था, न नेहरू के मन ने एक पल के लिए इसे स्वीकार किया। लेकिन नेहरू विभाजन के अङ्ग थे जबकि गांधीजी ने अपने को विभक्त नहीं होने दिया था, न किसी विभक्तता के साथ अपने को जुड़ने दिया था। दूसरे शब्दों में हिन्दु-मुस्लिम-ऐक्य गांधी जी के लिए सत्य और वास्तव्य बना रहा। नेहरू के साथ उससे उलटा हुआ। संकट बन कर यह हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न उन पर छाया रहा, उनको घेरे रहा और उनके सारे चिन्तन और कर्म को चुनौती देता रहा।

यह मूलभूत अन्तर है और इसको पहचानने की जरूरत है। गांधीजी नीति और नैतिकता की भूमिका से इस प्रश्न की ओर बढ़ते थे और इसलिए उस सम्बन्ध में उनका अधिकार अक्षुण्ण और अखण्ड रहता था। नेहरू की भूमिका राजनीतिक हो जाती थी और उसमें अहं शक्ति का, चाहे अनचाहे ही हो, मेल हो जाता था। उससे प्रश्न उलझता था और उसमें पेच पड़ जाते थे। हृदय की भूमिका रह नहीं जाती थी और सवाल अस्मिताओं को सतह पर उतर आता था। हृदय-परिवर्तन की जगह कुछ हारजीत का वातावरण बनता था और परिणाम में तनाव होता था।

नेहरू अपने जीवन के आरम्भ से ही गांधी जी के प्रभाव में आ गये थे। उन्हीं से उन्होंने सार्वजनिक प्रवृत्ति की शिक्षा और दीक्षा पाई। उनके मन पर गहरा प्रभाव पड़ा गांधी जी के अनोखे व्यक्तित्व और चरित्र का। लेकिन गांधी के ईश्वर का, प्रार्थना का और उनकी धर्म-चिंतना का स्थान वहां नहीं बन सका। मस्तिष्क को जो संस्कार उनकी विलायती शिक्षा-दीक्षा ने दिया था वह किसी तरह धुल नहीं सका। फिर भी उससे एकदम भिन्न प्रकार का आदर्शवाद गांधी के सम्पर्क के कारण उनमें घर कर बैठा। नैतिक मूल्यों की आस्था और आवश्यकता के बारे में नेहरू उस तरह उदासीन फिर नहीं रह सकते थे और न ही रहे कि जितने पश्चिम के राजनेता रह जाते हैं। किन्तु यह हृदय का प्रश्न था, मस्तिष्क को जो संस्कार पश्चिम से मिला वह तो रहता ही चला गया।

इन परस्पर विपरीत वृत्तियों के साम्य और वैषम्य के परिणामस्वरूप

नेहरू युग ने अपना निर्माण पाया। देश ने तरक्की की और कई बाँध और कारखाने ऐसे खड़े हुए कि एशिया में उनका सानी नहीं है। वैज्ञानिक और यांत्रिक प्रगति में वह एशिया में सबसे आगे आ गया। जापान का यदि अपवाद हो तो हो, किन्तु उसकी औद्योगिक प्रगति का आरम्भ आधी सदी से भी अधिक पहले हो चुका था। इस सब प्रगति की दिशा में गांधी-विचार नहीं जा सकता था। यह विशेषता थी तो नेहरू नीति की विशेषता थी कि इस संक्षिप्त काल में देश आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से एकदम पिछड़ी हुई अवस्था से मानो औद्योगिक प्रतिस्पर्द्धा के क्षेत्र में आ गया। उसकी अन्तर्राष्ट्रीय साख बढ़ी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों और प्रवृत्तियों में उसने अधिकारपूर्ण योग दिया और भाग लिया।

लेकिन दूसरी ओर नये प्रश्न भी पैदा होते चले गये। भारत हिमालय और तिब्बत से सुरक्षित था। लेकिन तिब्बत बीच में से एकाएक खत्म हो गया और हिमालय सुरक्षा के बजाय संकट का चिन्ह बन गया। पाकिस्तान की ओर से उठने वाले सवाल बढ़ते ही चले गये। चीजों की कीमतें बढ़ी और दस से बीस गुनी तक पहुंच गयी। अमीर-गरीब के बीच की खाई बेहद चौड़ी हो गई। शहरों में आलीशान मकान बने और गाँव उजड़ते चले गये। रोजगार बढ़े, उससे ज्यादा बेरोजगारी बढ़ गयी। सरकारी मुलाजिमों की तादाद कई गुनी होती गयी और इन्तजाम कई गुना ढीला होता चला गया। रुपये का चलन तेज हुआ और उसी परिणाम में भ्रष्टाचार बढ़ा। राजनीतिक दल उतने ही सिद्धान्तहीन और चरित्रहीन बनते गये कि जितने वे चुनाव द्वारा शक्ति हथियाने से संलग्न हुए।

नेहरु-युग इन दोनों प्रकार की गतियों में सबसे विशिष्ट माना जाएगा। मानना यह भी होगा कि नेहरू के व्यक्तित्व की और नेतृत्व की ही यह प्रतिच्छाया थी। निसंदेह अत्यन्त कर्मठ और प्रखर वह व्यक्ति था। दिल से उदार, उतना ही दिमाग से सम्पन्न। लेकिन जैसे दिल और दिमाग के बीच कहीं कोई कड़ी अन-जुड़ी रह गयी हो। उनकी उदारता और सहृदयता का लाभ बाहर के मित्र ने ही नहीं उठाया, बल्कि देश के भीतर के 'मित्रों' ने भी पूरा-पूरा उठाया। अपने काम में वे चौकस थे और अपने को ज़रा भी आराम नहीं देते थे, लेकिन अपनी उदारता में दोष पर दुर्लक्ष अवश्य कर जाते थे। ज़ोर डालकर या आजिज़ी जताकर लाखों करोड़ों की रकम उनसे मंजूर करा ली जा सकती थी। वे सदा स्वयं सुभीते की स्थिति में रहे थे, इसलिए सम्पन्न और सुविधापूर्ण स्थिति का वर्ग उनके मन के निकट हो सकता था। चुनाचे सामाजिक शालीन-

ता का मूल्य उनसे बढ़ा और सीधी-सादी सादगी की कीमत किसी कदर घटी। मूल्य चरित्र से हटकर चतुराई पर आ गये और अंतरंग से बहिरंग की अधिक पूछ होने लगी।

ऐसा लगता है कि कर्म और स्वप्न की एकतानता गांधी नेहरू को नहीं दे पाये। परिणाम यह हुआ कि नेहरू-युग में काम-धाम खूब हुआ, जीवन में वेग आया और एक पर एक आनेवाली पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादन बढ़ा और निर्यात बढ़ा। लेकिन इस सब सफलता के साथ-साथ ऐसा भी लगा जैसे कि अपने स्वप्न से देश दूर होता जा रहा है...डेमोक्रेसी है, सोशलिज़्म भी हो रहा है। डेमोक्रेटीक सोशलिज़्म की तरफ निश्चय ही बढ़ा जा रहा है। पर रामराज्य कहां है? क्या वह कहीं आस-पास दीखता है? निश्चय ही तरक्की है और सबको मानना पड़ता है। पर जाने मन में यह सवाल बना रहता है कि यह तरक्की है तो उसकी दिशा क्या है? लक्ष्य क्या है? तरक्की जो की जा रही है वह आखिर क्या पाने के लिए?

और ठीक यही चीज़ थी जो लगता है अन्त की ओर खुद नेहरू में चुभन देकर उठने लग गयी थी। रह-रहकर उन्हें नैतिक मूल्यों की और उन पर बल देने की आवश्यकता की याद आती रही। लेकिन नैतिक के समक्ष आर्थिक का जो वेग उन्होंने खोल दिया था मानों उसमें फुरसत नहीं मिल पाती थी। और बहाव जो खुल ही गया था वह अपनी बाढ़ में सब कुछ को डुबोता हुआ बढ़ता चला जा रहा था। आशा होती थी कि प्रधानमंत्री नेहरू में क्या कभी नेता नेहरू जागेगा? उस प्रवाह को मूल से पकड़कर उसे नया मोड़, नयी दिशा दे सकेगा? संशय नहीं कि उस मोड़ की आवश्यकता थी जिससे लक्ष्य-स्पष्ट हो और प्रवृत्तियों की विविधता में दिशा की एकता आए। दिल और दिमाग दो तरफ न चलें, बल्कि दोनों आत्मा की एक आवाज़ को सुनें और दोनों तद्गत होकर चलना स्वीकार करें।

किन्तु नेहरू अपना योग पूरा कर गए। निश्चय ही ऐतिहासिक उनका काम था और जिन संकटों और परिस्थितियों से उन्हें सामना लेना पड़ा उनमें कोई भी दूसरा व्यक्ति टूट जा सकता था। नेहरू की पारदर्शी निर्मलता और नि:स्वार्थता थी कि वह देश की नाव को उन सब भँवरों में से पार खेते ले आये। इतिहास के कम ही ऐसे नायक पुरुष होंगे जिनको इतनी कठिन परीक्षा में से तिरना पड़ा हो। घर की समस्याएं कम न थीं, दूसरा कोई होता तो उनमें घिर जाता। नेहरू की दृष्टि पार देखती रही और प्रशासन में घिर कर भी कविता उनमें मन्द नहीं हुई। उनकी वसीयत कविता ही नहीं तो और क्या

है ? उसमें कहीं भी लोकाकांक्षा की झलक नहीं है, अपने को भविष्य में अमर कर जाने की लालसा नहीं है। उसी में न सख्त ताकीद है कि उनका अवशेष कुछ शेष न छोड़ा जाय -- उनकी आखरी राख को भारत के खेतों में बिखेर दिया जाय कि उसकी मिट्टी में रचकर और सिंचकर वह यहां की हरियाली में खिले और महके !...यह बहुत विरल संयोग है। राजनेता उद्दाम होता है। प्रेम से अधिक उसमें प्रतिस्पर्द्धा का बल होता है। वह धरती पर प्रभुता का भोग करता है और समय के आयाम के लिए मानो खो जाता है। कारण, काल को चुनौती देता हुआ जो जीता रहता है वह तो प्रेम है। प्रेम की वाणी, प्रेम की कृति। शेष तो नश्वर है और क्षण के साथ खो जाता है। नेहरू राज-नेताओं में अपवाद है। प्रेम का स्वर उनमें सर्वथा मन्द या मूर्छित नहीं हुआ और उनकी रचानाओं में से उसकी मीठी महक मिले बिना नहीं रहती। रोज़ के झगड़े-झमेलों के पार नेहरू की निगाह वहां रही, जहां से कोई या कुछ उसे नहीं फेर सका, कि जहां मानव-जाति एक होगी और मनुष्य सब एक-दूसरे के लिए होंगे। कोई किसी के लिए खतरा नहीं रहेगा, बल्कि हर हरेक के लिए आश्वासन बनेगा।

भारत के तमाम इतिहास में इतने विशाल प्रदेश पर व्यवस्थित शासन करने वाले नेहरू के अलावा दो महापुरुषों के ही नाम आते हैं। एक अशोक, दूसरे अकबर। किन्तु ये दोनों ही सम्राट् थे। नेहरू वह है जिन्होंने सम्राट् बनने से इन्कार कर दिया। वह आग्रहपूर्वक अन्त तक एक इन्सान, सामान्य इन्सान की हैसियत में अपने को बनाये रहे।

उनका सानी दूसरा नहीं मिलेगा। क्या देश में, क्या देश से बाहर। जैसे कि उन परिस्थितियों की समता और तुलना भी कहीं और नहीं मिल सकेगी। लेकिन जो आता है वह जाता है और पीछे की पीढ़ियों पर अपना भार और आभार छोड़ जाता है। भारत ने गांधी को पाया, जिनके नेतृत्व में उसने ऐसी अनोखी पद्धति से स्वराज्य प्राप्त किया कि सारा मानव-इतिहास उससे जग-मगाता रहेगा। भारत स्वतंत्र होकर ब्रिटेन का मित्र बना जो अब तक के इतिहास के क्रम को देखते सर्वथा अनहोनी घटना थी। स्वतंत्र भारत की ओर से विश्व को नेहरू गांधीजी की ही देन थे। आशय यह नहीं कि वह गांधीजी की अनुकृति थे---उस रूप में वह सर्वथा मौलिक और स्वतंत्र व्यक्तित्व थे। किन्तु गांधीजी की भांति उनका लक्ष्य और उनका अन्तःस्वभाव विश्वजनीन था और दोनों का प्रभाव विश्वशान्ति की दिशा में उपयुक्त हुआ। इस विशिष्ट परम्परा की थाती अब आयी है उस कांग्रेस-संस्था पर कि जिसके द्वारा इन दोनों

विभूति-पुरुषों ने काम किया । यह सबके लिए विस्मय और संतोष की बात हुई है कि कांग्रेस ने एक-मत से अपने नेता का निर्वाचन किया है । यदि इसी कुशलता और उदारता का परिचय कांग्रेस ने अन्तर्दलीय क्षेत्र में दिया तो देश में उस भावात्मक एकता का बीज पड़ सकेगा जिसकी बहुत आवश्यकता है। दलीय लोकतंत्र ही लोकतंत्र का अंतिम स्वरूप नहीं है, उसमें विकास की गुंजाइश है। विकासपूर्वक हम निर्दलीय लोकतंत्र तक भी पहुंच सकते हैं। ऐसा कुछ यदि भारतवर्ष सम्भव करके दिखा सका तो गांधीजी से आरम्भ हुई परम्परा सफल हुई मानी जायगी । आशा रखनी चाहिए कि कांग्रेस के मतिमान बन्धु उस ऊंचाई को कल्पना में लाने में समर्थ हो सकेंगे । तभी अपने इन उल्लेखनीय पूर्वजों के प्रति उन्हें उऋणता मिली मानी जायगी । ●

गांधीवाद का भविष्य

●

आपके विशेषांक के लिए कुछ लिखने की आपकी आज्ञा पर, अचरज है, मैं क्या लिखूं ? आपकी प्रस्तावित लेख-सूची में एक शीर्षक है : गाँधीवाद का भविष्य। इस विषय पर जब तब मेरे मन में विचार उठते रहे हैं। सोचता हूँ, उनको ही यहां स्वरूप देने का यत्न करूं।

एक बात स्पष्ट है। जब तक गांधी हैं तब तक गांधीवाद शब्द ही मिथ्या है। गांधी इतने अधिक सजीव और विकासशील हैं कि वह अपने समूचेपन में क्या हैं, यह पूरी तरह बांधकर नहीं कहा जा सकता। वह अपने जीवनकाल में किसी गांधीवाद को प्रारम्भ नहीं होने देंगे। गांधीवाद के मानी ही होते हैं कि गांधी शास्त्र की भाँति ज्ञेय और ज्ञात हैं। ज्ञात ही नहीं, बल्कि वह ज्यामिति-प्रतिपाद्य की भांति सुनिश्चित और रेखा-बद्ध हैं। लेकिन जो रेखा-बद्ध हैं, वह और कुछ भी चाहे हो गांधी वह बिल्कुल नहीं है।

गांधी अपने पैर के नीचे जरा भी घास उगने नहीं देंगे। वह अपने प्रति इतने अधिक सच्चे और इतने अधिक सावधान हैं कि व्याख्याकार का कोई घेरा अपने चारों ओर वह नहीं बँधने देंगे। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, विधानाधीन और नियत नहीं हैं।

ठीक इसी से प्रश्न होता है कि जब गांधी न होंगे तब भविष्य उनकी वाणी और उनके चरित को लेकर कैसे वर्तन करेगा ? क्या गांधी को लेकर कोई वाद बनेगा, या कि पंथ या धर्म बनेगा ? गाँधी को लेकर भविष्य क्या कुछ करेगा यह बड़ा गम्भीर प्रश्न है, और यह प्रश्न आज के चिन्तक के लिए अनिवार्य भी है। आज दिन गाँधी का प्रभाव इतना गहरा और इतना विस्तृत है कि यह असंभव है कि गाँधी नाम की प्रेरणा अभी चुक जाय और भावी इतिहास को प्रभावित न करे। मेरी तो धारणा है कि भारतवर्ष के ही नहीं, प्रत्युत मानवता के आगामी इतिहास में गाँधी के नाम का बड़ा भाग होगा।

पर वह क्या होगा ?

यहां एक और बात साफ दीखती है। गाँधी का अनुयायी स्वयं गांधी

नहीं है । वह स्वयं में गांधी नहीं होगा । इसलिये गाँधी के व्यक्तित्व की लचक, उस व्यक्तित्व की विविधता और सम्पूर्णता उसमें नहीं होगी । गाँधी अहिंसक है, अनुयायी अहिंसावादी होगा । वह किसी कदर कट्टर होगा । वह गाँधीं की भांति सत्य का शोधक इतना नहीं जितना कि मापे हुए सत्य का रक्षक होगा । सत्य उसके लिये एक उपलब्धि और अन्तिम साध्य ही नहीं होगा प्रत्युत् उसके निकट वह एक संपत्ति, एक स्वत्व भी होगा ।

गाँधी के जीवन में एक महा-समन्वय की अभिव्यक्ति हो रही है । वह भक्त है, पर कूट राजनीतिज्ञ भी है । महात्मा है, संसारी भी कम नहीं है । आदर्शोपासक है, पर व्यवहार में किसी से कम विचक्षण नहीं है । समन्वय की यह शक्ति गाँधी के बाद धीमे-धीमे कम देखी जायगी । परिणाम यह होगा कि गाँधीवाद आदर्श अधिक और लोकतन्त्रोपयोगी एवं आवश्यक कम रह जायगा । यानी गाँधी की अनुपस्थिति में लोक-नेतृत्व गाँधीवादियों के हाथ न रहेगा । गाँधीवाद एक प्रकार की पवित्रता और सात्विकता का बोधक होगा । उसकी प्रबलता और तेजस्विता कम हो जायगी । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर लोक-कर्म की प्रगति और गांधीवाद इन दोनों में एक प्रकार की रगड़ अवश्यम्भावी है । उनमें संघर्ष होगा । लोक-कर्म गाँधीवाद को ललकारेगा, दुतकारेगा । संघर्ष जोर का होगा ।

ऐसे समय मुझ को स्पष्ट दीखता है कि गांधीवाद प्रगति की राह में रोड़ा समझा जाने लगेगा । आशय है कि लोकनायकों और लोकनेताओं का वर्ग अपने कामों में गांधीवाद को क्रमश: एक भारी अड़चन के रूप में देखने लगेगा । मेरी धारणा है कि सामने से गांधी के अस्तित्व के लोप हो जाने के बाद कोई पन्द्रह-बीस वर्षों में ही स्थिति इस अवस्था को पहुँच जायगी । गांधीवाद को चुनौती मिलेगी और उसे चुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी ।

मेरे मन में यह प्रतीति पत्थर की भांति पक्की होती जाती है कि जल्दी ही समय आयगा जब कुछ गांधीवादियों को शहीद बनना पड़ेगा । वे समाजतन्त्र के प्रति विद्रोही करार दिये जावेंगे और उनको दण्डित किया जायगा । वह समय गांधीवाद की परीक्षा का होगा । इसी के साथ यह विश्वास मुझे है कि कुछ गांधीवादी निकलेंगे जो कच्चे साबित नहीं होंगे और अपनी टेक पर डटे रहेंगे ।

गांधीवाद के परीक्षण का यह काल कितने दिन चलेगा, यह कहना कठिन है । परीक्षा तीखी होगी । पर गांधी का नाम जिन तत्वों का बोधक है वे तत्व हारेंगे भी नहीं । कसौटी पर वे खरे उतरेंगे और ज्यों-ज्यों दमन बढ़ेगा

गांधीवाद की लपटें वैसे ही वैसे फैलेंगी। मेरी अपनी धारणा है कि वह विश्व के इतिहास में एक नया युगारंभ होगा। दो संस्कृतियों का तब अन्तिम संघर्ष होगा। एक आध्यात्मिक, दूसरी भौतिक। गांधीवाद इस समय वाद नहीं रहेगा, वह धर्म हो जायगा। यह उस समय एक ऐसा जबरदस्त सजीव स्वप्न होगा कि समस्त मानवता उसको लेकर मुक्ति की चाह में हुंकार भरने लगेगी। उसकी गरज को और उसकी रौ को रोकना असम्भव होगा। इस्लाम और ईसाइयत के प्रारम्भिक फैलाव में जो दृश्य गुजरे हैं, उनसे भी महान् दृश्य विश्व के भावी इतिहास में गांधीवाद को लेकर घटित होंगे।

लेकिन ध्यान रहे, गांधी इस समय तक अपने आप में एक व्यक्ति अथवा चरित नहीं रहेगा, प्रत्युत सम्पूर्णतः वह एक स्वप्न, एक Vision हो जायगा। उस पर कोई दो व्यक्ति एकमत न होंगे। और एक बार जब गांधीवाद गांधी-धर्म बन कर विश्व विजय करता दीखेगा, तब उसमें भेद-विभेद और सम्प्रदाय-आम्नाय बन चलेंगे। यानी वह होगा जो धर्मों के इतिहास में होता आया है।

गांधीवाद के भविष्य को लेकर जो चित्र मेरी कल्पना में उठे हैं, मैंने ऊपर दे दिये हैं। मुझे उनमें असंगति तनिक भी नहीं दीखती, बल्कि एक प्रकार की अवश्यंभाविता ही दीखती है। ●

अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

●

एक भाई ने अपरिग्रह की बात को उठाया। कहा कि संस्था के लिए भी धर्म अपरिग्रह क्यों न हो ? व्यक्ति के पास बचा हुआ नहीं चाहिए, तो संस्था के पास ही कोष क्यों चाहिए ? महीने के खर्च से ज्यादा होना ही गलत। उपयोगी और प्रिय बनकर जो जीयेगा उसे साधन की भी चिन्ता न रहेगी। संस्था के लिए इस नीति में अपवाद नहीं हो सकता। आगे से हम वर्ष की प्राप्ति को वर्ष में ही खर्च कर देने का विचार रखते हैं, कुछ बचा नहीं छोड़ना चाहते। इसमें हमारी श्रद्धा की परीक्षा होगी और जड़ता को जमने का अवकाश न रहेगा।

यह भाई सांस्थानिक है और उनकी बात मुझे अच्छी लगी। पर निश्चिन्तता मुझे नहीं हुई। पूछा, देखिये आप शाला चलाना चाहते हैं। उसके लिए जगह कहीं तो होगी। वह होगी भी किसी की। वह प्रेम से मिलेगी या दाम से। अब जगह या मकान परिग्रह ही है। अपरिग्रह में उसके साथ क्या करना होगा ?

भाई को वह प्रश्न शायद बेकार तक मालूम हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि धन इसी तरह किसी-न-किसी चोर मार्ग से हमारे विचार में घुस आया करता है। उसमें ही अनर्थ होता है। संस्था स्थापित-स्वार्थ हो जाती है, यानि संस्था का स्वयं एक स्वार्थ बन जाता है। इस तरह अपरिग्रह की कठोर चौकसी से चले बिना गति नहीं। आवश्यक खर्च निकलते ही आना है। नहीं अगर निकले तो मोह क्या, प्रयोग ही तब छोड़ देंगे। इत्यादि।

भाई में उत्साह था। पास पैसा भी था। अपने आदर्श भाव में वह निःशंक थे। इस सबसे मेरे मन में प्रशंसा का उदय हुआ।

यह बात बम्बई की है। बम्बई धन की नगरी है। निर्धन अव्वल तो वहाँ पहुँच नहीं सकता, पहुँचे तो उसका पता नहीं चल सकता। यानी हम दोनों वहाँ अपरिग्रह की बात चला सके, तो इस आधार पर कि धन नीचे था। धन बिना बम्बई पहुँचते कैसे ? कंद-फल-मूल जहाँ तरसते हैं कि उन्हें

स्वीकार करे, ऐसे वन मे तो हम थे नहीं। आज ऐसा वन कहीं बचा है इसका भी निश्चय नहीं। इसलिए जान पड़ा कि अपरिग्रह की बात धन की है, धन के कारण वह धर्म है।

अपरिग्रह में मुझे आस्था है। हो भी कैसे नहीं? कारण, किसी को कुछ को मैं अपना कहूं तो वह दावा टिकेगा कब तक? लाया मैं क्या साथ था और ले भला क्या जा सकता हूँ? जिन्दगी का सफर अकेला है और बिन-साथ। इस लिए 'मेरा यह, और 'मेरा वह' मानना भ्रम ही है। भ्रम पोस सकता हूँ, पर कै घड़ी? अन्त में तो उसे टूटना है। इससे पहले से भ्रम न रखना क्या समझदारी नहीं है? अपरिग्रह यानी 'मेरी नहीं'। इस 'मेरे' के भाव को हम क्रम से सब कहीं से उठा लें तो उसे अपरिग्रह की सिद्धि माननी चाहिए। जितना ज्यादा मेरा होगा उतना मैं बिखरा और उलझा रहूँगा, जितना कम रहेगा उतना स्वतंत्र और स्वस्थ रहूगा। यह बात सीधी है और अमोघ है।

पर फिर भी दिक्कत होती है। उस दिक्कत को पकड़ना है, टालना नहीं है।

धर्म आत्मा की चिन्ता करता है और उसी ओर से चलता है। आत्मा क्या, यह कहते नहीं बनता। कहने चलते हैं तो नकार की भाषा हाथ रह जाती है। जो है, वह न-इति है। इससे धर्म की भाषा विधि-निषेध की हो जाती है। वहाँ निषेध द्वारा विधान करना होता है, अन्यथा विधि बनती ही नहीं। सत्य से, ब्रह्म से, या उस प्रकार के निर्गुणात्मक स्वयं-भावी किसी दूसरे शब्द से आगे चलते ही नकार शेष रह जाता है। जैसे अहिंसा, अपरिग्रह, अक्रोध आदि।

'अ' निश्चय ही यहाँ सूचक मात्र है। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है। न वस्तु का अभाव अपरिग्रह है। ऐसा हो तो धर्म अभावात्मक हो जायगा। 'अ' अभाव का नहीं, भाषा की असमर्थता का द्योतक है। यह जान लें तो धर्म का रूप बदल जाता है। संसार से तरने के साथ स्वयं संसार को तारने की शक्ति बन जाता है। तब वह प्राण वग को मुक्त करता है। समस्या से वह बचता नहीं, हृदय में जाता और वहां से उसे निष्कृति अथवा परिष्कृति देता है।

अपरिग्रह नया धर्म नहीं है। चिन्मय होकर नया वह हो भी कैसे सकता है। वह तो सनातन है। लेकिन जिस अपरिग्रह पर तीर्थङ्कर निर्जन वन में दिगम्बर हो रहे, रंचमात्र आवरण अपने ऊपर नहीं ले सके, उस अपरिग्रह से आज के युग के गांधी जी का अपरिग्रह नया है। दिगम्बर की जगह अपरिग्रह में यहाँ ट्रस्टी और न्यासी होना है।

गांधी जी का दिया हुआ 'ट्रस्टी' शब्द मानों अवसर की रक्षा कर देता है ! अपरिग्रहवादी की बात भी रह जाती है और परिग्रहवाले की ममता पर भी जैसे आघात नही पड़ता । वामपक्ष विचारक इसलिए उस शब्द की खिल्ली उड़ाता है ! दक्षिण पंथ का विवेचक भी उससे सहज अतृप्त हो रहता है । यह 'ट्रस्टी' (संरक्षक) शब्द दोनों के सन्तोष और असन्तोष का कारण है। इस शब्द की ओट में सारा पूँजीवाद सुरक्षित रखा है, ऐसा साम्यवादी का अभियोग है । उधर ध्येयवाद भी जो तप में तृप्ति खोजता है, इस शब्द में भोग के प्रवेश के लिए द्वार खुला देखता है ।

फिर भी इस शब्द को सहसा हमें फेंकना नहीं है । पूंजी जिसके पास है वह पूँजी का अभिभोक्ता न होकर सिर्फ अभिभावक होगा यह बात तब तक कैसे मानी जा सकती है जब तक निजी सम्पत्ति का ही कानूनन लोप न हो जाए ? और निजी सम्पत्ति का निर्मूलन यानी सम्पत्ति का समाजीकरण । इस विचार धारा का मन्तव्य है कि आत्मा की ओर से चलकर बात को व्यक्ति के मन पर छोड़ देना पड़ता है । और यहीं सब चौपट हो जाता है । नहीं, उसे व्यवस्था की ओर से लेना और बाकायदा कानून का रूप दे देना होगा । यह साम्यवादी विचार-धारा है, जिसमें बात को भावनाश्रित नहीं छोड़ा जाता । इसका कहना है कि ऐसे तो हर अन्याय से पूंजी बटोरकर फिर ट्रस्टी शब्द के सहारे सकुशल बने रहने की गुंजाइश हो आती है, या कि आगे बढ़कर फिर दानी, दयालु और उपकारी बनने का मायाचार चल सकता है । नहीं, साम्यवाद वैसा अवकाश न देगा । वह व्यवस्था ऐसी चौकस करेगा कि जिस पर दान के नाम पर संग्रह न हो सके ।

स्पष्ट है कि साम्यवाद की तर्क-शृंखला में कहीं कोई कड़ी ढीली नहीं है । शुद्ध आत्मदृष्टि से तो वह सारी कड़ी तर्कशून्य ही है । कारण, उस दृष्टि में जगत् माया है, वस्तु मात्र 'पर' हैं और उसकी प्रतीति छलना है । उस अर्थ में अपरिग्रह पर यह सोचने का जिम्मा ही नहीं कि आत्मा से शेष अनात्म का क्या होता है । किन्तु आत्म के प्रति जो अनात्म है, क्या वह परमात्म के प्रति भी अनात्म अथवा पर ही है ? तब तो परमात्मा के अतिरिक्त भी दूसरी सत्ता को मान लेना होगा । यदि परमात्मा है ही वह जो अद्वैत है, जिसमें जो है सब है; काल एवं आकाश, जो भेद-बोध में निमित्त है, स्वयं जिसमें होकर हैं, तब तो मानना होगा कि 'स्व' और 'पर' की भाषा 'स्व-पर' में ऐक्य साधने की दृष्टि से ही है । उसका भी सापेक्ष मूल्य है, नितान्त में भेद नहीं है ।

यों देखें तो आत्म की ओर से यदि दृष्टि है, तो दर्शन वस्तु की ओर

मे है। द्रष्टा और दृश्य का एकीभाव दर्शन है। इस रूप में अपरिग्रह की कृतार्थता वस्तु से अछूते रहने में नहीं है, वस्तु के मध्य खुले रहने में है। यानी वह जो अपरिग्रह के प्रति 'अ' से आरम्भ करके उस 'अ' पर ही समाप्त होता है, मुक्ति साधन नहीं कर सकता। 'अ' पर बल देने से वह बल अपने आप बाह्य पदार्थ पर भी जा पड़ता है। वह आन्तरिक अनिवार्यता इतिहास की इस घटना में घटित देखी जा सकती है कि अपरिग्रह पर सबसे अधिक आग्रह करने वाला आम्नाय, यानी जैन, मानों लगभग निरपवाद भाव से आज वैश्यवर्गीय है। आधुनिक जैन का व्यवहार-धर्म संग्रह है, क्योंकि अतिरिक्त बल से उसका आदर्श-धर्म असंग्रह है। जैन नागरिक धनी और अनगारी दिगम्बर (तक) हैं। इस विरोधाभास के मर्म में जाने से ऊपर की बात साफ हो जानी चाहिए।

अपरिग्रह में जब मुख्यता से हम परिग्रह समझे जाने वाले पदार्थ से अपनी आत्मरक्षा खोजते हैं, तब अनजान में उसकी पदार्थता को, जड़ता को, हम महत्ता पहना रहे होते हैं। यह सम-भाव के लिए घातक स्थिति है. स्वस्थ चेतना पदार्थ से बचने की नहीं सोच सकती, बल्कि उसकी सृष्टि और उसकी संघटना में लगती है।

इस तरह अपरिग्रह के विचार के लिए वस्तु के उत्पादन और निर्माण के साथ चलने की आवश्यकता और उपयोगिता प्रगट हो आती है। सब कुछ मेरा हो यदि यह मेरी वृत्ति है, तो मेरा कुछ न हो यह मेरी साधना की दिशा हो सकती है। पर जगत् की समस्या है कि क्या, कितना, किस-किस का है। अपरिग्रह इस समस्या के निपटारे में यहाँ तक तो अनिवार्य सहायता करता है कि वह मुझे स्वयं में दावेदार होने से बचाकर एक तार के कसाव को कम करता है। अर्थात् वह मुझे मेरी समस्या में उत्तीर्ण करके जगत की समस्या को स्वीकार करने योग्य बना देता है। किन्तु उससे आगे जैसे उसका आधार काम नहीं देता, आगे जिसको परिग्रह माना उसी पर-पदार्थ की समीचीन व्यवस्था का प्रश्न आता है। जाहिरा वह पदार्थ में असंलग्न नहीं संलग्न होने का प्रश्न है, पर गहरा देखें तो वह प्रश्न भी अपरिग्रह धर्म का ही रूप है। मेरी अंतरंग निवृत्ति ही उस प्रकार की प्रवृत्ति में मुझे बल दे सकती है। अन्यथा पदार्थ की ओर से मुंह मोड़कर साधी जाने वाली अपरिग्रही निवृत्ति मुझ में अन्तर्भूत प्रवृत्ति की जड़ों को क्षुब्ध और अन्ततः उद्धत ही करनेवाली है।

मैं चीज न रखूं, इसमें चीज कहीं जाती नहीं; चीज की व्यवस्था का सवाल ज्यों का त्यों खड़ा ही रहता है। और मैं अगर उससे वंचित होकर अपने को कृतार्थ और उस चीज की अपेक्षा में अपने को एकान्त बना लेता हूँ, तो

उस चीज को लेकर पैदा होने वाली अव्यवस्था को काटने में मैं असमर्थ बनता हूँ। ऐसे नागरिक और सामाजिक दायित्व से मैं च्युत होता हूँ। अब कोई आदमी नहीं जो असामाजिक ठहर पाये। साधु-संत बल्कि अधिक ही सामाजिक होते हैं। मेरा परिवार इना-गिना हो, साधु को तो वसुधा कुटुम्ब है। इसलिए अपरिग्रह को पदार्थ की उपेक्षा में सिद्ध समझकर केवल नकार को साधने चलना दायित्व से बचना है।

इसीलिए आध्यात्मिक के प्रति-पक्ष में सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म लेना हुआ। सम्पत्ति समाज की मानकर उसे अपनी मानने से मैं सहज मुक्त हो जाता हूं। समाज की है, इसमें यह तो गर्भित ही है कि वह मेरी नहीं है। ऐसे अपरिग्रह समाजवाद के पेट में ही रखा है। अपरिग्रह की संगति समाज-वाद से भी आगे है, यह बताने के लिए भी अपरिग्रह को समाजवाद वाले प्रश्न का हल करने आगे आना होगा।

समाजवादी दृष्टिकोण लेकर चलने वाला दर्शन तो विज्ञान भी बन गया। विज्ञान से भी आगे वह राजनेताओं के व्यवसाय का पथ-प्रदर्शक बन गया है। उसने विशुद्ध तर्क-गणित को जमा फैलाकर बता दिया है कि सब कुछ समाज का है और इस सत्य को इस-इस प्रकार संघटना में लाना होगा। समाज का अनुशासन शासन-संस्था में मूर्त होगा, अर्थात् स्वत्त्व सब राज्य में केन्द्रित होगा। व्यक्ति तब 'मैं' और 'मेरे' से सहज छूट जायगा। व्यक्ति की शक्ति और चेष्टा इस भाँति समाज-हित में व्याप्त होकर कृतार्थता प्राप्त करेगी।

'सम्पत्ति ?'

'सम्पत्ति सब राज्य की होगी। स्वयं व्यक्ति राज्य का होगा।'

'राज्य क्या होगा ?'

'वह सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) होगा।'

'सर्वहारा-वर्ग क्या ?'

'वह वर्ग जिसके पास सम्पत्तिके नाम पर सिर्फ श्रम है। श्रम धन की आत्मा है। वह सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य है। इससे राज्य पर शुद्ध श्रमिक वर्ग का आधिपत्य होगा। और सम्पत्ति श्रम की धरोहर के रूप में राज्य के हाथ होगी।'

हम देखें कि इस तर्क-शुद्ध रचना में अपरिग्रह की हानि कहीं नहीं है। और अ-काराग्रही अपरिग्रह इसके समक्ष कदाचित् मौन और निरुत्तर हो जा सकता है!

फिर भी हानि है। कारण, वह सिर्फ़ नक्शा है। नक्शे की नदी में

नहाया कभी नहीं गया। राज्य एक धारणा है, जैसे कि नक्शे की नदी धारणा होती है। धारणा के साथ व्यवहार आसान होता है। समूची गंगा नक्शे में हमारे अंगूठे के नीचे आ सकती है, जब कि मुझ से लाखों जनों को लाखों वर्षों से गंगामाता अपनी गोद में सुलाती चली श्रा रही है। इससे राज्य का भी यथार्थ मानव यथार्थ से विशेष भिन्न नहीं हो सकता। नाम बदलने से ही काम नहीं चल जाया करता। मैनेजिंग एजण्ट डायरेक्टर हो जाय, या डायरेक्टिग कमिश्नर या सुपरवाइजर, या कमिस्सार — स्थिति में अन्तर तभी आयेगा जब उन नामों से सत्ता और धन के संचय पर बैठा हुआ आदमी लोभी की जगह त्यागी होगा। किताव का कानून उस वक्त ज्यादा मदद नहीं करेगा। आदमी के मन में तृष्णा होगी तो तन्त्र का शब्द उसे व्यर्थ नहीं कर पायेगा। इससे व्यवस्था का प्रश्न यद्यपि गणित का प्रश्न है, किन्तु अन्त में उसका मानव से सम्बन्ध है, इससे वह हृदय की अर्थात् धर्म की भाषा से अछूता नहीं है।

गांधी जी का शब्द 'ट्रस्टी' इसी जगह हमारी सहायता करता है। धनिक धन के साथ पूरा न्याय करना चाहता है तो उसे यथार्थ में अपरिग्रही बनना होगा। धन के प्रति न्याय, अर्थात् उसका भरपूर हितोपयोग, अपरिग्रह का सारांश है। आत्मा की उपासना का अर्थ धन की अवहेलना नहीं है। धन समाज-शरीर का रक्त है। उसके निरन्तर और सम प्रवाह पर ध्यान न रखना अहिंसा नहीं हिंसा है, अपरिग्रह नहीं मूर्छा है। सोना-चाँदी धातु हो सकते हैं जो सिर्फ बोझ हैं, लेकिन आदमी की शारीरिक और मानसिक तथा अन्य श्रावश्यकताओं को पूर्ति से जुड़े होने के कारण उनके अर्थ का विज्ञान उतना व्यर्थ और मिथ्या नहीं है। आज के दिन यदि अपरिग्रह में सार माना जायगा तो तभी जब वह उस पर प्रभुता पा सके जिसे परिग्रह माना है, उसे आत्मभूत और आत्म-साधक बना सके।

अपरिग्रही ही उस व्यक्ति को होना है जो आज सार्वजनिक धनस्रोतों के मुहाने पर है। आज का वह व्यक्ति अपरिग्रही नहीं होगा तो कल सच्चा अपरिग्रही उसकी जगह लेगा। कुछ और सम्भव नहीं है। भोग गिरेगा और उत्सर्ग ही उठेगा। सार्वजनिक ट्रस्ट, जब तक ट्रस्टी अपरिग्रही न होंगे, केवल सार्वजनिक त्रास उत्पन्न करेंगे। हुकूमत स्वयं एक सार्वजनिक ट्रस्ट है। फौज और कानून उसे वहाँ नहीं टिका रख सकते, सिर्फ़ अपरिग्रह रख सकता है। अर्थ-सीमित जिसकी दृष्टि है, अर्थ की व्यवस्था उसे नहीं सौंपी जा सकती। अर्थ में उसे मान होगा, लोभ होगा और इस तरह वह लोक-मानस में विषमता लाने का कारण हो जायेगा। आज का धनिक वही है, पहले का धनिक वह न था।

पहले दृष्टि में धन नहीं सिर्फ व्यवहार में था, दृष्टि में धर्म था। पहले धनिक समाच-शरीर में उस गाँठ और गिल्टी के मानिन्द न था जो रक्त-विकार को अपने अन्दर रोक कर फूलने लगती है। अर्थ की समुचित व्यवस्था के लिए दृष्टि नैतिक नहीं आर्थिक चाहिए, यह मिथ्या प्रवाद छाया हुआ है। पश्चिम के राज-दर्शन और अर्थदर्शन ने यह वहम फैलाया है। उसको अब काटने की जरूरत है और उसके लिए ऐसे नीतिनिष्ठ पुरुषों की जरूरत है जो उसी अनासक्त भाव से धन से व्यवहार करें, जैसे भंगी मलमूत्र से करता है। मलमूत्र के सम्बन्ध में अपरिग्रह नहीं सिखाना होता, बल्कि उलटे यह बताना होता है कि खाद तो सोना है, फेंकने के नहीं, संग्रह करने के योग्य है। धन के अपरिग्रह में भी धन की उपयोगिता और धन के समीचीन व्यवहार की शिक्षा गर्भित होनी चाहिए।

अर्थवाद अर्थ के सम्बन्ध में आदमी को तृष्णालु और ईर्ष्यालु बनाकर पहले अव्यवस्था उपजाता है। फिर पार्टी-गठन और पार्टीक्रान्ति की आकांक्षा, और अन्त में राज्यवाद। अभाव-बोध और अर्थ-बोध के बल पर यहाँ हठात् उन अर्थार्थी आंखों में इतना रोमांस भर दिया जायगा कि उनका बाकी सब दर्शन, सब स्वप्न राज्य के प्रति लुब्ध हो रहें। अर्थ की तो समस्या है; समाधान सिर्फ नीति में है। समस्या को आर्थिक जानकर समाधान को भी अर्थ में खोजना खुजाने से खाज मिटाने जैसा है।

अपरिग्रह आत्म का अस्त्र है। इसीसे उसका उपयोग, उसका प्रभाव अनात्म के प्रति है। अर्थतन्त्र अर्थार्थियों के हाथों चलकर उलझन और बन्धन उपजाने वाला है। तब क्या आत्मार्थी ऐसा हो सकता है, जो अर्थतन्त्र चलाये ? हां, हो सकता है, और हो तभी त्राण है। गांधी जी का कोरा मजाक न था जब वह कहते थे कि मेरी कई दुकानें चल रही हैं! सचमुच ही दुकानदार की तरह अपने रचनात्मक संघों की पाई-पाई का वह ध्यान रखते थे। करोड़ों रुपया लोगों का लेकर अपनी दूकानों में लगाने में उन्होंने अध्यात्म की क्षति नहीं देखी! बल्कि इसी में से सत्यरूप परमेश्वर की सच्ची उपासना का उन्होंने लाभ अनुभव किया। अपरिग्रह ही उन्हें करोड़ों के फण्डों का संचालक बनने दे सका। ऐसे उन्होंने धन को धन्य किया, देने वालों को भी धन्य किया और उन लाखों श्रमिकों के हक को उन तक पहुंचाया जो अपनी सब तपस्या भूलकर मान रहे थे कि वे दरिद्र हैं! अपरिग्रह की लगन गांधी जी में इतनी तीव्र रही कि अपने को मिल सकने वाली एक पाई से भी वह विमुख नहीं हुए! अपरिग्रह का उनके निकट अर्थ था कि मुद्रा-धन शहर से देहात की ओर बह उठे,

उसी लाचारी से जिससे बादल का पानी धरती पर बरसता है। धन धरती का है, धरती में पसीना डालने वालों का है।

वह धरती से ही उठकर जाता है। अतः वापस धरती में उसे पहुंचा देने में कहीं किसी का उपकार नहीं है, केवल सबकी कृतार्थता है।

समाज का और धन का विज्ञान आकांक्षा और तृष्णा के नियमों से चले और आत्मा का और नीति का अभ्यास उसके विमुख निवृत्ति और निष्कर्म की रेखा पर चले, तो जीवन के इस समानान्तर बिलगाव से कभी कुछ न होगा। ऐसे विस्फोट पास आयेगा और युद्ध उभरेगा, क्योंकि नीति और शक्ति तब परस्पर विरुद्ध दिशा में समान बल से खिचकर एक शून्यावस्था उत्पन्न करेंगी। उस शून्य को भरने के लिए 'यू-एस-एसवाद' और 'यू-एस-एस-आर-वाद' अपने-अपने तोहफे लेकर यहाँ आ धमकेंगे। इससे समय है कि समग्र समन्वय की भारतीय संस्कृति में से, जिसके प्रतिष्ठाता गांधीजी थे, हम अपना आदेश प्राप्त करें और उद्योग की योजनाओं को अध्यात्म की योजनाओं से कदम-बकदम मिलकर चलायें। ●

अहिंसा का बल

●

एक सम्पादक भाई अहिंसा के कायल थे। पर गांधीजी के यहां उन्होंने देखा कि भजन गाया जा रहा है—

सुनेरी मैंने निर्बल के बलराम।
जब लग भुज बल अपनो बरत्यो
नेक सरो नहीं काम!
निर्बल ह्वै बलराम पुकार्यो
आये आधे नाम॥
द्रुपद-सुता निर्बल भई ता बिन
गहलाये निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई
वसनरूप भये श्याम॥
अपबल, तपबल और बाहुबल
चौथा है बलराम॥
सूर किशोर कृपा से सब बल
हारे को हरिनाम॥

सुनकर इन भाई को गांधीजी की अहिंसा पर बड़ी अश्रद्धा हुई। यही क्या बलवान की अहिंसा है? यह तो उल्टे निर्बल बनाने वाली है। ऐसा हरि-नाम का भजन राष्ट्र को निर्बल नहीं तो क्या बनायगा? यह क्या गुलामी की मनोवृत्ति को बढ़ाना ही नहीं है? अहिंसा तो हमें चाहिए, पर ऐसी राम-नाम का आसरा थामकर चलने वाली बोदी अहिंसा से भला क्या होना-जाना है?

चुनांचे लौटकर उन सम्पादक भाई ने अपने पत्र में लिखा कि अहिंसा के नाम पर यह तो निर्बलता की सीख दी जा रही है। महाभारत में पाण्डवों को विजयी करनेवाली हमें कृष्ण की अहिंसा चाहिए। हमको अग्नि के समान तेजस्वी अहिंसा चाहिए। भगतसिंह वाली और शहीदों वाली अहिंसा चाहिए।

मेरी विनम्र सम्मति में सम्पादक भाई अहिंसा को नहीं समझे और उन्हें उस शब्द के साथ खेलना नहीं चाहिए।

लेकिन सम्पादक बंधु को यहां छोड़ा जा सकता है और विचार किया जा सकता है कि अहिंसा में बल है, तो किस प्रकार का बल है। बल ही असल में क्या है ? ऊपर के भजन में सब बल हार जाने पर 'हारे को हरिनाम' का बल प्राप्त होना बताया है। इसमें क्या आशय है ?

आदमी को आज हम पशु से निर्बल नहीं कह सकते। पशु से वह श्रेष्ठ है, यानी बल में श्रेष्ठ है। शेर उसके सरकस में है और हाथी पर वह सवारी करता है।

पर यह भी स्पष्ट है कि शेर के पंजे और दाढ़ के आगे आदमी नाचीज है, और हाथी के पांव-तले आकर आदमी की जान बाकी नहीं बचने वाली है।

फिर भी आदमी उन पशुओं से बल में हीन नहीं है, तो क्यों ?

उत्तर है कि जिस बल से पशु बलवान हैं, उसको तो आदमी ने हेच बना दिया है। उसको तो अबल ही बनाकर रख दिया है। क्योंकि उसने एक ऊंचे बल का आविष्कार किया है। उसको बुद्धि-बल वगैरह कहा जाता है। उसके आगे पशुबल नपुंसक बना दीखता है।

आरम्भ में आदमी अन्य वनचर प्राणियों में एक था। प्रकृति की कृपा से मानो वह वंचित था। नख पैने नहीं, दाढ़ तेज नहीं। देह से दुर्बल। शीत-ताप से बचने को बालों का लबादा भी उसे प्राप्त नहीं। प्राणियों में सबसे अभागा प्राणी उसे कह सकते थे। तरह-तरह के अभावों से घिरा था और हैरान था।

पर यह अभाव ही प्रकृति की ओर से आदमी को वरदान हुआ। उस आदमी के द्वारा विकास को एक कदम आगे जो बढ़ना था। इसी से वह निबल बना, ताकि एक नये बल का आविष्कार करे।

आदिम मानव की चेतना चहुं ओर के दबाव से अभिभूत हुई। भय से उसे भीत रहना पड़ता था। वह अनायास अपनी रक्षा करने में असमर्थ था, जीवन रक्षा तक के लिए उसे पुरुषार्थ की आवश्यकता थी। प्रकृति ने उसे अभाव दिया कि अभाव में से आविष्कार का उदय हो।

तब से अब तक सभ्यता का इतिहास नये बलों के आविष्कार का इतिहास ही है। प्रत्येक नवीन बल ने पुराने बलों को अबल ठहरा दिया है। असल में नवीन बल का आविष्कार सदा ही उस व्यक्ति द्वारा हुआ है जिसके मन में पुराने बलों की अबलता पहले ही घर कर गयी है। आविष्कारक दुनि-

यावी सफलता से विमुख रहे हैं और प्रतिभावान धनाकांक्षी नहीं होते। क्यों ? क्योंकि दुनियावी सफलता और धन की यथार्थता से एक ऊंची यथार्थता का आभास उन्हें होता है। तब उनके लिए लोकवैभव आदि अयथार्थ ही हो उठता है। समूचे इतिहास के भीतर जिस-जिसनें कुछ दिया, यानी मानवता के धरा-तल को ऊँचा उठाया, उसने तत्काल के प्राप्य को हेय माना, और आगे की सम्भावनाओं को अपनी साधना से सम्भव बनाया।

अहिंसा का बल बेशक किसी भी दूसरे लौकिक बल के प्रयोग को स्वेच्छापूर्वक त्यागे बिना सम्भव नहीं हो सकता। वह अहं-बल नहीं है। इस-लिए बुद्धि-बल से भी वह भिन्न है। दुनिया में जिन बलों को हम जानते हैं, उनसे वह निराले प्रकार का है। उस बल से बलवान आदमी उतना ही अपने को विनम्र मानता है, वह उतना ही सेवक बनता है। क्योंकि वह अहं का नहीं है, इसीलिए वह हरि का है। अर्थात् सच्चा अहिंसक पुरुष अपने को प्रार्थना-पूर्वक शून्यवत मानता है।

इसीलिए अहिंसक शक्ति सम्पादन करनेवाले को उत्तरोत्तर अकिंचन बनना होता है। जिसके पास धन के, कुल के, विद्या के, बुद्धि के, बल के गर्व के लिए स्थान बचा है, वह अभी अहिंसा के बल का पूरा पात्र नहीं है। अभ्यं-तर को उन सबसे जितना अधिक खाली किया जायगा, उतना ही सच्चे अहिंसा के बल को व्यक्तित्व में आने का अवकाश होगा।

जो आस्तिक है उसे अपने ईश्वर के सिवाय दूसरा और सहारा ही क्या चाहिए ? इसलिए उसे अस्त्र भी नहीं चाहिए। अस्त्र शंका में से और भय में से आता है। लेकिन आस्तिक को शंका कैसी ? और उसको भय किसका ? मृत्यु में भी क्या वह अपने ईश्वर की कृपा और उसके आदेश को ही नहीं देखता ? इसलिए मृत्यु की भेंट में भी उसे कोई झिझक नहीं है। वह सम-भावी है। उसे अविश्वास की जरूरत नहीं, क्योंकि वह आत्मविश्वासी है। किससे लड़ने को वह अस्त्र बाँधे ? उसका ईश्वर तो सब कहीं है।

इसलिए प्रार्थना में से ही वह अपना बल प्राप्त करता है। वह बल कारुण्य में से बनता है और स्नेह उसके दान का स्वरूप होता है।

क्या हम जिसे बल कहते हैं उसे भीतर से समझने का प्रयास उठा सकते हैं ? अगर उठा सकते हैं, तो हम देखेंगे कि उस प्रकार के हर एक बल के नीचे एक निर्बलता की अ-स्वीकृति है। क्रोध में ताकत है, पर क्रोध में समझ की कमजोरी है और उस कमजोरी को न मानने की कोशिश है। शेखी अन्दर की कमी की अनुभूति को ढकने के लिए बनती है। बहादुरी, सिपाहियाना

बहादुरी, कौन कहे कि एक प्रकार के भय का ही बचाव नहीं है ? अर्थात् सब प्रकार का अहं-बल अपने भीतर की निर्बलता की विमुखता में से आता है। भीतर ही भीतर हम जानते हैं कि हम निर्बल हैं, पर मानों हम अपने को ही जतलाना चाहते हैं कि हम निर्बल नहीं हैं। इसी द्वन्द्व की स्थिति में से तमाम लौकिक बलों का जन्म होता है।

लेकिन जब हम खुलकर धन्य भाव से अपनी अबलता को स्वीकार करते हैं और उसे मानों आंसुओं के रूप से ईश्वर के चरणों में, जो ईश्वर कि सब शक्तियों का स्रोत है, विसर्जित कर देते हैं, तो वह आत्म-शक्ति प्राप्त होती है जो कभी हार या टूट नहीं सकती। वह मूल तक खरी है, वह विनय की लचक से लचकीली है, वह श्रद्धा पर कायम है, वह प्रार्थनामय है।

हम दुनिया का इतिहास देखते तो हैं। साम्राज्य ध्वंस हो गये। सरकारें बदलीं, क्रांतियां हुईं। एक राज्य के शव पर दूसरा राज्य कायम हुआ; राजा हट गया तो पार्टी आ गयी। पार्टी गिरी कि अधिनायक उठ खड़ा हुआ। इस तरह एक-एक आदर्श के नाम पर हम मार-काट मचाते और विधानों के साथ प्रयोग करते हुए चलते ही चले आये हैं। हम जान गये हैं कि स्वतन्त्रता, समता, एकता आदि-आदि के पीछे खून बहाते हुए हम बढ़े हैं, तो इस पार आकर यह भी पा लिया है कि हम मृग-तृष्णा के पीछे ललकते रहे हैं। हिंसा का रास्ता बंधुत्व तक नहीं पहुंच सका, नहीं पहुंचायेगा। तर्क की माया है जो हमें सब कुछ समझा देती मालूम होती है। आदमी कब अपने को छल नहीं सकता ! पर अहिंसा के बल से ही एकता बढ़ सकती और विश्व-बंधुत्व आ सकता है। क्योंकि वही बल है जिसमें अहंकार का पोषण नहीं होता, बल्कि विसर्जन होता है। नहीं तो तरह-तरह के आदर्शों के नाम पर और राष्ट्रीयता के नाम पर अहंकारों को पुष्ट किया जाता है। उससे बंधन ही बढ़ सकता है, स्वतन्त्रता के दर्शन नहीं हो सकते। कारण, शासन-पदों पर बैठे हुए लोगों में अदल-बदल हो जाने से जन-स्वातन्त्र्य का किंचित भी सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए जिससे मानवता का सच्चा हित होगा, जिसमें छल की सम्भावना नहीं है, वह बल सेवा का बल है, श्रद्धा का बल है, ईश्वर के समक्ष अपनी निरीह अकिंचनता की सम्पूर्ण स्वीकृति से प्राप्त होने वाला निरहंकारी बल है। बाकी सब अपने ही भीतर की राक्षसी माया है। ●

अहिंसक आरम्भ

●

आज सवेरे ही अखबार में ऊपर यूनान के झगड़े की खबर छपी मिली। बड़ी लड़ाई की बात तो सब जानते हैं। वह मित्रों और शत्रुओं के बीच शुरू हुई। लेकिन यूनान के उत्पात में तो मित्रों के अपने बीच में से ही शत्रुता फूट निकली दीखती है। उस खबर को पढ़कर मैंने सोचा कि अहिंसा को धर्म मानने वाले आप लोगों के साथ मुझे आज जिस अहिंसा की बात करनी है, वह क्या है? उसका इस विकट युद्ध से, यूनान के झगड़े से, संक्षेप में हमारी समूची स्थिति से कोई सीधा सम्बन्ध है कि नहीं? या कि वह एक आदर्श सिद्धान्त है, जो तब लागू होगा जब हम मनुष्य देवता स्वरूप हो जायेंगे!

सचमुच जो काम की नहीं है बिचार की ही है, ऐसी वस्तु पर समय वह लगावे जिसे काम न हो, फुर्सत हो। फुर्सत यहां किस समझदार को रक्खी है। हर पल कीमती है। स्थिति का दबाव इतना है कि जो रुका, वह गया। हर घड़ी चौकस और चौकन्ने रहने की जरूरत है। इस तरह अहिंसा यदि ऐसी चीज नहीं है जो हमारी और आपकी हर रोज की जिन्दगी को मदद दे और आगे बढ़ाये, तो समझदार होकर हम उस पर चर्चा करने में समय नहीं खोयेंगे।

लेकिन मैं अहिंसा को बात की नहीं, काम की चीज मानता हूं। जो बात की ही है वह अहिंसा हिंसा है! यानी विवाद और चर्चा से असली अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा परम धर्म है, जिसका मैं यही अभिप्राय लेता हूं कि जीवन की हर स्थिति में अहिंसा संगत है। देश और काल के भेद से उसकी सत्यता में अन्तर नहीं आता। अहिंसा भाषा-निर्भर नहीं है, वह भाव में है। वह हृदय की चीज है। सच पूछिये तो अहिंसा की भाषा मौन है और उसकी अभिव्यक्ति शब्द से अधिक कर्म में है। अहिंसा की चरितार्थता के लिए किसी को विद्वान् होने की आवश्यकता नहीं है। सेवा-भावी और उत्सर्ग-शील विद्वत्ता के बिना भी हुआ जा सकता है, और अहिंसा का सार यह सेवामय उत्सर्ग ही है।

वैयक्तिक धर्म के रूप में ही अहिंसा को विचारने और पालने से उस

सम्बन्ध में कुछ भ्रम होता देखा जाता है। ऐसी अहिंसा वर्तमान को ही पुष्ट करती, किन्तु उसे भविष्य की दिशा में गति नहीं देती है। अभीष्ट क्रान्ति के मार्ग में इस तरह वह अवरोध बन जाती है। उसमें असामाजिकता का तत्त्व आ जाता है। वह स्वार्थ पोषक बनी हुई देखी जाती है।

बेशक अहिंसा की एकांगी मान्यता में से यह दुष्फल फलित देखने में आता है। अध्यात्म एवं धर्म आदि संज्ञाओं के साथ भी ऐसा मनमाना व्यवहार हुआ है। पर यह तो मानव प्राणी का दोष है जो हर शब्द को अपने प्रयोजन की नीचाई तक खींच लाता है।

पर कौन अपनी एकाई के रूप में पूर्ण है ? कोई निज में स्वयं ही होकर नहीं जनमता। जगत् में अवतीर्ण होने के साथ ही नाना सम्बन्धों से वह यहाँ के अनेक लोगों के साथ युक्त हो जाता है। व्यक्ति समाज का अंग है और अविभाज्य है। यहां तक कि मृत्यु के बाद भी स्मृति के रूप में वह शेष ही रहता है। महावीर, बुद्ध और दूसरे महापुरुष हम में होकर आज भी क्या जीवित नहीं है ? और आने वाली पीढ़ियों में भी क्या उनका प्रभाव लुप्त होने वाला है ? इस तरह व्यक्ति का गुण-दोष-मय व्यक्तित्त्व उसकी निज की चिंता का विषय ही नहीं, वह सामाजिक और सार्वजनिक चिंता का विषय भी होता है। निजता की सीमा कहीं है ही नहीं। हलकी-सी कंकरी से पड़ी लहर का वृत्त फैलते-फैलते जैसे जल-तल की इयत्ता तक व्याप्त हो जाता है, उसी तरह व्यक्ति से आरम्भ हुई भावना भी उत्तरोत्तर व्याप्त होती है। अनेक के बीच वह एक है सही, पर उसकी निजता अपने में उतनी ही सफल और सिद्ध होगी जितनी कि वह उन अन्य अनेक के साथ ऐक्य की अनुभूति पा सकेगा।

जाने-अनजाने जीवन के समस्त व्यापार हमें उसी दिशा में बढ़ा रहे हैं। व्यापक से वृहत्तर व्यापकता की ओर हमारी गति है। यह गति दुर्निवार्य है। इसी को आत्मा की ऊर्ध्व गति कहिये। नाना बन्धन आत्मा को व्यक्ति से और व्यक्ति को व्याप्ति से नहीं रोक सकते। व्यष्टि को समष्टि बने बिना चैन कहां ?

प्रश्न होगा कि निरन्तर विकास की ओर चेतना की गति यदि अनिवार्य ही है, तो हिंसा अथवा अहिंसा के प्रश्न को उठने के लिए अवकाश ही नहीं होना चाहिए। बेशक मूल प्राण की अर्थात् प्रकृति की ओर से देखें तो यह प्रश्न नहीं है। यह समस्या तो बुद्धिशील मानव की है। मनुष्य से बाहर उस प्रश्न की स्थिति नहीं है। पशुओं के लिए यह सवाल नहीं है, क्योंकि उनमें तत्संबंधी विवेक का उदय नहीं है। न उन देवताओं के लिए होगा जिनमें द्विधा का

सर्वथा अभाव होगा। लेकिन अपने जन्मकाल में जब मनुष्य ने बुद्धि पायी, तभी कर्तव्य-अकर्तव्य का प्रश्न भी सामने आया। और क्रमशः मालूम होता गया कि जिनको उसने 'पर' समझा है उन्हीं में उसे निजता की भावना का प्रसार करना पड़ रहा है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता है। उसे अपनेपन का दायरा बढ़ाते ही जाना पड़ा है। उसने परिवार बनाया, यूथ बनाया, ग्राम और जनपद बनाये, जाति व राज्य और राष्ट्र बनाये, यहां तक कि महाराज्य स्थापित किये। हर काल में उसकी अपनेपन की परिधि के बाहर जो रहा उसके प्रति उसने परायेपन का भाव रक्खा और उस 'पर' (पर कुटुम्ब, पर जाति, पर राज्य, पर राष्ट्र आदि) के साथ सदा ही युद्ध ठानता रहा। लेकिन उन युद्धों के बावजूद भी, प्रत्युत उनके द्वारा ही, वह पहचानता चला गया कि अपने और पराये के बीच की रेखा उसकी अपनी ही खींची हुई है, सत्य में वह कहीं भी नहीं है। आज जिसको दुश्मन समझा है उससे किसी प्रकार समझौता, यहां तक कि मेल हुये बिना स्वयं को ही चैन नहीं मिलने वाला है। युद्धों की यातना में मेल की आवश्यकता प्रगट होती गयी है और आपसी झगड़ों के बीच में से मानव-जाति अधिक से अधिक सम्मिलित होती चली आयी है।

आज यह बुद्धि से जानने की नहीं प्रत्यक्ष आंखों से दिखने वाली बात है कि किसी की अपनी अलग स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं है। कोई देश अपने में एकान्त स्वतन्त्र हो, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। कोई अपने को घेर कर और उसमें बन्द होकर नहीं रह सकता। शेष के साथ लेन-देन, मिलने जुलने, आने-जाने का सम्बन्ध उसके लिए अनिवार्य ही है। हमारे पुराने आत्म निर्भरता और स्वयं-पूर्णता के आदर्श अब विलीन हुए जा रहे हैं और इस प्रत्यक्ष सत्य से बचने का कोई उपाय नहीं रह रहा है कि सारी मनुष्य-जाति संयुक्त है और एक का भाग्य दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है।

विकास के ठीक इस मुहाने पर हम आज हैं। हिन्दुस्तान के बर्मा मोर्चे पर लड़ाई इस वक्त नहीं है और जहां है वह जगह हमसे कई समन्दर पार है। लेकिन क्या अपने किसी काम या किसी भाव में हम उसके असर से बचे हुए हैं? हमारे चारों ओर मंहगाई है, चोर बाजार है, नफा-खोरी और घूस खोरी है। नयी दिल्ली में शाम के समय हिन्दुस्तानी से ज्यादा इंग्लिस्तानी रौनक मालूम होती है। इंग्लिस्तानी भी क्यों, वह बाजार तो दुनिया के ही चौराहे जैसा मालूम होता है; कारण अमरीकन और दूसरे लोग भी वहां कम नहीं दिखते हैं।

मैं कहना चाहता हूं कि यह विषम समय है जब कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न

प्रदर्शन का, अथवा नीतिवाद या विचार का ही नहीं रह गया है बल्कि वह हमारे सांस लेने जितना आवश्यक, तात्कालिक और व्यावहारिक बन गया है। वह एक ही साथ आध्यात्मिक और भौतिक है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। कल पर उसे टालना न हो पायगा। चाहे तो इसी क्षण उससे छुट्टी पालें (यद्यपि छुट्टी सम्भव है नहीं,) या फिर उस पर अमल करने लगने का ही निर्णय कर लें।

इतिहास में अनेक वर्ग और वाद हो गये हैं। वे भी जिन्होंने ईश्वर को केन्द्र मानकर आदमी को सदाचार सिखाया है, और वे भी जिन्होंने नागरिकता के विकास के लिए नास्तिकता का प्रचार किया है। सामाजिक आचार के नियमन के लिये जिसने जो भी मान स्वीकार किया हो—चाहे आध्यात्मिक का ईश्वर हो कि जिसके पुत्र होकर सब मनुष्य भाई-भाई हैं, या फिर वह मान लौकिक का लोक-मंगल, अधिकतम लोगों का अधिकतम हित (Greatest good of the greatest number) हो कि जिसके अनुसार व्यक्ति अपने स्वार्थ को परार्थ में मिला दे। जो हो, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सब प्रकारान्तर से परस्पर वर्त्तन के लिए अहिंसा को ही मान्य ठहराते हैं।

किन्तु जान पड़ता है कि नीति-शास्त्र में अहिंसा की निरपवाद उपयोगिता को स्वीकार करने के अनंतर भी चलन में उसकी संगति बिठाना आसान नहीं है। उस पर बल देने मे आदमी इतना पारलौकिक हो जाता हुआ देखा जाता है कि संसार के काम का नहीं रहता, दूसरी ओर संसार में सार्थक होने के लिए मानो अहिंसा को निगाह से ओझल रखना जरूरी करार दे लिया जाता है।

इस विरोध को तर्कवाद से नहीं भरा जा सकता, इस खाई को तो समन्वयशील साधना से ही भरना होगा। आज क्या हम कहने चलें कि इंग्लैंड को हथियार डाल देने चाहिए, तभी उसकी जीत होगी? गांधीजी ने यह जरूर कहा। उनकी साधना अगम है और अधिकार अमित हैं। पर इंग्लैण्ड के बस का यह कब हो सका कि वह उनकी सीख सुन ले? कारण, इंग्लैण्ड अपने सदियों के संस्कारों से क्षण में छुट्टी चाह कर भी छुट्टी पा कैसे सकता है? उस देश का लोक-मानस, उसका समाज, उसकी सरकार अपने संचित कर्म-दोष से मानो आत्मविरुद्ध वर्त्तन करने को लाचार है। क्या सचमुच उस देश के अनेक मनीषी विद्वान्, जिन्हें भविष्य का संकेत प्राप्त है और जो भूत से जड़ित नहीं हैं, वैसी ही सलाह नहीं देते? पर बीज बदले बिना फल को बदलना कब संभव हुआ है।

अर्थात् व्यापक राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का प्रश्न हम जैसों के लिए

फल का ही है, यानी अनागत और अप्रस्तुत है, कि जिन्होंने अपने जीवन के मूल में उस अहिंसा को नहीं साधा है। लेकिन यों पूछिये तो राजनीति की स्वतन्त्र सत्ता ही कब है? क्या राजनीति हमारे-आपके सम्मिलित जीवन-व्यापार से ही स्वरूप नहीं पाती? राजनीति हमको लेकर ही बनती है। उसका अधिष्ठान जनता है, कि जिसके हम सब अंग हैं। इससे राजनीति का सार नागरिक-नीति (Civics) में है। और राजनीति शास्त्र मानव सम्बन्धों के नियमन का ही शास्त्र है।

इस पद्धति से आप देखेंगे कि अहिंसा के विचार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आत्मा, परमात्मा, देश अथवा राष्ट्र से उतना नहीं है जितना कि इस बात से है कि हम और आप अपने पड़ोसी से, अथवा कि इतर जनों से, किस प्रकार व्यवहार करते हैं। और इस दिशा में आप ध्यान देंगे तो तत्काल जीविका के, अर्थात् धनोपार्जन की विधि के प्रश्न से आपका विचार जा छुएगा। और तब अपना वही पुराना सूत्र हमें सच जान पड़ेगा कि 'जैसा खावे अन, वैसा होवे मन'। आप देखेंगे कि आपको जीवित रहने के लिए भोजन की, वस्त्र की, और दूसरी जो आवश्यकताएं हैं, वे सहज पूरी नहीं होतीं। उनके लिए कुछ 'करना' होता है। इसी को जीविकोपार्जन कहते हैं। यदि हमें अहिंसा को व्यापक क्षेत्र में घटित करना हो, तो सबसे पूर्व इस ज़ीविकोपार्जन की विधि में उस अहिंसा को चरितार्थ करने से आरम्भ करना होगा। मैं अपने लिए जिस ढंग से अन्न जुटाता हूँ उसमें अगर अहिंसा नहीं है, तो आगे फिर मेरे उपलक्ष से अहिंसा की सफलता किस प्रकार हो सकती है?

अहिंसा की साधना का इस बिन्दु से हम आरम्भ करें तभी अहिंसा की और हमारी सच्ची परीक्षा है। उसमें स्पष्ट है कि हमको प्रचलित अर्थ-शास्त्र और समाज शास्त्र से प्रकाश प्राप्त नहीं होगा। बना-बनाया कोई दर्शन या विज्ञान हमारा हाथ नहीं थामेगा। उनकी बुनियाद ही जो दूसरी ठहरी। इससे हमको अपनी श्रद्धा और श्रम से एक नये ही अर्थ-शास्त्र की नींव डालने और नयी अहिंसक समाज रचना के लिए तैयार हो जाना होगा।

और क्या आज के युद्ध ने युद्धोत्तर निर्माण के प्रश्न को अत्यन्त चिंतनीय नहीं बना दिया है? सचमुच वह प्रश्न जीवन-मरण का है। विशाल योजनाएं गर्भ में है, और उनके जन्म के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियां की जा रही हैं। ऐसे समय सभी को सचेत रहना होगा और अपने भीतर टटोल कर तै कर लेना होगा कि हम क्या चाहते है।

मेरी धारणा है कि इस युद्ध के निमित्त से मानव-जाति ने काफी प्राय-

श्चित किया है। भगवान् करे कि ऐसा न हो कि अगले युद्ध के बीज अभी बो दिये जायँ। अपने बोये का फल हमें ही काटना होगा। लेकिन इस युद्ध से हमने चख देखा है कि द्वेष और दमन के बीज की फसल कैसी कड़ुवी होती है।

हम में से प्रत्येक अपनी-अपनी जगह स्वाधीन है। वह अपनी निज की अर्थासक्ति में आस-पास शोषण के बीज बो सकता है, अथवा कि सेवाकर्म द्वारा अहिंसा की जड़ों में अपने जीवन को सींच सकता है। हर हालत में कर्म की गति अटल है। कल कल उससे भिन्न नहीं मिलने वाला है जो आज हम बोते हैं। इसमें बाहर से समाज-विधान या राज्यतंत्र के बदलने की प्रतीक्षा में रहना जरूरी नहीं है। भीतर से जीवन उगता हुआ आयेगा, तो जीर्ण बन गये हुये विधान और तंत्र तो उसके अभिनन्दन में आप ही गिर रहेंगे। लोक-जीवन के जागृत चैतन्य के आगे तंत्र-व्यवस्था की रूढ़ि आप ही नत-मस्तक हो आयगी।

गांधी-नीति : सर्वोदय

●

गांधीजी के जाने के सिलसिले में मेरा ध्यान नीचे लिखी बातों पर जाता है :

(१) इधर उन्होंने मृत्यु को मित्र-रूप में याद किया था।

(२) प्रार्थना के समय अपने और अन्य के बीच किसी अधिकारी के अधिकार को आने की इजाजत नहीं दी थी। कहा था, वहां कोई चाहे तो मुझे खुले मार सकता है।

(३) कहा था, ईश्वर चाहेगा तब कोई इन्तजाम मुझे यहां रख नहीं सकेगा। और

(४) गोली लगने पर उनके मुँह से 'हे राम' निकला था, हाथ सबके प्रति प्रणाम में जुड़े थे, और जैसे किंचित मुस्कराहट से प्रयाणवेला पर उन्होंने अपनी कृतार्थता व्यक्त की थी।

इन बातों से लगता है कि गांधीजी नहीं पसंद करते कि लोग हत्या पर और हत्याकारी पर रुकें और राम के नाम को और उसके ध्यान को हत्या जैसी तुच्छ घटना पर कुर्बान कर दें। सदा उन्होंने कहा कि ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। गांधीजी को मानना है तो हम यह भी मान लें कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा रही होगी।

गांधीजी के शब्दों को हम याद करें। उन्होंने कहा था, बुराई की हस्ती नहीं है। बुराई अपने आप में टिक नहीं सकती। टिकने को उसे सहारा चाहिए। यह हत्या निश्चय बुराई है। हत्यारे का नाम गोडसे कहते हैं। उस गोडसे को जरूर कुछ सहारा था, नहीं तो वह काम उससे नहीं बनता। जरूर उसने माना कि वह कुछ बढ़िया काम कर रहा है, और उसे बड़ाई मिलेगी। उसे बहादुर समझा और कहा जायेगा। इस सहारे पर ही उस पाप को बढ़ने और चढ़ने की हिम्मत हुई। नहीं तो पाप कातर और स्वयं में मुर्दा होता है।

सवाल है कि क्या हम और आप उस गोडसे के काम के लिए सहारा रहे ? यानी गांधीजी के जाने पर जो तनिक भी चिन्तित और विह्वल हैं,

उन्हें गोडसे नामधारी की तरफ नहीं, अपने दिल के अन्दर देखना है कि उसके काम को क्या उनका भी सहारा नहीं रहा ? गोडसे हम-आप से अलग नहीं है । हम-आप उसके इस काम से, या वैसे दूसरे कामों से अपने को अलग कर लेते हैं, अपना सहारा वहां से खींच लेते हैं, तो निश्चय है कि वैसे काम और उन कामों के करनेवाले नहीं रहने वाले हैं ।

सरकार धर-पकड़ कर रही है । भरोसा है, वह अपने भरसक करने में कसर न उठा रखेगी । पर बेचारी सरकार क्या चीज है ? आगाखाँ ने सच तो लिखा कि गांधीजी उस दिन, उस हालत के लिए जीते थे जब सरकार रहेगी ही नहीं, इतनी फालतू वह चीज हो जायेगी । यानी सरकार बेचारी का बस थोड़ा है । वह तो बेजान मशीन है । पुलिस, अदालत और जेल से आगे उसकी पहुंच नहीं है । तभी तो गांधीजी सरकार न थे, न कभी होने वाले थे । यानी कांग्रेसी और कांग्रेसी हुकूमत राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ को एक झपाटे में नाबूद कर दे, तो भी चलने वाला नहीं । वह तो सरकारी काम है, असल काम दूसरा है, और वह फिर भी बाकी रहता है ।

एक मत या दल दूसरे दल को दबा दे या मिटा दे, यह बन सकता है; लेकिन सिर्फ ऊपरी आंखों के लिए । ऊपरी ये आंखें सदा धोखा देती और धोखा खाती रही हैं । ऐसे हिंसा को हिंसा से काटने की कोशिश रुकी नहीं है । लेकिन उससे गाँठ भी नहीं कटी है, झमेला और उलझता ही गया है ।

यह झमेला हिन्दुस्तान का ही एक खास मसला नहीं है । दुनिया में भी वही है । इससे गांधी का प्रयोग हिन्दुस्तान में, और उसके द्वारा, हुआ सही, पर वह सारी दुनिया के लिए था । असल में तो सत्य और अहिंसा का प्रयोग गांधी ने अपने प्रति निर्मम होकर और अपने को भगवान् का बंदी बनाकर किया । जागने-सोते, उठते-बैठते, हर घड़ी अपना पहरा वह दिये रहे । जरा भी अपने को खिसकने नहीं दिया और उनके अन्दर और बाहर के शैतान को हर पल उनसे ललकार और चुनौती मिलती रही । भारत का राष्ट्रपट उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग का माध्यम मात्र बना । गांधी राष्ट्र और राष्ट्रीयता के नहीं थे, राष्ट्र और राष्ट्रीयता उनसे थी । वह तो राम के थे और राजनीति में भी 'राम-राज्य' के लिए ही उनका प्रयत्न रहा । राम-राज्य, यानी इस दल और उस दल का नहीं; इस मत या दूसरे मत का नहीं, यह तंत्र या वह तंत्र नहीं; बल्कि प्रेम का राज्य, सबका, पंचायत का राज्य । किसी राजा का नहीं, हर श्रमिक का राज्य । वह राम-राज्य जो जरूरत पड़ने पर बेहद केन्द्रित भी हो सके और यों एकदम विकेन्द्रित हो ।

ये प्रयोग संख्या और भूगोल की दृष्टि से कितने भी सीमित हों, हेतु में सीमित नहीं थे। यानी सारा संसार और आगामी सारा इतिहास अपने लिए उनमें सामग्री और प्रकाश खोजता और पाता रहेगा।

हमें, हम में से प्रत्येक को, अपने तईं शुद्ध होना है। दुष्ट साधु से अलग कब है ? इसलिए जो जितना साधु होगा, वह उतना ही दुष्ट को और दुष्टता को अपने अन्दर देखेगा। इसी अभ्यास का नाम है अहिंसा। यही है यज्ञ, यही क्रान्ति। यानी निरन्तर आत्मशोध, आत्मजागरण और आत्माहुति। कारण, दुष्टता यदि कहीं है, और दुष्ट कोई है, तो वह तभी है जबकि हमारा उसे सहारा है। चुप रहकर, डरकर, किनारा लेकर हम बुराई से बचते नहीं, उसे निमंत्रण देते हैं। इसलिए स्पष्ट और नम्र असहयोग या सत्याग्रह उद्घन बुराई को सहज परास्त और धराशायी कर देता है। तब देखने में आता है कि जिसे बुरा माना वही अच्छा बन जाता है। इससे विनष्ट कुछ या कोई नहीं होता। विकृति ही विलीन होती है और संस्कृति की सहज सम्भावनाएँ सब किसीमें से खिलती और जीवन को परिपूर्ण बनाती हैं।

कौन कह सकता है कि दुनिया में कुछ भी या कोई भी एकदम व्यर्थ है ? फिर भी एक-दूसरे को व्यर्थ करने की जो चेष्टाएँ दुनिया में चल रही हैं, और संभावी स्वर्ग को यथार्थ नरक बनाये हुए हैं, सो क्यों ? निश्चय ही किसी अमुक को व्यर्थ करने की कोई नयी चेष्टा अनेकानेक सदियों में से चले आते हुए मानव-विकास को आगे बढ़ाने वाली नहीं हो सकती। उस विकास की साधक नीति तो एक वही हो सकती है जो प्रत्येक को सफल हुआ देखना चाहती है; जो एक की सफलता दूसरे की विफलता में किसी तरह भी देखने को तैयार नहीं है। जो इस तरह सर्वोदय में योग देती है, उस नीति का नाम है 'गांधी-नीति'। उस नीति की व्याख्या, व्यवस्था, प्रयोग, उदाहरण और चित्र का नाम है 'गांधी-जीवन' और उस चित्र के सार-भाव को समझने के लिए दो शब्द का सूत्र है : सत्य और अहिंसा।

गांधी की महिमा तो रूप में अनन्त है। उसको देखे जाइये, गाये जाइये— भला कहीं उसकी थाह है, कहीं अन्त है ? इसलिए इस विभूतिमय जीवन के ऐश्वर्य में नहीं जाना है। उसकी निपटता को ही जान और पहचान लेना है। वह है, हर समय की हर क्षेत्र और हर समस्या के लिए सत्य और अहिंसा में से समाधान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा और तत्परता।

कौन नहीं जानता कि दुनिया आज ज्वालामुखी के मुँह पर खड़ी है। क्या चिनगारी प्रलय भड़का उठेगी, कोई कह नहीं सकता। ऐसे में गांधी ने

उठ जाने की और ईश्वर ने उन्हें उठा लेने की जो ठहराई, आस्तिक मानेंगे कि उसमें भी कुछ शुभ ही है। अगर सचमुच शुभ है, तो सिवा इसके वह क्या हो सकता है कि इस गहरे शोक के समय भारत, और उसके द्वारा जगत, उस नीति में श्रद्धा प्राप्त करे कि जिसकी ओर विधाता ने एक अथाह अभाव हमारे बीच पैदा करके हमारा ध्यान खींचा है।

सर्वोदय की नीति

•

नये समाज के निर्माण की आज चाह है। इस चाह में यह तो आ ही जाता है कि वह समाज बेहतर होगा। नया हो, इतना भर काफी नहीं है। यों तो कभी पुराने से ऐसा जी ऊब जाता है कि कुछ भी नये पर वह ललचा उठता है, फिर चाहे पहले से वह बदतर ही क्यों न साबित हो। आन्दोलनों में पड़ने वालों में ऐसे लोग हो सकते हैं, जिनके पास मौजूदा समाज से असंतोष ज्यादा है, भावी समाज की कल्पना उतनी नहीं है। केवल असन्तोष की यह प्रेरणा विधायक नहीं होती। वह बनाती कम है, बिगाड़ती है अधिक। 'नया समाज' कहकर आज की हालत से असन्तोष तो हम जतलाते ही हैं; लेकिन उस असन्तोष के साथ आगामी समाज जो हम लाना चाहते हैं, उसका विचार भी होना जरूरी है। नहीं तो खाली असन्तोष में हम बने को ही गिरायेंगे, उसकी जगह कुछ नया बना नहीं पायेंगे। पुराना ढा देने से नहीं, अभी से नया निर्माण करने लगने से नया समाज बनेगा।

समाज पदार्थ की तरह की चीज नहीं है। वह बेजान नहीं, जानदार है। इसलिए पदार्थ को जिस गणित के विज्ञान के उसूलों से हम तोड़ते-जोड़ते हैं, वे ज्यों-के-त्यों समाज की रचना में काम नहीं देते। समाज की इकाई आदमी है और आदमी में मन है। इसलिए समाज की रचना का विज्ञान कुछ दूसरे तरीके का होगा। वह मानसिकता से जुड़ा होगा और उसकी नव-रचना बाहर के प्रहार से नहीं हो पायेगी। जैसे लकड़ी को लोहे के औज़ारों से नाप-काट कर हम चीज़ तैयार करते हैं, वैसे समाज के मामले में हमारे पास लकड़ी अलग और उसको छीलने-काटने वाले औजार अलग नहीं हैं। हम ही औज़ार हैं और हम ही वह हैं जिनको गढ़ा जाना है। इस तरह समाज का निर्माण आत्म-निर्माण हो जाता है। समाज से हम अलग नहीं और समाज हम से अलग नहीं है। तब कोई भी उसूल, जो हमारा तो नहीं बल्कि समाज का लेखा-जोखा देते हैं, केवल उसका सुधार और निर्माण करते हैं, इष्ट परिणाम कैसे ला सकेगें ?

चुनांचे काम करनेवालों में दो पांतें देखने में आती हैं। एक, जो मानते हैं कि सारे साधनों और सारे आदमियों को 'स्टेट' की अधीनता में पहले एकत्र कर लिया जाय, फिर सब में सम-व्यवस्था और समान वितरण का उपाय सहज हो जायगा, बाधा बनने को तब कोई चीज बीच में नहीं रह जायगी। ऐसे लोग संगठन बनाते और राजनीति चलाते और उपजाते हैं। वे दलों की सृष्टि करते और उसी भाषा में उन्नति देखते हैं।

दूसरे जो मानते हैं कि बात ऐसी नहीं है कि सुधारा जानेवाला एक हो और सुधारनेवाला दूसरा हो। समस्या को नितांत यह रूप मिलता है कि बखेड़ा बढ़ जाता है। यानी एक विषमचक्र पैदा होता है जो कटता नहीं। समस्या चेतन की है, जड़ की नहीं। अर्थात् चेतना को संस्कार देना होगा। वह काम सदा अपने से शुरू हो सकता है। वह संगठना का नहीं, साधना का है। वह कल पर भी मौकूफ़ नहीं, इस घड़ी से ही शुरू हो जाता है। तो वे कहते हैं कि खुदी से हम न चलें, बल्कि सेवा की, यानी दूसरे में अपनी-सी, भावना रक्खे; काम वैसे ही और उसी भावना से करें; ज्यादा हथियाना और बटोरना न चाहें, जरूरी जितना ले लें और शक्य जितना उगजाते और बनाते चले जायँ। ऐसे एक चले, थोड़े चलें, अधिक चलें तो आपही-आप नया समाज उग चलेगा। उसमें विषमता न होगी; स्पर्द्धा की जगह वहाँ स्नेह होगा, शोषण की जगह सहयोग लेगा और आदमी की शक्ति जो एक-दूसरे को पीछे और नीचे रखने में लगती है, एक दूसरे को बढ़ाने और उठाने में काम आयगी। तब हम देखेंगे कि आदमी की समस्याएं खुद उन्नति करती जाती हैं। समस्याओं को मिटना तो नहीं है। तब तो जिन्दगी ही मिट जायगी और पुरुष का अर्थ पुरुषार्थ ही खत्म हो जाएगा। नहीं, बल्कि समस्याओं का धरातल उठेगा और नोंन-तेल-लकड़ी की वे न रह जायँगी। वे सांस्कृतिक और नैतिक होंगी। तब आदमियों की होड़ आर्थिक न होकर पारमार्थिक होगी।

भारत की राजनीति को मौका नहीं है कि वह माने कि बिना नीति-चारित्र्य के राज-काज चल सकता है। नीति यानी धर्म-नीति, डिप्लोमेसी नहीं। नैतिकता को बाद देकर स्वयं विग्रह का राजकारण आगे नहीं बढ़ता। साथ ही गांधीजी से यह भी प्रत्यक्ष हो गया है कि अध्यात्म न सिर्फ संसार से विमुख नहीं है; बल्कि समार के अभाव में वह अधूरा और पीला हो रहता है।

इस तरह यद्यपि ऊपर के दो, भौतिक और नैतिक, दृष्टिकोणों का अन्तर गहरा और मौलिक है, फिर भी विवाद की गुंजाइश नहीं रहती। जो चेतना को छोड़कर बाहरी परिस्थिति से जूझ रहे हैं. ऐसे सांसारिकों से अटके

और हिलगे बिना सांस्कारिकों का नाम चलते रहना चाहिए। चुनाव का और दल-गठन का काम उस प्रकार का ईमान और स्वभाव रखनेवाले लोग क्यों न करें। ज़्यादे-से-ज़्यादा यही हो सकता है कि कुछ उसको रचनात्मक न मानें। तो ऐसे रचनात्मक विचार के लोग उस दलगत कर्म से अलग रहकर अपना काम किये जावें तो स्वयं उन दलों का सहयोग उनको मिल सकता है। बल्कि रचनात्मक काम एक ही साथ सब दलों को ताकत पहुँचानेवाला है। वह तो जमीन है जिस पर हर बीज को पड़ना और वहाँ से रस लेना है, नहीं तो वह जड़ न पकड़ पायगा।

'रचनात्मक' शब्द इधर बहुत चलता है। जिसको जो करना होता है, उसी को रचनात्मक कहकर वह पेश करता है। गांधीजी ने जो एक नयी भाषा हमें दी, उससे कठिनाई भी कुछ बढ़ी है। व्यवहार नैतिक शब्दों को जोड़कर चलाया जाने लगा है। इस वजह से यहाँ तक कहा जाता है कि जहाँ अन्दर पाप हो, वहाँ मुंह पर धर्म पाओगे; जहाँ भीतर घात हो, वहां ऊपर मिठास होगी। यानी आदर्शवाद और नीतिवाद जहाँ है वहां ढकोसला है, ऐसा प्रवाद हो गया है। यह कठिनाई बढ़ तो गयी है। कारण, सशय और अविश्वास बढ़ गया है। फिर भी उसे पार करना है, इतने मात्र से रचनात्मक शब्द और काम से पिंड छुड़ा नहीं लेना है। रचनात्मक वह है जो

(१) श्रम से पदार्थ की उत्पत्ति या निर्माण करे, और

(२) आपस में सहयोग साधे और उसकी बाधा को हटाये।

दूसरी कोटि का काम भावना और प्रचार का है। जात-पाँत और रंग-रीत का भेद, ऊँच-नीच का विचार, अपने-अपने धर्म का अभिमान, ये और ऐसी बातें सहयोग के फैलाव में रुकावट होती हैं। इसी से ये फिर स्वार्थों के पोषण में सहायक होती हैं। इन्हें गिराना और जीतना होगा।

पर मूल रचनात्मक है वह जहां श्रम में से पदार्थ फलता है। इसके बिना भावना-प्रचार का काम भी बेजान रहता है, ठोस नहीं हो पाता। प्रेम का प्रचार किसने नहीं किया? साहित्य ने किया, धर्म ने किया, सब समझदारों ने किया। पर उस प्रेम के नीचे स्वार्थ भी मजे में पलता गया। जिस प्रेम मे अपनी और अपने की कुरबानी हो, वह प्रेम तो बिरलों के हाथ आया। अधिकतर वह भावना में समाकर और सूखकर रह गया, और व्यवहार को अछूता छोड़ गया। नतीजा यहाँ तक कि धनी ही धर्मी दीखने को शेष रहा। यानी, भावना को श्रम में उतारे बिना बात पूरी बनती नहीं। भावना तक बात व्यक्तिगत रहती है, कर्म में उतरकर ही वह सामाजिक रूप

लेती है। भावना एकाकी है, कर्म सहयोगी। भक्त श्रमिक न हो तो हो सकती है कि उसकी भक्ति उत्कट दीखे, पर भव-बन्ध काट न सके। वह असामाजिक भी हो सकती है; कारण; वह अनुत्पादक हो रहती है। अब व्यक्ति पदार्थ को उपयोग में लाये बिना, और इस तरह उसे चुकाये बिना, तो रह नहीं सकता। वह खाता है और कुछ-न-कुछ रखता और पहनता है। तो पदार्थ उपजाने में भी उसका भाग होना चाहिए। श्रम से छूटकर भक्ति मानो इस कर्त्तव्य से भी छूट जाती है। तब वह नैतिक की जगह शायद कुछ भावुक भी हो जाती होगी। भावुकता अनजाने अपने नीचे एक विशेष प्रकार की निर्ममता की धरती बचा छोड़ती है। यहाँ असामाजिकता की जड़ शेष रहती है और वह कटती नहीं, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर फैलती रहती है। ऐसे व्यक्ति में और समाज में घोर द्वन्द्व पैदा हो जाता है। तपस्वी स्खलित होता है और भक्त मालदार बनता है।

इस प्रकार 'रचनात्मक' में मुख्य सार है यथार्थ किया गया उत्पादक श्रम। उत्पादक का मतलब है वैज्ञानिक। केवल श्रम से नहीं चलेगा। न इतना काफी है कि वह श्रम कुछ तो भी उपजा दे। नहीं, उसमें वैज्ञानिक व्यवसाय-बुद्धि को भी लगाना होगा। तब वह सही मानों में रचनात्मक हो सकेगा।

शौक की तरह आधा घण्टा चर्खा चला लिया और वह रोज भी चलाया, पर सूत का हिसाब न रखा, आगे उसके बुनवाने आदि में लापरवाही की तो वह काम भावनात्मक तो हुआ, रचनात्मक पूरा नहीं हुआ। उससे मानसिक सन्तोष कुछ हमको अवश्य होगा; पर नये समाज की रचना की नींव नहीं पड़ेगी।

समाज आदमियों की बहुतायत का नाम नहीं है। बहुतायत से तो भीड़ होती है। समाज आपसी सम्बन्धों से बनता है। संख्या और भूगोल में सामाजिकता नहीं है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जितनी गहराई, ऊँचाई और घनता होगी, उसमें मर्यादा और व्यवस्था होगी, उतना ही समाज विकसित समझा जाएगा। यों माता और पुत्र में अन्तर होता है, दोनों किसी लिहाज में बराबर नहीं हो सकते और नहीं किये जा सकते। आंकिक बुद्धि चाह सकती है कि दोनों अपने अधिकार में बराबर हों; पर माता तब तक तृप्त नहीं हो सकती जब तक पुत्र को उससे अधिक न मिले, न पुत्र तब तक शान्ति पा सकता है, जब तक कि माँ से मांगने और पाने का, अर्थात् छोटे बनने का अधिकार उसके पास सुरक्षित न हो। परिवार की शक्ति इसमें नहीं है कि सभी में समानता हो। वह तो इसमें है कि उसमें सहज स्नेह हो।

परिवार की यह उपमा भावुकता की लग सकती है। पर इसी को

वैज्ञानिक समझकर न चला जायगा तो हो सकता है कि हमारी सब कोशिशें एक नयापन तो हमें दे दें, पर ऐसा फलित न दीखें कि वह समाज पहले से बेहतर है। बेहतर वह समाज हो ही नहीं सकता जहाँ पर हर एक की आँख अपने और इसलिए दूसरे के धन पर है। ऐसे समाज में तो विकार सुलगे ही रहेंगे। ऊपर कानून के जोर से कितनी भी शान्ति और सुरक्षा हो, भीतर तो लपलपाती जीभें होंगी, जो सदा ही खतरा रहेंगी।

समाज के जो असामाजिक और विकारी तत्त्व हैं उनका जड़मूल से नष्ट कर दिया जाय तो शेष में आसानी के साथ सुव्यवस्था लायी जा सकेगी—प्रचलित मतवाद कुछ इसी लकीर पर सोचा करते हैं। उनके दल फिर उसी नीति पर चलते भी हैं। फासिस्ट मानवता का दुश्मन है, एक हाथ से उसका सफाया किया कि बाधा ही सब मिट जायगी। इसी तरह इम्पीरियलिस्ट, कम्यूनिष्ट, केपीटलिस्ट आदि-आदि शब्द ऊँचे उठाकर एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और राज्यनीति चल रही है जो सारे इतिहास में चलती आयी है। वह इस तरह अपनी प्रभुता साधने के लिए शत्रुता उभारती और शान्ति के नाम पर युद्ध मचवाती है। इसको विज्ञान की भाषा ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विशेषण दिया है, जो बहुत उपयुक्त है। उस वृत्ति के लिए वही यथार्थ तत्त्व-दर्शन है और विग्रह ही मार्ग है। अमुक की पराजय की भाषा में वह अपनी (जिसको वह मानवता की कहती है) विजय मानती है।

व्यावहारिक, सांसारिक, आंकिक और बौद्धिक-वैज्ञानिक नीति इसके पार जा भी नहीं सकती। प्रत्यक्ष द्वैत उसका चरम सत्य है और अद्वैत यदि उसके लिए है तो केवल माया के रूप में है।

किन्तु एक दूसरी भी नीति है। उसको कहें 'सर्वोदय', यानी एक के उदय के लिए दूसरे का अस्त चाहना भूल है। सर्वोदय अध्यात्म की नीति के तौर पर तो भले मान्य रहे, कर्म की नीति के तौर पर वह असफल हो जाएगा—ऐसा अनेक कर्मियों का आग्रह है। फिर भी कुछ की निष्ठा है कि कर्म की भी सच्ची नीति वही है। वे उस सब कर्म का इन्कार करने को तैयार हैं, जो सर्वोदय के काँटे पर सही नहीं तुलता। उनका मानना है कि ऐसा कर्म प्रपंच रचता है, बन्धन बढ़ाता है, आजादी नहीं लाता।

गांधीजी के बाद अभी जमाव हुआ था, जहां कुछ लोगों ने घोषणा की कि वे कर्मी हैं, कर्म में रहेंगे ; लेकिन उस समस्त कर्म में और उसके जरिये उन्हें सर्वोदय को ही साबित करना और साधना है। सर्वोदयसमाज के इस ऐलान में वे लोग शामिल थे जो गांधीजी के चलाये चौदह सूत्र वाले रचनात्मक

कार्यक्रम में लगे रहे हैं। उनका मानना है कि वह काम हिन्द में होता रहा है सही, लेकिन उस में तो दुनिया के सवाल का भी हल है और दुनिया उसको मानकर और उसपर चलकर ही लड़ाई से छुटकारा पा सकती और शान्ति और उन्नति के लिए खुल सकती है।

स्पर्द्धा पर चलने वाले समाज में सर्वोदय की और अहिंसा की नीति से राज कैसे चलेगा और समाज कैसे बनेगा या बदलेगा, यह संकल्प से जिसे समझ नहीं आता, उसे समझाना संभव नहीं है। तर्क से श्रद्धा आ भी कैसे सकती है? यह बुद्धि की नहीं, हृदय की चीज है। अल्लाह भी एक है और ईश्वर भी दूसरा नहीं है। फिर भी मतवादी बुद्धि दोनों में एक को नहीं देखती, उनमें भेद देख चलती है और अनबन ठान बैठती है। इसीलिए वह जो भाषा पर टिककर नाम और नारों के पीछे नहीं चलता, जो सीधा जानता और सीधा देखता है, ऐसा हृदय ही उसको पा सकता और धार सकता है।

गांधीजी के बाद यह अब ख़याली चीज नहीं रह गयी है कि अहिंसा से राजकाज और कामकाज भी संभल सकता है। हिन्दुस्तान की आजादी खुद सबूत है कि अहिंसा में बड़ी ताकत है, जो आत्मिक होने की वजह से भौतिक तौर पर कम नहीं बल्कि ज्यादा ही कारगर है।

वह दर्शन जो विग्रह की भाषा से सचाई को खोलता और लेता है, झमेले को निबटा पाया है, ऐसा कहीं दीखता नहीं है। बल्कि उसे जब मौका मिला तो लड़ाइयाँ ही उससे पैदा हुई हैं।

दूसरा आस्तिक दर्शन है। वह अद्वैत में निष्ठा रखता है और उससे कभी डिगने को तैयार नहीं है। उसका सत्य अहिंसा है: यानी यज्ञ, कुरबानी, क्रॉस।

पहले में से मारना निकलता है। मारने के अन्दर खुद मरने से बचने की चाह छिपी रहती है। दूसरा मारे बिना मरने की राह चलता है। यह दुनिया को कुछ उन आँखों से देखता है जहां दूसरे का फलना-फूलना अपना ही मालूम होता है और अच्छा लगता है। दूसरे की तकलीफ अपनी मालूम होती है और तकलीफ देती है। यह दर्शन दिखाता है कि बालक को पालकर माँ छीजती जाती है और बूढ़ी होती जाती है सही; लेकिन बालक के बढ़ने के साथ उसकी खुशी भी बढ़ती जाती है। वह मरती है तो भी यह देखती है कि बालक में वही जी रही है। वह प्रेम निष्ठा की राह है और दुनिया देखे या न देखे, यह प्रेम तत्व ही दुनिया को जिलाये रख रहा है। यों बेटों-बेटों में या माँ-बेटों में भी क्या कलह नहीं होती? वह कलह होती ही तब है, जब दोनों के पैरों तले

मुहब्बत की जमीन है जिसे वह टुक भूल गये होते हैं।

मुश्किल यह है, और यह बहुत बड़ा खतरा भी है, कि प्रेम जब हृदय की और भावना की सचाई है, तब कर्मेन्द्रियाँ अहंकार-जन्य बुद्धि से अनुमति लेकर चल पड़ती हैं। कर्म ऐसे धर्म से छूट जाता है। इसलिए सारे रचनात्मक कार्य को बराबर कसते रहना जरूरी है कि वह अहिंसा की कसौटी पर सही तो उतर रहा है न। बड़ा फल देनेवाला काम भी जड़ में गलत हो तो फेंक देने लायक है। चर्खा असली अहिंसा है। अहिंसा ही चर्खे में अमल न पा रही हो तो क्या वह सिर्फ लकड़ी ही नहीं रह जाता जो चूल्हे के काम की है!

देश अभी बँटकर चुका है। हिन्दुस्तान वह रह गया है जो पाकिस्तान से अलग है। गांधीजी के नीचे हम क्या सपना लेते आये, क्या-क्या सीखते और करते आये थे? क्या हम न सोचते थे कि हिन्दुस्तान में सब कौमें एक होंगी और दुनिया के एके की ही उसमें, यानी हमसे, शुरुआत होगी? पर मुल्की और कौमी एकता तो नहीं हुई, ऊपर से बँटवारा आ गया। लेकिन सचमुच क्या दिल भी बंट गया है? तब तो गांधी सचमुच ही मर गया और यह झूठ है कि वह अमर है। लेकिन अमर अगर एकता ही नहीं है, एकता की बातें और एकता के काम ही अमर नहीं हैं तो अमर फिर इस संसार में है क्या?

गांधीजी कहते रहे कि हुकूमतें दो बनी हैं सही; हिन्दुस्तान का दिल एक है। वह दो नहीं हो सकता। कारण, हिन्दुस्तान का दिल वहां है, जहाँ इन्सानियत का दिल है। हमेशा से यहाँ अनेक धर्म, जाति और रंग के लोग आते रहे हैं और एक दूसरे को पहचानना और जानना सीखते रहे हैं। गैर मान कर आये, पर अपने बनकर रह गए हैं। आखिर आपस की दुश्मनी और गैरियत कभी तो मिटनी है, नहीं तो दुनिया को वीरान और खत्म हो रहना है। सब भेद रखते हुए यह हिलमिलकर एक बन जाने की कला का उदय भारत में होना आया है। मनुष्य-जाति के हित-निमित्त जैसे भारत अपने समूचे इतिहास में से इसी प्रयोग को साधता आ रहा है। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, अगर कुछ है तो वह इसी महाप्रयोग के परिपाक का फल है। मानो यह भूमि जगत् के लिए प्रयोगशाला रही, जहाँ से समन्वय के सूत्र को फलित होना था। ताकि जब मानवता घोर आवश्यकता में हो तब भारत उस परीक्षित प्रयोग को पूरे वैज्ञानिक और सचित्र रूप में दुनिया को देकर सार्थक हो सके।

सर्वोदय-नीति की तरफ सब की आशा की निगाहें हैं। उन आशाओं को उठाने और पूरा करने के लिए विश्वासियों को अपने कंधे तैयार कर लेने हैं।

सर्वोदय

'सर्वोदय' पर जितना ही कहना चाहता हूँ, शुरू करते उतने हा उलझन होती है। उस शब्द को तो आप जानते हैं। दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने रस्किन की पुस्तक 'Unto this last' का अनुवाद किया तो उसे नाम दिया 'सर्वोदय'। गांधीजी के उठ जाने पर उनकी नीति में आस्था रखनेवाले लोग पिछले साल सेवाग्राम में जमा हुए तो उन्हें अपनी भावना व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द जंचा यही सर्वोदय। सीधा उसका मतलब है, सबका उदय। अस्त किसी का भी नहीं। आज के जमाने में इस तरह की श्रद्धा रखना और जतलाना बड़ी हिम्मत की बात है। क्योंकि सूरज उदय होता है तो क्या चाँद को तब अस्त ही नहीं होना पड़ता। इसी तरह सहसा यह समझ में नहीं आता कि एक अगर आगे बढ़ेगा तो दूसरा पीछे कैसे नहीं रह जाएगा ...नी एक वर्ग के लाभ में और उभार में दूसरे वर्ग का थोड़ा-बहुत घाटा और उतार समाया ही है। दो मत विरोधी हों, या हित विरोधी हों तब एक ही साथ दोनों का उदय कैसे हो सकता है ? अवश्य एक के अस्त के साथ ही दूसरे का उदय है।

इसी तरह खुली आँखों देखते सर्वोदय की बात कुछ भावुक आदर्श की लग आती है, जो कामकाज में ठहर नहीं सकती। आज विग्रह है, विकलता है, और युद्ध की सम्भावना से हवा गर्म है—ऐसे में सर्वोदय की बात आसमानी आदमी ही तो करेगा।

लेकिन लोग जो सेवाग्राम में जमा हुए थे, आसमानी तनिक न थे। वे ठोस धरती के कामकाजी लोग थे। अपनी जगह कुछ उगाने-बनाने या प्रत्यक्ष व्यवस्था या सेवा के काम में जुटे लोग थे। कवि कोई उनमें बिरला ही होगा। कोरे सपनों से उन्हें काम न था। रचनात्मक श्रम में मन और तन तपानेवाले वे आदमी विग्रह और संघर्ष की सूचना से अनजान न रहे होंगे। शायद उसकी अनिवार्यता भी जानते होंगे। फिर भी साहस बांधकर दुनियां को उन्होंने कहा कि हमारी रहने की और करने की, यानी तमाम जीवन की, नीति 'सर्वोदय' होनेवाली है। अर्थात् जो अपना हमसे विरोध मानते हैं उनका भी हम भला

चाहते हैं। चाहने के साथ उनका भला करने में ही हम लगे रहने वाले हैं। यही सर्वोदय है। अहिंसा का मतलब इतना ही नहीं कि हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे और नहीं करेंगे। नहीं, बल्कि हर किसी का भला सोचेंगे और वह भला करने के लिए उनकी तरफ आगे बढ़ेंगे।

उन लोगों की यह घोषणा इस दुनिया में जहाँ दुश्मनियाँ हैं और दुश्मन को दूर करना मनुष्यता के प्रति लोग अपना पहला दायित्व और कर्तव्य समझ उठे हैं ; जहाँ इस दुश्मनी को कला का सौन्दर्य और दर्शन की गरिमा मिली है ; जहाँ उसके समर्थन में सदियों में से मानव-बुद्धि ने शस्त्रास्त्र के रूप में अनुपम चमत्कारी आविष्कारों से हमें सज्ज और सन्नद्ध किया है—वहां मुट्ठीभर लोगों का यह कहना दुस्साहस समझा जा सकता है। आपसी शत्रुता के घोर रव में उसे सुना अनसुना किया जा सकता है। फिर भी उन लोगों ने जानबूझकर तोल परखकर यह निर्णय किया। साथ ही उन्होंने कहा कि उनके अपने लिए जब यह सर्वोदय-नीति व्रत ही है, तब बाकी दुनिया के लिए भी उसके सिवा कहीं त्राण नहीं है। हिंसा से हिंसा कटती दीखे, लेकिन शेष जो बच रहता है उसमें हिंसा और भी गहरी पैठ जाती है। सारे इतिहास में क्या यही नहीं दीखता है कि हिंसा के उपाय से जितना हिंसा कटती है, उससे कहीं ज्यादा उग आती है। वह [illegible] हीं है शान्ति की और एकता की। शायद हिंसा फल है जो अगली फसल के लिए बीज साबित हो आता है। आदमी हिंसक नहीं है। लेकिन उसने अपना समाज कुछ ऐसा बना लिया है कि आपस में सहयोग की जगह स्पर्द्धा उसे सहज होती है। हमारी अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति जोड़ती नहीं, हमें लड़ाती है, और जब हम जुड़ते भी हैं तो दल के रूप में ही कि दूसरे दल से मोर्चा ले सकें। यानी वे गुण जो आदमी को आदमी से मिलाते हैं वहीं तक गुण हैं जहाँ तक अन्त में वे द्वेष और विग्रह को पुष्ट करते हैं! नतीजा यह होता है कि आदमी अपना अमित विकास करता है, केवल इसीलिए कि अन्त में दूसरों को दबाने या मारने में सफल हो सके।

सेवाग्राम में जो लोग जमा हुए उनके लिए सर्वोदय सिद्धान्त का ही तत्त्व नहीं था, प्रयोग में वह परखा जा चुका था। गांधीजी का जीवन उनके सामने था, जो आदि से अन्त तक उसके सफल अमल का आलेख था। निपट अकिंचन वह जीवन लौकिक विभूतियों का अलौकिक पुंज हो रहा। हर तरह अपने को विहीन बनाकर वह व्यक्ति यहाँ की राष्ट्र और राज-सत्ता का अखण्ड अटूट मध्यबिंदु बन रहा। उस सफल जीवन के सरल मंत्र को यह व्यक्ति स्वयं अपने परिवार के हाथों दे गया था। चौदहसूत्री रचना-

त्मक कार्यक्रम था, जिसमें यथा-समय नये सूत्र जोड़े जा सकते थे। उन सबके स्रोत के रूप में बता दी गई थी अहिंसा, जिसे फिर अपना प्रकाश लेना था निर्द्वैत सत्य से। इस तरह प्रयोगसिद्ध और बार-बार कसौटी पर परखा गया एक समग्र जीवन-दर्शन और जीवन-क्रम उन लोगों के समक्ष था और गांधी के उदाहरण में उसे जीता-जागता मूर्त शरीर भी मिल चुका था।

इसलिए निश्शंक उद्घोष के साथ सेवाग्राम में इकट्ठे उन लोगों ने कहा कि एक और अकेला मार्ग वही है जिसे गांधी चलकर जगत् के लिए खोल गया है। वही है, दूसरा सब कुछ भूल-भुलैया है।

इस घोषणा के साथ वहाँ सर्वोदय-समाज की भी स्थापना की गयी। क्या एक 'समाज' होकर यह सर्वोदय भी इतने वर्गों, दलों और संस्थाओं में एक और की गिनती बढ़ानेवाला नहीं हो जाएगा? ऐसा प्रश्न हो सकता है। पर विलक्षण वह समाज है। आप पूछिए कि कौन उसका सदस्य है, तो मालूम होगा कि जो अपने को कहे वही उसका सदस्य है। क्या उसके नियम हैं, तो जानने को मिलेगा कि सर्वोदय के विश्वास के अलावा कोई भी दूसरा नियम नहीं है। ऐसा समाज क्या किसी ने देखा-सुना है? पर सर्वोदय समाज को ऐसा ही बनाना है। अधम का, पापी का, बच्चे का, बूढ़े का किसी का उसमें बहिष्कार न होगा। लोग, हम आप सभी लोग, सीमाओं से लगकर रहने के आदी हैं: गर्व मानते हैं कि हम भारतीय हैं। आखिर भारत यह है जो एक सीमा पर समाप्त है। इस तरह अहंकार अपने लिए और अवज्ञा दूसरों के लिए मन में रखते हुए हम जीते और ऐसे जाने-अनजाने द्वेष उपजाते रहा करते हैं। अधिकांश उसी को काम करना और उन्नति करना हम माना करते हैं। इसी से सहसा यह सीमारेखा-हीन सर्वोदय-समाज संघटन के रूप में हमारे मन में पूरी-पूरी तरह जमता नहीं है। लेकिन सर्वोदय-शास्त्र के मनीषियों ने ऐसा ही आकार-प्रकारहीन उसे रूप दिया। सच ही यह अभूतपूर्व रचना है कि जिसके लिए कोई अनात्मीय ही नहीं बचता है और जिसने इसी लिए जन्म लिया है कि सबको, सभी किसी को, एक आत्मीयता में बांध ले। अवश्य इसमें जगत् का सब प्रकार का नानापन समाकर भी अक्षुण्ण रहेगा। हर एक की निजता को पूरा-पूरा वहां अवकाश होगा। कोई किसी पर न रोक बनेगा, न आरोप; कारण, हर अपना उदय दूसरे के, और दूसरों के उदय में से ही देखेगा। ऐसे समाज से यह डर कि वह एक नए आग्रह और नयी अस्मिता को पनपायेगा वृथा ही मानना चाहिए।

उस सर्वोदय समाज का इसी मार्च महीने में पहला वार्षिकोत्सव हुआ। इन्दौर के पास देहात में फूस की झोंपड़ियां खड़ी हुयीं और तीन रोज के लिए

वहाँ किसी को याद न रहा कि बाहर समाज में वह बड़ा है कि छोटा है, राजा है कि रंक है ।

सभा-समाजों के अधिवेशन तो होते हैं और वहाँ प्रस्ताव पास हुआ करते हैं। प्रस्तावों से आशा बंधती है, आगे के लिए संकल्प स्थिर होता है । पर वहां प्रस्ताव ही कोई पास नहीं हुआ । इसे क्या प्रस्ताव कहें कि तय हुआ कि साध्य के समान साधन को भी शुद्ध रखना होगा । यह भी जाहिर किया गया कि देश-विदेश का इसमें फर्क नहीं है और सर्वोदय में सभी का स्वागत है। बहुत-से देशों से लोगों के पत्र आये थे और कुछ उनमें बहुत ही बढ़िया पत्र थे । सभी में चाहा गया था कि सर्वोदय में उन्हें भी सम्मिलित समझा जाय और वहां एकत्रित जनों ने हृदय से उन्हें अपना मान लिया था।

वैसे एक प्रस्ताव भी आ गया था । उस पर चर्चा हुई और खासा विवेचन हुआ। अंत में विनोबा ने समझा दिया कि प्रस्ताव का मतलब इतने में ही पूरा हो गया कि उससे हमें आत्म-मीमांसा का अवसर मिला । आगे हमें किसी को भी पास-फेल नहीं करना है। सबका जज उन सबके अन्दर ही बैठा हुआ नहीं है क्या कि जज बनने का कष्ट हम अपने ऊपर लें ? आप विनोबा को जानते ही होंगे । सर्वोदय समाज की वह आत्मा हैं। शायद इसीलिए वह उसके सदस्य भी नहीं हैं । तब पद-वद तो उनके पास क्या ही पहुंच सकता है।

अब समय होता है और मुझे बात खत्म करनी है। सच यह कि मैं घबराया हुआ हूं । क्या आप घबराये नहीं हैं ? बाहर घमासान मचा है। सच-मुच लड़ाई अगर छिड़ी हुई नहीं है तो क्या इससे हममें से किसी को जरा भी ढाढ़स पहुंचता है ? लड़ाई ऊपर नहीं है, लेकिन भीतर क्या कहीं किसी तरफ से उसमें कमी है ? शायद हमें सब तरफ अंधेरा दीखता है। एक था जिसे हम बापू कहते थे, वह भी हमें छोड़कर चल दिया है । पर देखें तो यह ठीक ही गया है। नहीं तो अपनी आंखों देखना और पैरों चलना हम सीखते कैसे ?

लेकिन शायद घोरता इसीलिए है कि हम प्रकाश के लिए विकल हों और उसके लिए अपने को टटोलें और पाएं । अंधेरा घना तभी न होता है जब उसके फटने का वक्त आ पहुचता है । तब देखते-देखते लालिमा फूटती है, जो उजली धूप का आवाहन बनती है ।

क्या आप मानेंगे कि सर्वोदय-समाज क्षितिज पर उठी आशा की वह लाल लकीर है। लाल वह लहू से नहीं है, केवल लज्जा से है । आप चाहें तो यह कुछ देर में भी मान सकते है, जब वहां से प्रकाश उजला होकर फूट चलेगा । किंतु मैं आपकी अनुमति से आज ही यह आशा अपने मन में रख लेना चाहता हूं ।

●

अकालपुरुष गांधी

लेखक

•

जैनेन्द्रकुमार

•

सम्पादक

•

धर्मवीर

प्रकाशक

पूर्वोदय प्रकाशन दिल्ली